Arya Samaj Foundation Chennai and

ALOCHNA HINDI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

P R.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
1079572

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ प्रकाशित
REFRENCE BOOK

COMPILED

~~८७६~~

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

डाक प्रमाणीकरण १९८४-१९८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[सम्पादक मंडल]
डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश
डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

COMPILED
CHECKED 1973
Initial

अं. २८

११ आलोचना

079572

R
८४
दि ३८७अ
अं. ११.३
079572

...र और उसका परिवेश — सम्पादकीय
...यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य — इलाचन्द्र जोशी
...मीमांसा : नई दिशाएँ — प्रभाकर माचवे
... की नई मर्यादा — डॉ० धर्मवीर भारती
वेद में गीति-काव्य का उद्गम — बलदेव उपाध्याय
वीरगाथा का विरोध क्यों ? — चन्द्रबली पाण्डे
सन्त-सम्प्रदायों की राजनीतिक परिणति — तिवारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

राजकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक ३ पूर्णाङ्क ११ अप्रैल, १९५४

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ३)

अनुक्रमणी

▲सम्पादकीय

—साहित्यकार और उसका परिवेश। १

▲निबन्ध

—विश्व-उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य : इलाचन्द्र जोशी --- ६

—मराठी रस-मीमांसा : नई दिशाएँ : प्रभाकर माचवे --- २७

—साहित्य की नई मर्यादा : डॉ० धर्मवीर भारती --- ३५

—वेद में गीति-काव्य का उद्गम : बलदेव उपाध्याय --- ४८

▲अनुशीलन

—वीरगाथा का विरोध क्यों ? : चन्द्रबली पाण्डे --- ६३

—सन्त-सम्प्रदायों की राजनीतिक परिणति : रामचन्द्र तिवारी ६६

▲मूल्यांकन

—आधुनिक हिन्दी-काव्य का एक विशिष्ट आध्यात्मिक स्वर : डॉ० जगदीश गुप्त --- ७४

—माता भूमि, डॉ० भगवत शरण उपाध्याय --- ८४

—सार्थवाह : वासुदेव उपाध्याय ८६

—जिप्सी : गंगाप्रसाद पाण्डेय ९१

—दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास : मातावदल जायसवाल --- ९५

—साहित्य-शास्त्र की तुलनात्मक विवेचना और इतिहास : परशुराम चतुर्वेदी --- १००

—मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ : डॉ० शैलकुमारी --- १०३

—निराशावादी यथार्थ और कल की आशा : राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश १०५

—सन्त-काव्य का अध्ययन : डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित १०९

—शिक्षा, साहित्य और जीवन : मोतीसिंह --- ११२

—भूषण का जीवन-वृत्त और साहित्य : प्रभुदयाल मीतल --- ११४

—विश्वधर्म-दर्शन पर एक दृष्टि : डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र --- ११८

—हमारे साहित्य में हास्यरस : केशवचन्द्र वर्मा --- १२२

—कवि आरसी की काव्य-साधना : माया भटनागर --- १२३

▲परिचय --- १२५

▲प्राप्ति-स्वीकार --- १३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

... महाविद्यालय पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

पुस्तक संख्या R ... दि० २७ ...

सम्पादकीय

साहित्यकार और उसका परिवेश

सम्भवतः भविष्य के इतिहासकार कहेंगे कि हम ऐसे युग में पैदा हुए जब भारतवासी, एक रहस्यवादी आस्था, वेदना, और शायद विनाश-भय की मिली-जुली भावनाओं के साथ, अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अन्वेषण में लगे हुए थे। इसके पहले हमने इतिहास को केवल मुर्दों की कथा के रूप में पढ़ा था। कभी-कभी हमने असहाय अपने ऊपर इतिहास की प्रक्रिया का भी अनुभव किया था। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद, योरप और अमरीका के बढ़ते हुए तनाव के बीच हठात् हमने अनुभव किया कि इतिहास के कारवाँ की घण्टियाँ हमारे लिए भी बज रही हैं। इसका युग नहीं रह गया कि इतिहास हम पर अमल करे; समय की चकाचौंध करने वाली माँग थी कि हम इतिहास पर अमल करें। एक चुनौती, और सम्भवतः आत्मरक्षा की आवश्यकता ने हमें चौंका दिया कि केवल मुर्दों के लिए ही 'ऐतिहासिक' होना यथेष्ट नहीं है। इतिहास ने हमें आत्मसात् कर लिया। जिस वस्तु का हम स्पर्श करते थे, जिस हवा में हम साँस लेते थे, जिन पृष्ठों को हम पढ़ते-लिखते थे, जिन शब्दों को हम गढ़ते थे, सबमें एक ही प्रश्न व्याप्त हो गया—हमारा ऐतिहासिक व्यक्तित्व क्या है?

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय अर्धांश के आरम्भ होते ही हमारे विचारों से यह प्रश्न बड़े वेग से आ टकराया। यह नहीं कि यह प्रश्न नया था। घुमा-फिराकर हर युग अपने विचारकों और साहित्यकारों से यही प्रश्न पूछता है। परन्तु हर युग में उसका स्वरूप भिन्न होता है। साहित्यकार के लिए उस प्रश्न का रूप खोज निकालना और उसका उत्तर देना, यही सबसे बड़ा उत्तरदायित्व होता है। हो सकता है कि उसका सारा जीवन अनपूछे प्रश्न का ही उत्तर देने में समाप्त हो जाय—इस दशा में साहित्यकार के समकालीन उसे समझ ही नहीं पाते। कभी-कभी कोई महान् प्रतिभा ऐसी भी जन्म लेती है कि उसका उत्तर शताब्दियों तक सही और गूँजने वाला बना रहता है। ऐसा इतना कम होता है कि साधारणतः इसकी आशा करना या इसके लिए तैयारी करना व्यर्थ ही होता है। यह भी असम्भव नहीं है कि कोई साहित्यकार अपना सारा जीवन केवल इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्वेषण में बिता दे कि प्रश्न असल में क्या है और किस रूप में पूछा जा रहा है। शायद हम ऐसे ही युग से गुजर रहे हैं। एक ओर तो अप्रत्याशा और स्पष्टता के साथ तीखी अनिवार्यता है : युग के प्रश्न को वाणी देनी ही होगी। दूसरी ओर मन को पथरा देने वाला यह अनुभव, कि कभी भी हमारे लिए यह प्रश्न और उसका उत्तर, इतना घुमावदार, धुँधला और अनिश्चित नहीं था।

हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में छोटे साहित्यकारों की भारी भीड़, जो अपना मार्ग टटोलता हुई-सी दीखती है, इसी स्थिति का कारण और परिणाम दोनों ही है। प्रश्न का स्वरूप स्थिर करने में हम सफल होंगे या नहीं, या हमारा उत्तर सटीक होगा या नहीं, केवल इस कसौटी पर आज के साहित्यकार को कसना ग़लत होगा। क्योंकि समस्या सारे देश की है, और उसके कारण संसार-भर में व्याप्त है। हमारे समकालीन साहित्य की निर्णयात्मक कसौटी इस बात में है कि कितने साहस और ईमानदारी के साथ हमारे साहित्यकारों ने प्रश्न को पूछने की चेष्टा की है।

ईमानदारी और साहस—क्योंकि वस्तुतः हमारे साहित्यकारों में अभाव ईमानदारी का नहीं है। देखना यह है कि क्या हमारा साहस भी ईमानदारी के बराबर है? क्या हमारे लेखक, अपने को, अपनी शक्ति, अपनी ख्याति, सम्मान, सम्भवतः अपने विवेक को भी, हमारे चारों ओर घिरने वाले अन्धकार को भेदने के लिए दाँव पर लगाने को तैयार हैं, ताकि वे उस प्रश्न का स्वरूप देख सकें जिसका उत्तर हमें देना है? और उससे भी आगे, इसका पता लगा सकें कि कोई उत्तर दिया भी जा सकता है या नहीं? आज के लेखक ने अपने गहन उत्तरदायित्व को किस हद तक निभाया है, और कहाँ तक उसने हिम्मत हार दी है, इस पर निर्णय देने के पूर्व हमें उस परिवेश को भी देखना होगा जिसका पाश उसके चारों ओर है। साथ ही हमें समाज के उन अंगों को भी ध्यान में रखना होगा, जिनके ऊपर आज युग के नेतृत्व का भार है। युग के अभिशाप अथवा वरदान को लेखक सबके साथ मिलकर ही झेलता है, इसमें सन्देह नहीं।

योरप के लेखकों के सामने जो प्रश्न है, उसका स्वरूप बहुत तीखा और दर्दनाक है। दूसरे महायुद्ध के पहले, स्पेनिश गृह-युद्ध के समय ऐसा लगा कि सभी कठिनाइयों का अन्तिम हल निकल रहा है। वाम और दक्षिण, उग्र और उदार के बीच की सीमा-रेखा टूटती-सी मालूम पड़ी। उत्साह और आशा के प्रवाह में जीवन के मूल्यों में समन्वय होता-सा जान पड़ा। प्रश्न सीधा और सरल हो गया: जनतन्त्र बनाम तानाशाही। यह एक महान् अनुभव था किन्तु दूसरे महायुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि यह क्षणिक समन्वय इन्द्रजाल ही था। आज योरप के लेखक के सामने स्वतन्त्रता के प्रश्न से भी अधिक आदिम, अधिक गहरी और अधिक उलझी हुई समस्या है। एक भयंकर चेतावनी है : क्या मानव जियेगा—क्या वह जी भी सकेगा या नहीं? यह सत्य है कि योरप के लेखक के उस दर्द का अनुभव हमने नहीं किया है, क्योंकि जिस तरह उसके सपने एक-एक करके टूटे हैं, जिस तरह उसके एक-एक मूल्यों में विघटन हुआ है, वह हमारे लिए कल्पनातीत है। भारत का अधिकांश विचारशील वर्ग इस पक्ष में होगा कि योरप के लेखक की समस्या उसकी अपनी है। उसके हल करने का प्रथम उत्तरदायित्व भी उसीके ऊपर है। किन्तु यह भी सत्य है कि हम उसके निरपेक्ष अथवा असहाय दर्शक-मात्र भी नहीं रह सकते, जैसा कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले सम्भव था। योरप का दर्द हमारे सामूहिक अनुभव का कोष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। योरप ने उत्थान के काल में अपने वैभव का बँटवारा समूची मानवता के साथ नहीं किया था; पतन के काल में विनाश का बँटवारा समूची मानवता के साथ न करे, इसे देखने का खतरनाक उत्तरदायित्व हम पर आ पड़ा है। यह हमारी राष्ट्रीय भूमिका है। इसी सन्दर्भ में आज का ऐतिहासिक व्यक्तित्व निर्मित हो रहा है। क्या हमारे लेखक इस योग्य हैं, या उनके सामने इतना अवसर, इतनी सुविधा है कि वे इस उत्तरदायित्व का वहन कर सकें? क्या हमारे पास मानव-मूल्यों का कोष है, जिससे हम इस तिमिर को प्रकाशित कर सकें? क्या हम उन मूल्यों का निर्माण कर रहे हैं? और यदि इतना कुछ भी सम्भव नहीं, तो कम-से कम क्या हम उसके प्रति जागरूक हैं?

यह कहना कि हमारे साहित्यकारों ने युद्धोत्तर काल में ऐतिहासिक स्थिति के बराबर क्षमता का प्रदर्शन किया है, अतिशयोक्ति होगी; लेकिन यह बात जोर देकर कही जा सकती है, कि हमारे अधिकांश साहित्यकारों ने इतिहास के कारवाँ की घण्टियाँ सुनी हैं। निश्चय पूर्वक उन्होंने उसके स्वर को समझने का प्रयत्न किया है, लालसा, आवेग और छटपटाहट के साथ। वे शत-प्रतिशत सफल नहीं हो सके हैं, इसका कारण यह नहीं है कि वे आत्मनिष्ठ, पलायनवादी या दिग्भ्रमित हैं, बल्कि इसलिए कि प्रश्न असाधारण, और बहुत पेचीदा है। उनकी मुक्ति और घुटन, विद्रूप और उत्साह तीखापन और रोमांस के जिस विचित्र सम्मिश्रण को स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी-साहित्य की संज्ञा दी जाती है, वह स्वाद में पहले से बहुत भिन्न है, इतना निर्विवाद है। प्रायः जिस वस्तु पर बल कम दिया जाता है, वह यह है एक अपरिचित और अप्रत्याशित स्थिति में आज का साहित्यकार बराबर अपनी औसत प्रतिक्रिया का मार्ग खोज रहा है। उपलब्धियों और पराक्रमों से उसका मूल्यांकन करना जल्दबाजी होगी; देखने की बात यह है कि उसका प्रयास सच्चा है या नहीं। जैसा परिवेश हमारे चारों ओर है, उसमें साहित्यकार का अतिवादी हो जाना असम्भव नहीं। अब भी अधिकांश साहित्यकार अतिवादी नहीं हैं, यह इस बात का सबूत है कि मूलतः हमारा साहित्यिक मानस स्वस्थ और संयत है। विरोधाभास साहित्यकार के मानस में नहीं है, विरोधाभास हमारे उस भावनात्मक परिवेश में है, जिससे साहित्यकार को जूझना पड़ रहा है। इसका मूल हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में है। उचित होगा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हम अपनी राष्ट्रीय भूमिका के भावनात्मक परिणामों की ओर दृष्टिपात कर लें।

सम्भवतः यह कहना सच होगा कि १९४७ की आजादी हमारे लिए एक अप्रत्याशित आयात के रूप में आई। कम-से-कम इतनी कड़ी आजादी के साथ जो भावनात्मक समानुपात होना चाहिए था, वह न हो सका। आजादी के तुरन्त बाद ही तीव्र गति से जो घटनाएँ घटीं और जिनकी परिणति महात्मा गांधी की हत्या में हुई, उन्होंने भी न केवल भावनात्मक सामंजस्य को कुण्ठित किया बल्कि एक दर्दनाक ढंग से उसकी सम्भावना को भी थोड़ी देर के लिए अविचारणीय बना दिया। दो तीन वर्षों के बाद जब हम सोचने की स्थिति में हुए तो हमने देखा कि इस ऐतिहासिक संक्रमण में न हम विजेता हुए, न शहीद; न हम किसी के विरुद्ध तीखी घृणा कर सके और न किसी के सहयोग के लिए उत्कट धन्यवाद ही दे सके। यह नहीं कि इस आजादी में वे तत्त्व नहीं थे जो हमें आकर्षित करते। असल में भावनात्मक अनुभव की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई। हर क्रान्ति के साथ भावनाओं के एक बृहत् कोष का विस्फोट होता है जो पिछले सम्बन्धों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूटने के बाद नये सम्बन्धों के लिए घृणा, द्वेष, प्रेम, भय, आक्रोश, धैर्य, निष्ठा आदि को नई दिशाएँ, झटके के साथ नया आवेग, देता है। १९४७ की आज़ादी ने यह नहीं किया। संसार की यह सबसे अधिक पूर्वाग्रहहीन क्रान्ति थी।

किसी राष्ट्र के लिए पूर्वाग्रहहीन होना शायद सबसे खतरनाक स्थिति होती है। क्योंकि अक्सर इसकी परिणति अनास्था, अविश्वास और कुण्ठा के लांछनों में होती है। पहले के युगों में सम्भवतः इन भ्रान्त लांछनों के पीछे ईमानदारी होती थी। दुर्भाग्य से आज के युग में इनके पीछे बेईमानी की ही मात्रा अधिक है।

हमारे चारों ओर का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बहुत ही उलझा हुआ है। इतिहास ने हमें जिस भूमिका में काम करने को विवश किया है, यह किसी राष्ट्र के लिए ईर्ष्या की वस्तु नहीं हो सकती। इतना स्पष्ट है कि हमारा उद्भव एक विशिष्टता के साथ हुआ है। परम्परागत चौखटे में कसे जाने से हमारी पूर्वाग्रहहीनता ही हमें रोकती है: पूर्वाग्रहहीनता, अर्थात् द्वेषहीनता, जो आज की दुनिया में एक अकल्पनीय दोष बन गई है। इतिहास में पहली बार हमें वह मादक और गौरवपूर्ण अनुभव हो रहा है जब संसार की आँखें हमारी ओर लगी हुई हैं, आशापूर्ण, शायद उससे भी अधिक कुतूहलपूर्ण। हम यह सोचना पसन्द करेंगे कि इन आँखों में आशा ही है, कि पश्चिम ने सचमुच अपने से हार मानकर हमारा महत्त्व स्वीकार कर लिया है, लेकिन सबसे अद्भुत और वेदनापूर्ण अनुभव यह है कि आज भी इन उत्तेजित शक्तियों की सभ्यता में जिन मूल्यों का महत्त्व है, उनमें से एक भी हमारे पास नहीं है। न शक्ति है, न सैन्य है, न विश्व-विजय की आकांक्षा, न अर्थ और न शायद बौद्धिक चमक-दमक ही। कहाँ है वह हमारा ऐतिहासिक व्यक्तित्व जो धूमकेतु की भाँति हमारे इस उन्मादक अभियान की सार्थकता सिद्ध कर सके? यही वह प्रश्न है जो आज भारत के बुद्धिजीवी-वर्ग की सबसे बड़ी पहेली है। एक विचित्र विरोधाभास है: मृत्यु-पाश में गुथी हुई दो विस्फोटक शक्तियों के छोर पर खड़े होकर सीटी बजाने का अभूतपूर्व अनुभव है। हमारा आदर किया जाता है, लेकिन सत्कार की आँखों में तुच्छता की छाया नहीं छिपती। हमारी बात ध्यान से सुनी जाती है, परन्तु सलाह मानने के उद्देश्य से नहीं। हिन्दुस्तान की तूती बोल रही है, लेकिन दुनिया के नक्कार खाने में।

भावनात्मक रूप से हम इस वातावरण से दूर हैं। न तो हम उनकी आत्मघाती छटपटाहट की सार्थकता, या अनिवार्यता ही समझते हैं, और न वे हमारी पूर्वाग्रह हीनता की भाषा को ही; किन्तु भौतिक रूप से हम उसमें उलझे हुए हैं। यह सम्पर्क भी एक विचित्र विरोधाभास को जन्म देता है। हमारा देश नया, कमज़ोर और आकांक्षाओं से भरा हुआ है। इस 'ठण्डे युद्ध' में हमारे लिए तो दोनों ओर से खतरा है। इस 'ठण्डे युद्ध' की समाप्ति शायद तभी सम्भव है जब इन विरोधी शक्तियों में दुनिया के बँटवारे के लिए कोई समझौता हो जाय। और यदि हुआ तो हम इसे कैसे रोक सकेंगे कि हम भी उस 'बँटी हुई सम्पत्ति' में से एक न हो जायँ? दूसरी ओर यदि इन शक्तियों का विरोध-विग्रह बढ़ते-बढ़ते विस्फोट का रूप धारण करता है तो उसकी एक चिनगारी भी हमें जलाकर राख कर देने के लिए पर्याप्त होगी। यह हमारा भाग्य है कि इन शक्तियों में एक सन्तुलन है: लेकिन कितना खतरनाक और अनिश्चित! हम एक 'टाइम-बम' की छाया में रह रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह हमारी ऐतिहासिक स्थिति है, मुक्ति और घुटन, विद्रूप और उत्साह, तीखेपन और रोमांस से भरी हुई। इतिहास के साथ हमारा पहला यथार्थवादी सम्पर्क है। आज सारे राष्ट्र की भावना और स्पृहा का निर्माण इसी वातावरण में होता है। हमारे हर साहित्यकार की आकांक्षाओं में इसकी छाप पड़ती है, इसकी प्रतिक्रिया होती है।

आज से लगभग चार दशक पहले नये युग के उत्थान के साथ हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रश्न को अपने सबसे अनगढ़ रूप में मैथिलीशरण गुप्त ने पूछा था, लेकिन जिस आघात की यह प्रतिक्रिया थी, वह आघात वास्तविक था। 'भारत-भारती' का आरम्भ इसी प्रश्न से होता है :

हम कौन हैं, क्या हो गये थे,
और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर,
ये समस्याएँ सभी॥
यद्यपि हमें इतिहास अपना
प्राप्त पूरा है नहीं।
हम कौन थे इस ज्ञान को
फिर भी अधूरा है नहीं॥

'हमारा' 'इतिहास' के साथ यह पहला स्पर्श नसों में बिजली की तरह दौड़ गया। परन्तु युग का यह प्रथम प्रयास था। इसलिए इसमें आश्चर्य ही क्या कि प्रश्न भी अनगढ़ था और उसका उत्तर भी अनगढ़ ही। 'भारत-भारती' का 'हम' एक संकुचित हम है और उसका इतिहास भी 'ऐतिहासिक अतीत'-मात्र।

लेकिन जैसे ताल में कंकड़ पड़ने से वृत्तों का फैलना प्रारम्भ होता है जो किनारे पर पहुँचकर ही दम लेते हैं, उसी प्रकार इस 'हम' का विस्तार भी अनिवार्य था। छायावाद के आते-आते यह 'हम' फैलकर सारे राष्ट्र से एकात्म हो जाता है। सत्याग्रह युग (१९२०-४५) का साहित्यकार प्रश्न को कुछ और गहराई से पकड़ना चाहता है। वह कुछ गहन, गम्भीर प्रश्न पूछने का अभिलाषी है—क्योंकि उसका 'हम' विस्तृत है। लेकिन मूलतः साहित्यकार की वृत्ति एक उदार भावुकता पर ही आधारित रही, जो हमारे स्वतन्त्रता-संघर्ष की रचनात्मक देन थी। इसलिए गम्भीरता के बावजूद प्रश्न अब भी सरल ही था, और उत्तर देने में कठिनाई नहीं पड़ी। सारे राष्ट्र की भावनाओं का एक नया 'महत्तम-समापवर्तक' खोज निकालने के बाद ऐतिहासिक व्यक्तित्व का प्रश्न पूर्व बनाम पश्चिम अर्थात् आध्यात्मिक बनाम भौतिकता के रूप में पूछा जाने लगा। इस विरोधाभास को पकड़ने में सबसे बड़ी आसानी यह थी कि हमें अपने स्थान पर स्थायित्व तो प्राप्त हो ही जाता था, साथ ही सोचने की प्रखर पीड़ा सहने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। यह गुलामी और गुलाम बनाने वालों के प्रति एक उदात्त क्रोध का युग था। कितना आसान और सन्तोषप्रद था यह समझ लेना कि वह सब जो हमें गुलाम बनाये हुए है भौतिक है, अतः हेय है, और हम जो कि गुलाम हैं आध्यात्मिक हैं, अतः श्रेय हैं। इस धारणा से शक्ति मिलती थी, विश्वास मिलता था और और अपने को पहचानने और विशिष्टता स्थापित करने का आसान गुर हाथ में आ जाता था। सत्याग्रह-युग के उपन्यासकारों की सरल भावुकता, कवियों का उदात्तीकरण, समालोचकों की संस्कृति-निष्टा, सबमें इसी भावनात्मक परिवेश का रंग झलकता है।

इस युग का प्रश्न उतना अनगढ़ नहीं है। वह सुघरा और अधिक आकर्षक बन गया। और उत्तर भी उसी मात्रा में सुघरा और सीधा दिया गया। लेकिन यह बराबर लगता है जैसे 'शार्ट-कट' का प्रयोग किया जा रहा हो। प्रेमचन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। यह 'शार्ट-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कट' तभी तक उपादेय और प्रयोजनीय रहा जब तक आजादी की लड़ाई में हमें किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक व्यक्तित्व अपने ऊपर ओढ़ लेने की जल्दी थी। इससे मिला हुआ सन्तोष इस कारण नहीं था कि लबादा हमारे डील-डौल के अनुसार बिलकुल ठीक था। उसका गौरव कुछ उस खानदानी कोट की भाँति था जो बिगड़ी हालत में भी रईसों की मर्यादा-रक्षा का काम दे जाता है।

पुनर्जागरण-युग का 'हम' सीमित था। सत्याग्रह-युग में 'हम' समूचे राष्ट्र में फैल गया। लेकिन दुनिया के बीच एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में खड़े होते ही इस 'हम' का एक अत्यन्त त्रासद रूप हमारे सामने आया। धक्के के साथ हमारी कल्पना में एक व्यापक स्वप्न झलका : इस 'हम' का अर्थ सारी मानवता भी हो सकती है। इस आकस्मिक अनुभूति के साथ आज की मानवता की अपराध-भावना भी हमारी चेतना में कौंध गई। व्यापकता का स्वप्न जितना दिव्य था, उतना ही तीखा और क्लेशपूर्ण भी। हमारे नये सन्दर्भ ने पुराने स्वरूपों को अनावश्यक बना दिया। अपने भविष्य के प्रति एक उत्साह, धुँधला, अस्पष्ट-सा आभास तो मिला, लेकिन उससे अधिक कुछ नहीं। केवल आध्यात्मिकता बनाम भौतिकता, अथवा पूर्व बनाम पश्चिम का प्रश्न स्पष्टतः अधूरा, बासी और बंजर हो गया। वर्तमान उत्तेजक तो था, परन्तु भविष्य की दिशा निर्मित करने में अशक्य।

इसकी पहली प्रतिक्रिया भय और आतंक में हुई। पश्चिम का मृत्यु-पाश एक भयानक द्वन्द्व था, इसमें सन्देह नहीं। इस दृष्टि से देखने पर समकालीन साहित्यकारों के उस वर्ग की घबराहट और आकुलता स्वाभाविक ज्ञात होती है जिन्होंने हताश होकर हिम्मत हार दी और नारा लगाया, 'हमें दो में से एक गुटों में शामिल हो जाना चाहिए।' एक घबराहट की चीख थी जिन्हें उन विचारकों और शक्तियों से भी सहयोग मिला जिनका इस नारे से आर्थिक एवं राजनीतिक लाभ भी था। भावनात्मक रूप से इस नारे से वे सभी समस्याएँ दूर हो गई जिनमें सोचने की प्रखर पीड़ा की सम्भावना थी। नई भावभूमि में फिर उसी 'शार्ट-कट' का जादू खोजने का प्रयास था जो प्रेमचन्द और उनके समकालीन साहित्यकार कर चुके थे। इसीलिए इस नये वर्ग ने बड़े ज़ोर-शोर से सत्याग्रह-युग की परम्परा को अपनाने का अभिनय किया। परन्तु ध्यान इस बात का रखा कि 'परम्परा' के अन्तर्गत 'शार्ट-कट' का ही समावेश हो, उस युग की गहराई और चिन्तनशीलता का नहीं। प्रश्न को इस प्रकार झुठलाकर आत्मबोध की क्षणिक उत्तेजना तो हुई। परन्तु जितने शीघ्र इस हताश चीख का वितान छिन्न-भिन्न हुआ, उससे स्पष्ट हो गया कि हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व में अब 'शार्ट-कट' का युग नहीं रह गया।

लेकिन वह वर्ग बहुत छोटा-सा था। हमारे अधिकतर साहित्यकारों ने सचाई और विश्वास के साथ ही एक नया रास्ता निकालने का बोझिल उत्तरदायित्व झेलने का निश्चय किया। उन्होंने स्वीकार किया कि अब इस विराट् विवाद को स्थगित नहीं किया जा सकता। और यही उनका सबसे शक्तिशाली तथा आश्चर्यजनक गुण है जो उनके प्रति हमारे विश्वास को दृढ़ करता है। इसी गुण ने उनको इतनी प्रेरणा दी है कि वह तमाम लांछनों और आरोपों के बावजूद सीधी रीढ़ के साथ खड़े हो सकें। क्योंकि हमारे अभियान की सीमा नहीं है, चाहे हमारा पहला प्रयास विफल ही क्यों न हो।

इस भँवर का सामना हमारे उदार मानववादी साहित्यकारों ने सब-कुछ की स्वीकृति करके दिया। एक ओर भारत के परिवेश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव-प्रगति-सम्बन्धी आदर्श के प्रति आस्था, और दूसरी ओर उन्हीं मूल्यों का पश्चिम में विघटन। चूँकि दोनों में से किसी का अनुभव अयथार्थ और झूठा नहीं है, इसीलिए बड़ी गम्भीरता के साथ भारत का कवि असम्भव छोरों को भी मिलाने की बात कह जाता है :

"संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद, दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचार-धारा भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग के नामों से प्रादुर्भाव निर्माण, विकास और ह्रास के द्वन्द्व संचरणों पर विश्वास रखती है। अतः नवीन युग की भावना केवल कपोल-कल्पना नहीं है। पदार्थ और चेतना को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।"[1]

भारत के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की वह एक आतुर खोज है, जिसे आज के यूरोप में 'गोल घेरे के अन्दर चौकोर खूँटी गाड़ने' का असम्भव प्रयास कहकर उड़ा दिया जाता। फायरबाख ने भी कुछ ऐसा प्रयत्न किया था, और मार्क्स ने उसका निषेध किया।

मानववादी परम्परा की इस व्यापक युद्धोत्तर स्थिति के सबसे सटीक उदाहरण पन्त जी हैं। मानववादी अनिवार्य रूप से आस्थावान होता है, कभी-कभी कट्टर आस्थावान। यदि यह आस्थाशीलता कट्टर हुई तो जैसे-जैसे यथार्थ की चोट पड़ती है, वह रहस्यात्मक रूप धारण करती जाती है। ईसा मसीह की वापसी की आस्था की तरह, मानववादी का मन अखण्ड विश्वास के साथ कहता है कि कोई-न-कोई ऐसा करिश्मा होगा कि सब ठीक हो जायगा। पन्त जी के साथ यही हुआ है।

१. पन्त—'युगवाणी'

और इसी दृष्टि से वह इस परम्परा के सबसे बोलते हुए उदाहरण हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट क्षणों में इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, महादेवी आदि सभी यहीं पहुँचते हैं :

'ऐसे मरणोन्मुख जग को कहता मेरा मन
और कौन दे सकता नवजीवन आश्वासन
शान्ति, तृप्ति—निज अन्तर्जीवन के प्रवाह से
भारत के अतिरिक्त आज—जो शाश्वत अक्षर
अन्तर ऐश्वर्यों का ईश्वर है वसुधा पर :
कहता मेरा मन, भारत के ही मंगल में
भू मंगल, जन मंगल, देवों का मंगल है !'[1]

यह स्वर कभी-कभी इंगलैण्ड के विक्टोरियन आशावादियों की याद दिलाता है। लेकिन दोनों में कितना बड़ा फ़र्क है। विक्टोरियनों के लिए यह समृद्धि और तुष्टि की भावना का विलास था। आज के भारतीय कवि के लिए यह जीवन राग है जिसके भीतर कितनी करुणा, कितना दर्द गूँज रहा है।

इस 'गुडविल-मिशन' में कहीं कोई गड़बड़ी नहीं है, सिवा इसके कि यह मनमें उतरती नहीं। इस अभाव का अनुभव सबसे अधिक अन्तिम पीढ़ी के उन लेखकों और साहित्यकारों ने किया है जिनकी रचनाओं को किसी बेहतर नाम के अभाव में 'नई कविता' या 'नया साहित्य' कहकर पुकारा जाता है। इतिहास का सारा आघात सीधे उन्हींके सीनों पर आ पड़ा। सबसे बड़ा खतरा भी उन्हींका था, क्योंकि वे ही इस वात्याचक्र की उपज थे। किन्तु जो आश्चर्यजनक बात इन साहित्यकारों के प्रति विश्वास जगाती है वह यह है कि इस सबके बावजूद भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक अतिवादिता से अपनी रक्षा की है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके सामने समस्या बड़ी गहन है, परन्तु एक तर्क जो उनके पक्ष में सबसे प्रबल है वह यह कि उन्होंने ईमानदारी के साथ अपनी समूची

१. पन्त—कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म-शक्ति को दाँव पर लगाया है। वह आत्म-शक्ति स्वयं कितनी बड़ी है, इसका उत्तर-दायित्व सारे समाज पर है। किन्तु इतना सत्य है कि हमारी जनवादी आस्था, और साथ ही विश्व-मानव की पीड़ा इसके बीच न तो आज के साहित्यकार ने आँख मूँदने का प्रयास किया है और न सीधा सरल समन्वय निकालकर ही सन्तोष किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अक्सर आज के 'जीवन के दबाव की अभि-व्यंजना का मार्ग उसे नहीं दीखता।' लेकिन इसके लिए वह 'शार्ट-कट' का आकांक्षी भी नहीं बनना चाहता। बार-बार वह पूछता है :

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही ने
 पुकारा—
कौन सा पथ है ?[१]

'भारत-भारती' से 'नई कविता' तक एक बड़ा सफर है जिसमें न जाने कितनी मञ्जिलें पड़ी हैं। एक युग था जब मैथिलीशरण गुप्त के लिए यह प्रश्न काव्य की प्रथम पंक्ति थी। आज का कवि वहाँ अपनी कविता समाप्त करता है जहाँ पहले कवि ने आरम्भ किया था। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने हमारे इस अन्वेषण में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त की है परन्तु उस पर निषेध का आरोप भी नहीं किया जा सकता—क्योंकि वह सही प्रश्न पूछ रहा है।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, इस अन्धकार को भेदने के लिए साहस की आवश्यकता है, जो सम्भवतः सम्मान और विवेक को भी दाँव पर लगाने को तैयार हो। नये लेखक ने आरम्भ दृढ़ता के साथ किया है। क्या वह इतने ही साहस के साथ इस अन्वेषण को जारी रख सकेगा ? हमें निराश होने का कोई कारण नहीं दीखता। नये लेखक ने एक बार अतिवाद का सामना करने का परिचय दिया है, वह आगे भी उसी दृढ़ता के साथ बढ़ सकता है।

---

१. भारतभूषण अग्रवाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

इलाचन्द्र जोशी

विश्व-उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य

केवल उपन्यास के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि साहित्य के सभी क्षेत्रों में एक नये मोड़, एक मूलतः नये परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव आज संसार के सभी देशों के साहित्यकार और साहित्य-मर्मज्ञ कर रहे हैं। एक अस्पष्ट अनुभूति भीतर-ही-भीतर सभी साहित्य-सर्जकों को आंदोलित कर रही है कि साहित्य के विविध अंगों के जितने भी रूप आरम्भिक युग से लेकर आज तक प्रचलित हुए हैं वे आज की आर्थिक और राजनीतिक विषमता से छिन्न-भिन्न, अणु-विस्फोट से विघटित और विश्वव्यापी जीवन की विशृङ्खला से बिखरे हुए मानवीय जीवन की नव-विकासोन्मुख प्रवृत्तियों, वैयक्तिक तथा सामूहिक अवचेतना के भीतर-ही-भीतर फेनायित होने वाली, एक-दूसरे से उलझी हुई, जटिल और परस्पर-विरोधी आशाओं, आशंकाओं और आकांक्षाओं की यथार्थ अभिव्यंजना कर सकने में असमर्थ हैं। इसलिए साहित्य को एकदम नई दिशाओं की ओर मोड़ने तथा रूप, शैली और वस्तु से सम्बन्धित नये-नये प्रयोग करने के प्रयत्न आज हमें सर्वत्र दिखाई देते हैं।

पर जहाँ कहीं भी जो भी नये प्रयोग आज हम देखते हैं वे छिटपुट अथवा व्यक्तिगत प्रेरणाओं से परिचालित होने के कारण सामूहिक साहित्यिक जीवन को तनिक भी धक्का नहीं दे पाते, और इस प्रकार वस्तु-स्थिति जहाँ-की-तहाँ और जैसी-की-तैसी दिखाई देती है। नई और सर्वतोमुखी साहित्यिक क्रांति के लिए आज संसार में साधनों का तनिक भी अभाव नहीं है, परिस्थितियाँ भी अनुकूल हैं और युग की प्रसव-पीड़ा के लक्षण भी सुस्पष्ट हैं, पर स्फूर्ति का अभाव है। फिर भी इस बात से यह समझना भ्रामक होगा कि सामूहिक स्फूर्ति का यह अभाव लम्बे अरसे तक वैसा ही बना रहेगा। अणु-शक्ति के जो नये-नये रूप आज मानवीय चेतना को बाहर और भीतर दोनों ओर से हिला रहे हैं वे निश्चय ही, प्राकृतिक नियम के क्रम से, नये सर्जन की उस गुप्त स्फूर्ति को जल्दी ही आंदोलित किये बिना न रहेंगे। इसी सम्भावित परिवर्तन के अनुमानात्मक आधार पर विश्व-उपन्यास-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

उपन्यास-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में विचार करने को जब हम प्रवृत्त होते हैं तब स्वभावतः उसके आज तक के क्रम-विकास की रूप-रेखा पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उपन्यास' शब्द हिन्दी में अपेक्षाकृत नया-प्रचलित शब्द है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इस शब्द का आयात बंगाल से हुआ। पर इस बंगला शब्द का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'नावेल' भी बहुत पुराना नहीं है। 'नावेल' का अर्थ ही नया है, और इटालियन 'नोवेला' से यह लिया गया है। इटली में पन्द्रहवीं शताब्दी में तब तक प्रचलित कहानियों की शैली और स्वरूप से भिन्न, नये ढंग की छोटी या बड़ी कहानियों को लोग 'नोवेला' कहने लगे थे। बोकाचियो की सुप्रसिद्ध रचना 'देकामेरों' की कहानियों को 'नोवेला' ही कहा जाता था। उसके बाद इटली, फ्रांस, स्पेन तथा दूसरे यूरोपियन देशों में छोटी तथा बड़ी कहानियों की नई-नई शैलियाँ उद्भावित होती चली गई, और इस चिर-परिवर्तित नवीनता के कारण 'नोवेला' नामकरण सार्थक हो गया। प्रत्येक युग की प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के साथ-साथ उपन्यास के रूप भी बदलते चले गए।

आधुनिक युग में हम 'नावेल', 'रोमाँ' या 'उपन्यास' को जिस अर्थ में लेते हैं उस अर्थ में उसका सुस्पष्ट आविर्भाव पहले-पहल फ्रांस में हुआ। मादाम द लाफायेन ने जब पन्द्रहवीं शती में 'क्लेव की राजकुमारी' नामक उपन्यास लिखा तब उसके सामने बचकाने ढंग की भावनाओं से प्रेरित जिन छिटपुट उपन्यासों के दृष्टांत वर्तमान थे वे या तो काम-जनित प्रेम की शारीरिक अथवा छिछली मानसिक अनुभूतियों में सम्बन्ध रखते थे, या 'उन्नत और निःस्वार्थ प्रेम' के कृत्रिम और अस्वाभाविक आदर्श पर मर मिटने वाले 'वीर नायकों' की परिपूर्ण आत्म-समर्पणशीलता तथा आत्म-बलिदान के उदाहरणों से भरे रहते थे, या इस प्रकार की संग-स्पर्श-वर्जित, निस्पृह, 'वीरजनोचित' प्रेमाराधना के प्रति व्यंग करने वाले कथानकों से युक्त होते थे। सर्वांतीज की विश्व-विख्यात रचना 'डान क्विजोट' अन्तिम कोटि के उपन्यासों का एक दृष्टांत है।

पर 'क्लेव की राजकुमारी' में हम प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास-साहित्य की परम्परा में पहली बार एक नया स्वर पाते हैं, एक नई जमीन कटती हुई देखते हैं। उसमें प्रेम को न तो हलके ढंग के भोगात्मक रूप में लिया गया है न 'वीर नायकों' द्वारा सुन्दरी नारी की कृत्रिम आदर्शात्मक पूजा के रूप में। उसमें हम सहज मानवीय रागात्मक संवेदना का स्वाभाविक चित्रण पाते हैं। उसमें एक ऐसे समाज की पृष्ठ-भूमि में प्रेम के त्रिकोणात्मक रूप का चित्रण किया गया है जो उन्नत नैतिक आदर्शों की परम्परा के कारण दमित प्रवृत्तियों का अन्तर्निहित 'रिजर्वायर' बना हुआ है। समाज-निषिद्ध प्रेम के कारण उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व की बारीकियों का जो चित्रण हम परवर्ती उपन्यासों में (टाल्सटाय से लेकर शरत्चन्द्र तक) पाते हैं उसका पूर्वाभास 'क्लेव की राजकुमारी' में हमें मिलने लगता है। शरत् के उपन्यासों की-सी एक सहृदय संवेदनाशील नायिका अपने पति के प्रति सच्चे आदर और आन्तरिक प्रेम की भावना रखते हुए भी एक दूसरे व्यक्ति के प्रति गहन और मार्मिक प्रेम के आकर्षण का अनुभव करने लगती है। उसके सुकुमार हृदय में द्वन्द्व का कीड़ा घुसता है। उसका वह नया प्रेम-पात्र भी उसे उसी तीव्रता से चाहता है और उसके लिए अपना जीवन अर्पित करने तक को तैयार है, तथापि नायिका सहज शालीनतावश उससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार नहीं होती। इधर उसका पति, जो उसे हृदय से चाहता है, अन्तर्द्वन्द्व से, किसी कारण से परिचित होकर आत्महत्या कर लेता है। पति की आत्महत्या से नायिका के आत्म-पीड़न और पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती। वह यद्यपि प्रेमपात्र के आग्रह के अनुसार उससे सामाजिक दृष्टि से भी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाती है, तथापि वह ऐसा नहीं करती; क्योंकि उसका मृत पति उसकी घोर आत्मिक ग्लानि का कारण बनकर उसके और उसके प्रेमपात्र के बीच खड़ा हो जाता है। इसी द्वन्द्व में घुलती हुई अन्त में वह स्वयं भी मर जाती है।

प्रेम-पीड़ित व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के द्वन्द्व का सूक्ष्म भावात्मक और मार्मिक चित्रण उक्त उपन्यास में किया गया है। उसके बाद रूसो का युग आता है। रूसो ने प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास की त्रिकोणात्मक भूमि को यद्यपि नहीं बदला, तथापि उसे एक नये—रोमांटिक तथा दार्शनिक—वातावरण में लाकर खड़ा कर दिया। लाफायेत के जमाने तक 'शिवेलूरस' प्रेम के महत्त्व पर अधिक जोर दिया जाता था, हालाँकि रोमांटिक वेदना का पुट उसमें दिया जाने लगा था। पर रूसो ने मानवीय अन्तःप्रकृति में उत्पन्न होने वाले प्रेम की उदात्त भावना का तादात्म्य प्रकृति-प्रेम के साथ स्थापित करके रागात्मक प्रेम को एक बहुत ऊँचे भावात्मक स्तर तक पहुँचा दिया। साथ ही एक और बड़ी बात उसने की। उसने प्रेम के त्रिकोणात्मक द्वन्द्व को एक उदार दार्शनिक प्रवृत्ति के विकास द्वारा मिटाने का सुझाव उपस्थित किया। अपने 'ला नूवेल एलोइज' नामक उपन्यास में उसने प्रेमी, प्रेमिका और प्रेमिका के पति इन तीनों को बड़े द्वन्द्वों के बाद अन्त में एक उदार और प्रगतिशील भावना से पूर्ण पारिवारिक स्नेह-सूत्र में बाँध दिया है। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार की 'दार्शनिकता' बड़ी आसानी से हास्यास्पद स्थिति में बदल सकती है, पर रूसो ने बड़ी चतुराई से उसका निर्वाह किया है।

रूसो के बाद औपन्यासिक प्रगति का बीड़ा गेटे ने उठाया। गेटे के प्रथम उपन्यास 'वेर्टेर' के तीव्र भावावेग में हम रूसो की ही रूमानी प्रवृत्ति का परिचय पाते हैं, यद्यपि 'वेर्टेर' के नायक की आत्मघाती प्रवृत्ति में रूसो की द्वन्द्वातीत 'दार्शनिकता' का नितांत अभाव है। पर बाद वाले उपन्यासों में गेटे रूसो के प्रभाव से एकदम मुक्त होकर औपन्यासिक विकास की एक नई ही संभावना को सामने लाया। उदाहरण के लिए, 'विलहेल्म माइस्टर' नामक उपन्यास को ही लीजिए, जो दो अलग-अलग भागों में बँटा है। इस उपन्यास में गेटे ने मध्यवित्त परिवार के एक साधारणतः खुशहाल नायक को लेकर उसे एक ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि पर खड़ा किया है जहाँ वह सचेत और बौद्धिक रूप से, तटस्थ दृष्टि से व्यक्ति और समाज के बीच के सांस्कृतिक समझौते के सूत्रों को खोजता हुआ विकास की एक निश्चित दिशा की ओर आगे बढ़ता चला जाता है। यह आश्चर्य ही है कि अपनी इस रचना में गेटे ने शैली और विषय दोनों दृष्टियों से उपन्यास-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में जो एक बिलकुल ही नई दिशा सुझाई, उसके भीतर बहुत सी नई-नई संभावनाएँ निहित होने पर भी किसी परवर्ती उपन्यासकार का ध्यान उस ओर नहीं गया। मेरा तो यह निश्चित विश्वास है कि भविष्य का कोई बड़ा उपन्यासकार 'विलहेल्म माइस्टर' की उपेक्षित शैली और विषय-वस्तु को अणु-युग के नये ढाँचे में ढालकर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और युग-विवर्तनकारी चीज साहित्य-जगत् को दे सकेगा।

गेटे के बाद विश्व-उपन्यास की धारा फिर एक बार जर्मनी से फ्रांस की ओर मुड़ गई, यद्यपि उसकी एक शाखा ब्रिटेन में जाकर स्काट के ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में प्रवाहित हुई। स्काट ने युवावस्था में गेटे की दो-एक रचनाओं का अनुवाद अंग्रेजी में किया था, पर वह विशेष रूप से गेटे की ऐतिहासिक सूझ के एक विशेष सीमित पहलू से प्रभावित हुआ था। मानव के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास की जिस विराट पृष्ठभूमि को गेटे ने अपनाया था और उस जमीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर खड़े होकर मनुष्य-जाति की सर्वांगीण भावी प्रगति के अनेक नये-नये वैज्ञानिक, साहित्यिक और दार्शनिक तत्वों का आविष्कार करके उन्हें एक सूत्र में पिरोकर उनकी जिन विराट सम्भावनाओं की ओर संकेत किया था, उनके महत्त्व को ठीक से समझ पाना स्काट के लिए सम्भव न था।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि गेटे के बाद विश्व-उपन्यास की विकास-धारा फिर फ्रांस की ओर मुड़ गई। स्तांदाल ने, जो नेपोलियन के साथ रूस गया था और अनेक राजनीतिक क्रान्तियों में भाग ले चुका था, उपन्यास के क्षेत्र में एक नया ही स्वर मुखरित किया। उसने अपने युग के पतनोन्मुख बूर्जुआ समाज का चित्रण एक बहुत बड़े कलाकार की चुभती हुई शैली में, बड़े ही सजीव रूप में किया। व्यक्ति और समाज के बीच के द्वन्द्व को उसने एक चतुर चितेरे की तरह जीवित चित्रों के रूप में उतारकर रख दिया। समाज के लौह चाप के नीचे दबे हुए, बूर्जुआ समाज की नींव की ईंट बने हुए, दलित वर्ग के पात्रों को उसने युग की सामूहिक उपेक्षा और उदासीनता के बीच में उभारकर रखा। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उसने फ्रांसीसी उपन्यास-साहित्य की प्रेम-सम्बन्धी परम्परा से नाता तोड़ लिया था। उस पर रूसो के समाज-संगठन-सम्बन्धी विचार, साहित्यिक सिद्धान्त और कलात्मक प्रतिभा तीनों का सम्मिलित प्रभाव पड़ा था। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम की प्रचंड आवेगपूर्ण परिस्थितियों के चित्रण में उसे बड़ा रस मिलता था, पर उस प्रेम को किसी प्रगतिशील सामाजिक आदर्श के सूत्र में बाँधने में वह असफल रहा।

स्तांदाल के बाद बालज़ाक का आविर्भाव हुआ। उपन्यास के क्षेत्र में बालज़ाक की व्यापक प्रतिभा आज भी आश्चर्यजनक लगती है। अपने सम्पूर्ण युग की विविध रूपात्मक गलनशील प्रवृत्तियों जैसा सजीव और कलापूर्ण चित्रण उसने किया वैसा न उसके पहले किसी ने किया था न उसके बाद ही कोई दूसरा फ्रांसीसी लेखक कभी कर सका। उसने समाज के किसी भी पहलू, किसी भी वर्ग और किसी भी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा। उसकी चित्रकारिणी कलात्मिका प्रतिभा के साथ उसकी विश्लेषात्मिका बुद्धि का पूरा सहयोग रहता था, इसलिए वह स्वयं कभी रूसो या स्तांदाल की तरह भावुकता के बहाव में नहीं बहता था, बल्कि एक स्वतन्त्र चेता और द्रष्टा की तरह अपने युग के मानवीय पतन, भ्रष्टाचार और प्रेम के क्षेत्र में भी संकीर्ण नीचतापूर्ण स्वार्थमयी प्रवृत्तियों के संघर्ष से सम्बन्धित चित्र उपयुक्त रंगों के साथ उपस्थित करता चला जाता था। अपने एकाध प्रारम्भिक उपन्यास को छोड़कर उसने प्रेम की झूठी रूमानी महत्ता का राग कभी नहीं मिलाया।

पर बूर्जुआ प्रेम की तथाकथित उदात्त भावना की झुठाई की पोल जिस रूप में फ्लोबेर ने अपने 'मादाम बोवारी' नामक विश्लेषणात्मक उपन्यास में खोली, उस रूप में दूसरा कोई फ्रांसीसी कलाकार न खोल सका। उसने एक नई टेकनीक और नई तथा मँजी हुई शैली के प्रयोग से, तटस्थ दृष्टि से, अपने युग के 'पेती बूर्जुआ' समाज के स्वप्नों और हीन आकांक्षाओं की निरर्थकता, दो पाटों के बीच में दबे हुए उनके कुण्ठित वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की असफलता का सफल चित्रण करके उपन्यास-साहित्य को एक नई दिशा की ओर मोड़ा।

उसके पहले तथा बाद में, विक्टर ह्यूगो ने भी उपन्यास-कला के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग किये थे। 'पेरिस का कुबड़ा' तथा 'अभागे' इन दोनों उपन्यासों में उसने समाज के निम्नतम स्तर के दलित तथा उपेक्षित पात्रों के जीवन के केवल दयनीय पहलू को ही चित्रित नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, बल्कि उनके भीतर निहित मानवीय मर्यादा तथा आत्म-गौरव की प्रवृत्तियों को भी व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि में उभारकर रखा; और इस प्रकार उपन्यास-साहित्य की सामूहिक प्रगति में उसने एक बहुत बड़ा कदम उठाया। यह दूसरी बात है कि दूसरे फ्रांसीसी उपन्यासकारों—विशेषकर बालज़ाक और फ्लोबेर—की-सी बड़ी बारीकी से कटी-छटी और मंजी शैली उसके उपन्यासों में हम नहीं पाते। शैलीकार की दृष्टि से वह कविता के क्षेत्र में जितना बड़ा उस्ताद है उतना उपन्यास के क्षेत्र में नहीं।

ज़ोला ने केवल प्रयोग के लिए एक नया प्रयोग किया। उसने अपने उपन्यासों में जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य की गहन रहस्यमयी अंतर्प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा, विश्लेषण और मूल्यांकन करना आरम्भ कर दिया और एक विशिष्ट दल के संगठित प्रचार द्वारा एक नये (नेचुरेलिस्ट) स्कूल की स्थापना की, जो एक 'स्टंट' के सिवा और कुछ नहीं था। यह ठीक है कि अपनी कुछ रचनाओं द्वारा उसने अपने युग के पहले ही से गलित और मृतप्राय बूर्जुआ समाज पर एक ठोकर और मारी, पर अस्त-व्यस्त और जटिल सामाजिक जीवन की मूलगत समस्याओं के हल में उनमें कुछ विशेष दिशा-निर्देशन या सुझाव की आशा नहीं की जा सकती थी।

बालज़ाक आदि फ्रांसीसी उपन्यासकारों की कला का प्रभाव रूसी साहित्यकारों पर विशेष रूप से पड़ा, पर वह प्रभाव केवल ऊपरी सतह की प्रेरणा देने तक ही सीमित रहा। रूसी ज़मीन पर फ्रांसीसी कला के बीज पड़ने पर उनमें एक विचित्र, अदृश्यपूर्व और कल्पनातीत रासायनिक परिवर्तन देखने में आया और उनका विकास भी एकदम नये ही रूपों में, बड़ी ही तीव्र गति से होने लगा। रूस उस युग में सभी दृष्टियों से यूरोप के सबसे पिछड़े हुए देशों में गिना जाता था। ज़ारयुगीन तानाशाही के लौह-चक्र के नीचे वहाँ का केवल जन-जीवन ही बुरी तरह कुचला हुआ नहीं था, वरन् सांस्कृतिक जीवन की धारा भी रेगिस्तानी नदी की तरह एकदम सूखी और सिमटी हुई थी। पर उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के आरम्भ से वहाँ सहसा उपन्यास-साहित्य का क्षेत्र इस तरह लहलहा उठा कि देखकर दुनिया चकित रह गई। टूर्गेनिव, टाल्सटाय और डास्टाएव्सकी ने औपन्यासिक कला के ऐसे-ऐसे आश्चर्यजनक और एक-से-एक बढ़कर सुन्दर नमूने पेश किये कि अनुवादों को पढ़कर उनके फ्रांसीसी गुरुओं के छक्के छूट गए।

रूसी कलाकारों ने यथार्थवादी कला की एक बिलकुल ही नई शैली को अपनाया। उनका यथार्थ फ्रांसीसी आचार्यों के यथार्थ की अपेक्षा कई गुना अधिक सजीव, जीवन के अधिक निकट, अधिक सहज, अधिक स्पर्श्य, अधिक अनुभवगम्य और अधिक मार्मिक था। जीवन के अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण और निर्दोष यथातथ्य वर्णन के साथ ही जटिल-से-जटिल परिस्थितियों तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनःस्थितियों का निर्मम विश्लेषण करने की दक्षता का जैसा परिचय उन्होंने दिया वह भी उस युग के लिए अपूर्व और कल्पनातीत था। साथ ही उनकी प्रतिभा की यह निराली विशेषता संसार के साहित्यकारों और साहित्यालोचकों के आगे आई कि घोर यथार्थवादी शैली को अपनाने पर भी रूसी उपन्यासकर उसी यथार्थवाद के भीतर से, अन्तः-सलिला नदी की तरह, अत्यन्त स्वस्थ और आशाप्रद आदर्शवाद का उद्भावन और प्रस्फुटन कर सकने में पूर्ण सफल सिद्ध हुए। फ्रांसीसी यथार्थवाद और प्राकृतवाद ने उस युग के 'सच्चे' (अर्थात् नंगे) जीवन के पर्दा-दर-पर्दा उद्घाटन तक ही अपनी कला की उपादेयता की सीमा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं निर्धारित कर दी थी। जीवन के उस कोरे यथार्थ चित्रण और विश्लेषण का प्रभाव पाठकों पर स्वभावतः इस रूप में पड़ता था कि जीवन के प्रति घोर निराशा, विराग और घृणा की भावना मन के अणु-अणु में भर जाती थी। मानव-जीवन की कहीं तनिक सार्थकता भी है, इसका रंचमात्र आभास उन महान् आचार्यों की रचनाओं से प्राप्त नहीं होता था। रूसी कलाकारों के उपन्यासों में यथार्थ का चित्रण फ्रांसीसी आचार्यों की अपेक्षा अधिक सचाई से और अधिक विशद तथा विस्तृत रूप से होने के कारण स्वभावतः नैराश्य और विषाद का वातावरण भी अधिक घनीभूत हो उठा, तथापि विषाद और नैराश्य की उस प्रकट धारा के नीचे उन्नत आदर्शों के प्रति विश्वास और जीवन के प्रति महान् आशा की अन्तर्धारा निरन्तर, अविराम गति से प्रवाहित दिखाई देती थी। वह विशेषता इतनी बड़ी और इतनी साफ़ थी कि वह विश्व-उपन्यास-साहित्य की धारा को सहस्रों योजन आगे बढ़ा ले गई।

रूसी उपन्यासकारों ने जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप से लेकर विराट्-से-विराट् रूप तक की छानबीन और परख करने, उसे समझने और समझाने में कोई प्रयत्न उठा न रखा—विशेष-कर टाल्सटाय और डास्टाएव्सकी ने। इन दो उपन्यासकारों ने अपनी किसी भी रचना में जीवन के चाहे किसी भी पहलू को लिया हो, अपने युग के वैयक्तिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक जीवन के किसी भी रूप को अपनाया हो, उसे उन्होंने युग-युग के सामूहिक मानव-जीवन की विराट् पृष्ठभूमि पर उतारकर रखा। यथार्थ जीवन के प्रतिदिन के संघर्ष और द्वन्द्व द्वारा उत्पन्न होने वाली पंकिलता, तुच्छता और विकृतियों की तनिक भी उपेक्षा न करके उन्होंने सामूहिक मानवीय चेतना के उत्तरोतर विकास-सम्बन्धी अपने सहज विश्वास को कभी न डिगने दिया। मनुष्य जाति की शत-शत दुर्बलताओं, भूलों और भ्रांतियों के बावजूद महामानव-मन के भीतर निहित आत्मिक शक्तियों की अन्तिम विजय पर उनकी आस्था बराबर बनी रही। उनका यह आधारभूत विश्वास अपने आप में इतना महान् था कि दैनिन्दन जीवन की हीनता-जनित निराशा के अन्धकार में भटकते रहने वाले फ्रांसीसी कलाकारों को उन्होंने बहुत पीछे छोड़ दिया। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो हम स्वभावतः इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उन्नीसवीं शती का रूसी उपन्यास-साहित्य आज भी प्रत्येक दृष्टि से नया है और आगे भी नया ही रहेगा। उसके भीतर निहित असंख्य सम्भावनाओं की पूरी छानबीन विश्व-साहित्यालोचक अभी तक कहाँ कर पाए हैं!

इसके बाद गोर्की का युग आता है, जो अपने से पहले के रूसी उपन्यास की विकास-धारा को अलग छोड़कर एकदम नया मोड़ लेता है और एक मूलतः नई दिशा को अपनाता है। रूसी बूर्जुआ समाज की गलनशीलता गोर्की के समय तक अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। उस वर्ग के भीतर जीवन के विकास-तत्वों का कोई चिह्न उसे अवशिष्ट न दिखाई दिया। इसलिए वह एक ऐसे वर्ग के जीवन के चित्रण की ओर प्रवृत्त हुआ जिसका आत्मिक शक्ति-स्रोत अभी तक अक्षुण्ण था, जिसके भीतर जीवन के सहज, स्वाभाविक और स्वस्थ विकास की अनंत सम्भावनाएँ अभी तक निहित थीं—भले ही उस जीवन का तात्कालिक रूप एकदम अनगढ़ और प्रकट में जड़ रहा हो। गोर्की के साहित्य का अधिक महत्त्वपूर्ण अंश—विशेषकर कहानियों और उपन्यासों से सम्बन्धित अंश—सन् १७ की क्रान्ति के पहले ही लिखा जा चुका था। क्रान्ति के पहले ही वह, कुछ तो अपने प्रत्यक्ष अनुभव और कुछ अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा, इस महत्त्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य को हृदयंगम कर चुका था कि आने वाले युग में केवल वही वर्ग सामूहिक मानव-जीवन के भावी विकास के सूत्र को अपने हाथों में लेकर उसे आगे बढ़ा सकेगा जिसकी आत्मिक शक्ति के 'रिज़र्वायर' का तनिक भी क्षय अभी तक न हुआ हो, जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से निरन्तर कुचले और दबाए जाने पर भी किसी रहस्यमयी भीतरी शक्ति की प्रेरणा द्वारा फिर-फिर जी उठने की कला से परिचित हो। इसी बात को ध्यान में रखकर उसने मज़दूरों, किसानों, गृहहीन आवारों तथा इसी कोटि के दूसरे लोगों को अपने उपन्यासों तथा कहानियों के चरित्रों के रूप में चुना। उसके मत से बूर्जुआ समाज ने अपने सांस्कृतिक विकास को चरम संभाव्य स्थिति तक पहुँचाकर अपने सारे शक्ति-स्रोतों को समाप्त कर दिया था, पर प्रोलेटेरियन वर्ग के भीतर उसने एक ताज़गी पाई, जिसके एक कण का भी व्यय या अपव्यय तब तक नहीं हुआ था। उस वर्ग के लोगों का जीवन उस समय यद्यपि प्रकट में अत्यन्त दयनीय और दुर्दशाग्रस्त था, तथापि उनके भीतर आत्म-मर्यादा और आत्म-गौरव की भावनाएँ, अपने निजी दृष्टिकोण के अनुसार, पूरी मात्रा में वर्तमान थीं, और साथ ही अपने वर्ग के युग-युगव्यापी दलन की अन्तर्निहित जलन भी। गोर्की ने उनके जीवन और चरित्र का चित्रण करते हुए, उनके चेतना के विविध स्तरों की खुदाई करने के बाद, उक्त दोनों प्रकार की भावनाओं को एक अत्यन्त कुशल कलाकार की तरह उभारकर रख दिया। गोर्की जानता था कि उक्त वर्ग के भीतर निहित आदिम शक्ति में विस्फोट उत्पन्न होने से चेतना का ज्वालामुखी ही फट पड़ेगा और आग की प्रचण्ड लपटों के साथ-साथ पिघलती हुई धातुओं का द्रव भी बाहर फूट निकलेगा। पर साथ ही वह यह भी जानता था कि बूर्जुआ समाज की गलनशीलता के कारण मानव-समाज के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास का जो पथ रुद्ध हो चुका है, वह केवल इसी विस्फोट की ज्वालामयी लीला द्वारा ही फिर से उन्मुक्त हो सकेगा। गोर्की को हम लोग गलत न समझें। उसने बराबर मनुष्य की आत्मिक शक्तियों के अनवरत विकास पर जोर दिया है और मानवीय चेतना के निरन्तर उन्नयन और परिष्करण पर उसकी परिपूर्ण आस्था रही है। सामूहिक मानव के सम-श्रम द्वारा भौतिक जीवन की समुन्नति पर पूरा जोर देते हुए भी उसने यह कभी नहीं माना कि मानवीय प्रगति की सीमा भी उसी भौतिक उन्नति की सीमा के साथ समाप्त हो जायगी। मनुष्य को निश्चित रूप से उस सीमा को पार करके उसके परे भी जाना है, अपने इस अडिग विश्वास की घोषणा वह मरते दम तक करता रहा। उसके प्रकट में नीरस लगने वाले उपन्यासों के आकर्षक जादू का रहस्य उसकी यही आस्था है।

रूस में जब बूर्जुआ समाज की स्वाभाविक समाप्ति के साथ-साथ एक नई सांस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप एक नई औपन्यासिक कला का विकास होने लगा था, तब पश्चिमी यूरोप का बूर्जुआ समाज अपनी पुरानी संस्कृति के चरम ह्रास का अनुभव करता हुआ मरता-क्या-न-करता की-सी हताश स्थिति में कुछ ऐसे नये पथों को खोज रहा था जिनके माध्यम से वह अपने सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अवरोध को कम-से-कम कुछ समय के लिए हटा सके। ऐसे अवसर पर उनके त्राण के लिए फ्रायड का आविर्भाव हुआ। पाश्चात्य उपन्यासकारों ने उसे एक नया शक्ति-स्रोत मानकर, अपने को एकदम डूबने से बचाने के लिए फौरन उसका आश्रय पकड़ लिया। डी० एच० लारेन्स और जेम्स जोइस के उपन्यास इसी हताशवाद-घन-फ्रायडवाद की देन हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो लोग मनुष्य की उन 'पशु-प्रवृत्तियों' को घृणय और निन्दनीय मानते हैं जो जीवन के मूल शक्ति-स्रोत से सम्बद्ध हैं, मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ। मनुष्य ने सभ्यता के विकास-क्रम में मानव-प्रकृति की बहुत सी आदिम प्रवृत्तियों को दूषित ठहराकर उन्हें दबाया है, जिसके फलस्वरूप आज के कृत्रिम जीवन के भीतर बहुत सी विकृतियां आ घुसी हैं। इस सत्य की उपलब्धि केवल फ्रायड द्वारा ही पहली बार नहीं हुई है बल्कि बहुत पहले से ज्ञानी लोग उससे परिचित रहे हैं। फ्रायड की विशेषता केवल इतनी रही है कि उसने इस सत्य की उपलब्धि की प्रक्रिया को निश्चित वैज्ञानिक रूप दे दिया। पर यदि इस (मनो-) विज्ञान की यह प्रतिक्रिया होने लगे कि मनुष्य पशु-स्थिति से अपने विकास की प्राकृतिक प्रगति का ही विरोध करने लगे और सभ्यता की कृत्रिमता से उकताकर फिर से पशु-प्रवृत्तियों की ओर लौटकर, उनमें पूर्णतया मग्न होने में ही जीवन की मूल सर्जना-शक्तियों की सार्थकता मान बैठे तो इसका अर्थ यह है कि मनुष्य ने बंदर से मानवत्व की ओर कदम बढ़ाकर बड़ी भूल की और फिर से उसे बंदरत्व को अपनाकर उसी में सदा के लिए गर्क हो जाना चाहिए और उससे आगे के विकास की सहज, प्रकृतिगत चेतना को ही सृष्टि के अतल में डुबो देना चाहिए। डी० एच० लारेन्स के साहित्यिक जीवन की छटपटाहट में हमें इसी घनघोर प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। केवल डी० एच० लारेन्स ही नहीं, फ्रायड से प्रभावित सारे पाश्चात्य साहित्य में हम, थोड़ी-सी शैलीगत रद्दोबदल के साथ, इसी प्रवृत्ति की प्रधानता का परिचय पाते हैं।

जेम्स जोइस ने परम्परा से भिन्न एक बिलकुल ही नई शैली और नये रूप-विधान में कमाल दिखाया, इसमें संदेह नहीं। फ्रायडीय अवचेतना के कई रुद्ध द्वारों में से एक ऐसे द्वार की कुंजी उसके कलाकार को प्राप्त हो गई जहाँ कैद की गई यौन-चेतना सहसा मुक्त होकर असंख्य शाब्दिक अनुभूतियों के रूप में अविराम गति से प्रलय-प्रवाह की तरह बाहर निकल आई। कला की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा चमत्कार था। 'युलिसीज' केवल इसी चमत्कार के स्मारक स्तम्भ के रूप में आज अवशिष्ट रह गया है, इससे अधिक कोई सार्थकता उसकी न तब थी न आज है। मनुष्य की निरंतर विकासशील मूल सर्जनात्मिका चेतना की प्रगति में उसकी चमत्कारी कला ने तनिक भी हाथ नहीं बटाया, बल्कि उलटी दिशा की ओर लौटकर विसर्जनात्मक प्रक्रिया को अपनाया।

जैसा कि मैं पहले संकेत कर चुका हूँ, मनुष्य की सामूहिक अवचेतना के भीतर (फ्रायडियन अवचेतना जिसके एक कण के बराबर भी नहीं है) सृष्टि के प्रचण्ड आदिम शक्ति-स्रोत वर्तमान हैं—ठीक उसी प्रकार जिस तरह पृथ्वी के गर्भ में कोयला, लोहा, धातुगत तेल, कोबाल्ट, यूरेनियम, थोरियम आदि कच्चे माल के ऐसे भंडार भरे पड़े हैं जो आज के वैज्ञानिक युग की भौतिक उन्नति के मूल शक्ति-स्रोत हैं। पर उन भूगर्भगत धातु-पदार्थों की कोई उपयोगिता अपने-आप में नहीं है—क्योंकि कोयला अपने-आप में केवल कोयला ही है, उससे अधिक और कुछ नहीं—भले ही उसके भीतर विकास की अनन्त संभाव्य शक्ति निहित हो। आवश्यकता इस बात की है कि उस जड़ और निष्क्रिय कोयले के भीतर छिपी शक्ति को वैज्ञानिक उपायों से निष्कासित किया जाय और फिर उस निष्कासित शक्ति को जीवन के उपयोगी क्षेत्रों में लगाया जाय। पर आज विज्ञान चूँकि उस निष्कासित शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है, इसलिए उससे कुढ़कर, दुखित होकर यदि यह आवाज उठाई जाय कि कोयले से प्राप्त शक्ति को फिर से कोयले में ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणत कर दिया जाय, तो कोयले की-सी जड़ता को प्राप्त होने की यह घोर पलायनवादी आकांक्षा जीवन से उकताकर मृत्यु को वरण करने की विकृत प्रवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ न मानी जायगी। मानवीय विकास की सहज प्रगति में सहायता देने वाली प्रवृत्ति यह होनी चाहिए कि कोयले से या दूसरे तत्वों से निष्कासित शक्ति किन उपायों से सामूहिक मानवीय कल्याण के लिये सदुपयोग में लाई जा सकती है इस बात की खोज निरन्तर की जाय।

डी० एच० लारेन्स, जेम्स जोइस तथा उनके साथी अथवा अनुयायी कलाकारों ने सभ्य समाज में यौन-प्रवृत्ति के दमन के फलस्वरूप जो सामूहिक विकृतियाँ बूर्जुआ समाज में देखीं, उनसे वे इस तरह बौखला उठे कि यौन (सेक्स-) चेतना के आदिम (पशु-) रूप में अपने अहम् को पूर्णतया, नग्न रूप में, निमज्जित करके उसी के साथ एकाकार बन जाने का पाठ पढ़ाने लगे।

कहना न होगा कि इस प्रकार की आत्मघाती, विकास-विद्रोही और प्रगति-विरोधी प्रवृत्ति जिन उपन्यासों द्वारा प्रतिपादित की गई हो, वे चाहे शैली और रूप की दृष्टि से कैसे ही चमत्कारपूर्ण क्यों न हों, अपने आगे वाले युग के अग्रदूत और प्रकाश-दर्शक वे कभी नहीं बन सकते। और न उपन्यास-साहित्य की उस अन्तर्धारा के साथ उनका किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध हो सकता है जो मानवीय जीवन के असंख्य विरोधाभासों के साथ-साथ चलती हुई भी उन विरोधाभासों को सृष्टि के मूल में निहित विराट् सामंजस्य के सूत्र में पिरोती हुई, मानवीय चेतना के व्यापक समुन्नयन में सहायक सिद्ध होती है। लारेन्स और जोइस (विशेषकर जोइस) की चमत्कारपूर्ण असफलता से हम लोगों को यह सबक मिलना चाहिए कि शैली और रूप के कलात्मक चमत्कार-मात्र से कोई रचना महान् नहीं मानी जा सकती। विश्व-साहित्य में बहुतसी ऐसी रचनाएँ भी हैं जो रूप और शैली की दृष्टि से बहुत साधारण हैं, तथापि कई पीढ़ियों के साहित्यालोचकों के कसौटी में वे खरी और महान् उतरी हैं। इसका कारण केवल यही रहा है कि वे रचनाएँ मानवीय आत्मिक शक्तियों के निरन्तर विकास और मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर उन्नयन के पथों को उन्मुक्त करने की ओर प्रयत्नशील रही हैं, न कि उन्हें रुद्ध करने की ओर। प्राचीन उदाहरण न देकर मैं इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत नये ही उदाहरण पेश करूँगा। डी० एच० लारेन्स और जेम्स जोइस को आज न कोई साहित्यालोचक ही पूछता है न साहित्यकार। गोर्की यद्यपि शैली और रूप-सम्बन्धी सूक्ष्म सौंदर्य-कला में उक्त दो उपन्यासकारों की तुलना में कहीं नहीं ठहरता, फिर भी उनकी रचनाओं का महत्त्व आज भी एक स्वर से माना जाता है और आगे भी कई युगों तक माना जायगा। मूल कारण इसका केवल एक ही है, और वह यह कि गोर्की ने बाहरी और भीतरी जीवन की विकृत-से-विकृत परिस्थितियों के बीच में भी ऐतिहासिक सत्य द्वारा परीक्षित उस महान् आस्था को एक क्षण के लिए नहीं भुलाया जो मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के अटूट, सहज और प्राकृतिक उत्कर्षण की ओर हर हालत में टकटकी लगाए रहती है। विकृत बूर्जुआ नैतिकता से ध्वस्त मानवता को प्रकट में महाविनाश की ओर उन्मुख देखकर भी गोर्की का यह विश्वास एक क्षण के लिए भी कभी नहीं डिगा कि सामूहिक नैतिक और आत्मिक पतन और भ्रष्टाचरिता के बावजूद मानवता नई-नई जमीनों को पकड़ती हुई अन्त में निश्चित रूप से विजयिनी सिद्ध होगी। अतएव कला की कोरी चोंचलेबाजी से (फिर चाहे उसका स्वर कैसा ही गम्भीर क्यों न हो) आस्था का एक कण भी महान् है।

बूर्जुआ समाज अपनी सांस्कृतिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचने के बाद गत्यवरोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण केवल परम्परा-प्राप्त विश्वासों पर जीने लगा और यह भूल गया कि महासत्य निरन्तर विकासशील है और बीच में अधिक समय तक रुद्ध हो जाने से वह असत्य से आच्छादित हो जाता है। चूँकि विकास को बाँधा नहीं जा सकता, इसलिए वह महासत्य असत्य को रुद्ध जलाशय में छोड़कर स्वयं नई-नई जमीनों को काटता हुआ नई-नई दिशाओं से प्रवाहित होकर आगे को बढ़ता चला जाता है।

स्वयं अपने ही द्वारा सृष्ट अवरोधों से घिरे बूर्जुआ समाज के रूढ़िगत विश्वासों को —और फलतः उसके अहम् को—सबसे पहला धक्का गैलीलियो के इस आविष्कार से लगा कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी चलती है। उन्हें जब यह बताया गया कि पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र नहीं, बल्कि महाविश्व की तुलना में एक परमाणु के समान है, तब उसे मानवीय जगत् की लघुता (अर्थात् आत्म-लघुता) का बोध हुआ। उसके बाद दूसरा भयंकर धक्का उसके रुद्ध (अतएव झूठे) अहम् को तब लगा जब डार्विन ने अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य सृष्टिकर्ता की एक विशिष्ट और सबसे अलग रचना नहीं है, बल्कि क्रमिक विकास से उसने इस स्थिति को प्राप्त किया है, और उसके पूर्व पितामह बंदर थे! अपने बंदरत्व की अनुभूति से उसका आत्म-विश्वास बहुत बड़ी हद तक ढह गया। उसके बाद आया कार्ल मार्क्स, जिसने मानवीय प्रगति के अन्तर्निहित ऐतिहासिक सत्य की छान-बीन द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि बूर्जुआ समाज भौतिक प्रगति की दृष्टि से भी स्वयं अपने ही जालों में इस कदर जकड़ गया है कि अपने गले में अपने-आप फांसी का फन्दा डालने के सिवा उसके लिए दूसरा कोई चारा नहीं रह गया है।

सबसे अन्तिम और सबसे घातक धक्का बूर्जुआ समाज को दिया फ्रायड ने। फ्रायड ने मनोविश्लेषण को एक सुगठित, वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करके यह सिद्ध किया कि आज का सभ्य मनुष्य जिन धार्मिक और नैतिक विश्वासों पर जी रहा है वे दमित यौन-वृत्ति के ही विभिन्न प्रतीक हैं और मनुष्य की आज तक की सारी प्रगति दमित सेक्स-जनित विकृतियों का ही इतिहास है। उसने बताया कि मनुष्य की सभ्यता केवल एक बाहरी नकाब है और झीने नकाब के भीतर मनुष्य एकदम नंगा है। हालाँकि यह कोई नई बात नहीं थी और इस तथ्य से आतंकित होने का भी कोई कारण नहीं था, तथापि बूर्जुआ समाज अपनी सांस्कृतिक और कलात्मक नकाब का पर्दाफाश होते देखकर बुरी तरह घबरा उठा। इसकी प्रतिक्रिया उस पर यह हुई कि वह जैसे प्रायश्चित-स्वरूप अपने को वर्बर अवस्था से भी अधिक नंगा करने पर तुल गया। लारेन्स और जोइस तथा उनके साथ के और बाद के 'अतियथार्थवादी' कलाकारों के निरर्थक नंगेपन का यही कारण है। यह नंगापन जीवन के नये और स्वस्थ संघटन के लिए नहीं, बल्कि मानवत्व के विघटन के उद्देश्य से था। जैसे ये बौखलाये हुए कलाकार फ्रायड से कहना चाहते हों : **"तुम सभ्य मनुष्य को सेक्स-सम्बन्धी विकृतियों द्वारा चालित पुतला मानते हो तो लो, हम सेक्स को उसके स्वस्थ और आदिम रूप में अपनाने के लिए बंदर बन जाते हैं।"** आज के विकृत युग के इन मनचले कलाकारों ने यह नहीं सोचा कि मनुष्य का जीव-विकास के क्रम में एक सीढ़ी पीछे से जाना सुस्पष्ट घोर पतन और ह्रास है और मनुष्य के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास के मूल्य पर सेक्स-सम्बन्धी 'स्वस्थ' पाशविक प्रवृत्ति को मोल लेने के बराबर मूर्खता दूसरी कोई नहीं हो सकती। ऑल्डस हक्सले ने अपने एक उपन्यास में आज के मनुष्य की इस बंदराभिमुखी सेक्स-प्रवृत्ति पर चुभता हुआ व्यंग कसा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ्रायड ने यह तो दिखा दिया कि मनुष्य की धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक सभ्यता उसकी दमित यौन-वृत्ति की विकृति का परिणाम है, पर यह वह नहीं बता सका कि मनुष्य के स्वस्थ और सहज विकास के लिए स्वाभाविक और उपयुक्त पथ क्या है। और इस प्रकार एक बहुत बड़ा क्रूर परिहास वह मानवता के साथ कर गया। बड़े-बड़े कलाकारों तक को वह परोक्ष रूप से यह सुझाव दे गया कि जब मानवीय उन्नति के साथ सेक्स-सम्बन्धी विकृतियाँ एकरूप में जुड़ी हुई हैं तब चेतना को पशुत्व की ओर लौटाना ही श्रेयस्कर है और पशुओं की 'स्वस्थ' सेक्स-चेतना से कला के आदिम तत्वों को बटोर-बटोरकर 'अति-यथार्थवादी' उपकरणों को जुटाते रहने में ही कला की भलाई है। फ्रायड के सिद्धांतों की कोई खास गलती नहीं है, पर उन सिद्धान्तों की सीमा अत्यन्त संकीर्ण होने के कारण अपने मानवीय विकास के सारे इतिहास को एक गलत परिप्रेक्षण (पर्सपेक्टिव) पर लाकर खड़ा कर दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद 'अति-यथार्थवादी' कला ने मानवत्व के गौरव को ठुकराकर पशु-स्तर की चेतना को साधन नहीं बल्कि साध्य मानकर, अवचेतना-लोक के विस्फोटक तत्त्वों से भरे अगाध भण्डार को अनियन्त्रित और खुली छूट देकर कलाकारों के एक बहुत बड़े वर्ग पर अपना जो व्यापक प्रभाव फैलाया वह बूर्जुआ संस्कृति के ह्रास और विघटन का एक और ज्वलंत निदर्शन था।

आज सार्त्र उसी बूर्जुआ कला और संस्कृति की अन्त्येष्टि क्रिया कर रहा है। गैलीलिओ के समय से लेकर आज तक जो चार बड़े धक्के बूर्जुआ कला और संस्कृति पर पड़े उन चारों का अलग-अलग तथा सम्मिलित, दोनों प्रकार का प्रभाव सार्त्र पर पड़ा। जीवन के प्रति घृणा और 'उबकाई' उसके उपन्यासों और नाटकों की प्रेरणा के मूल उपकरण हैं। उसके लिए जीवन एक 'निरर्थक वासना' है। सार्त्र की यह प्रतिक्रिया 'टिपिकल' बूर्जुआ प्रतिक्रिया है जिसकी उत्पत्ति बूर्जुआ समाज के इस ज्ञान और अनुभूति से हुई है कि उसके बड़े-बड़े सांस्कृतिक स्वप्न स्वयं उसी के निरंतर आत्म-संकोचन के कारण नष्ट हो चुके हैं। इसलिए जो थोड़े-बहुत स्वप्न शेष रह गए हैं उन्हें भी निर्ममता से ध्वस्त करते चले जाने में उसे एक अप्राकृतिक, दानवीय उल्लास का अनुभव होता है। वैयक्तिक अहम् को सामूहिक अहम् से छिन्न करके समस्त, सामाजिक सम्बन्धों से अपने को अलग खींचते-खींचते आज के बूर्जुआ लेखक या कवि ने अपने को इस तरह शून्य के बीच में लाकर खड़ा कर दिया है कि अनन्त विश्व के बीच में वह अपने को निपट-अकेला पाता है। **"राग-रंग से भरे जगत् में कवि का हृदय अकेला"** यह आज के युग के बूर्जुआ कलाकार की 'टिपिकल' अनुभूति है। वह खीझकर अपने चरम एकाकीपन की इस अनुभूति को 'गर्व' के रूप में समाज के आगे पेश करना चाहता है और उसी खीझ के कारण सार्त्र के माध्यम से यह दांभिक घोषणा करता है कि वैयक्तिक मानव सृष्टि के सारे नियमों से एकदम मुक्त और 'स्वतन्त्र' है। उसकी यह 'स्वतन्त्रता' एक आत्मघाती पागल की अपने गले में स्वयं फाँसी लगाने की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह बात वह भूल जाता है। सार्त्र के सबसे प्रथम उपन्यास 'उबकाई' ('ला नोसे') से ही उसकी इस 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता', समाज और संसार के प्रति उत्कट उपेक्षा—बल्कि विकट घृणा—और तज्जनित उबकाई का परिचय सुस्पष्ट और असंदिग्ध रूप में मिल जाता है। उसके किसी भी उपन्यास या नाटक के पात्र जीवन के बीच के प्राणी नहीं हैं। वे या तो जीवन-नदी के उस पार के अप्राकृतिक अनुभूति-सम्पन्न प्राणी हैं या इस पार निरर्थक शून्य में उसासें भरने वाली छायारहित छायात्माएँ। अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस जड़, निश्चेष्ट और भयावह, उदासीनता, अवसाद, खीझ और असंतोष की स्थिति से उबरने की आकांक्षा का एक कण भी उन अमानवीय लोक के जीवों में नहीं पाया जाता। उसी स्थिति में रहकर जीवित लोक के प्रति कटु घृणा की फुफकार द्वारा विषैले फेन को निरंतर उगलते रहने में ही उन्हें विकृत आत्म-तृप्ति प्राप्त होती है।

और, युग की यह विशेषता देखिए कि आज सारे संसार का बूर्जुआ लेखक-समाज (जिसमें कलात्मक योग्यता की कोई कमी आज भी नहीं है) सार्त्रीक छाया-लोक की अमानवीय विकृतियों से अत्यन्त प्रभावित है, केवल किसी मरणोन्मुख, हताश और जीवन विद्वेषी युग और समाज में ही इस तरह की अस्वाभाविक प्रवृत्तियाँ पाई जा सकती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बूर्जुआ-कला अपने ह्रास की चरम स्थिति को पहुँच चुकी है और उपन्यास के क्षेत्र में उसके पतन का अन्तिम रूप दिखाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से लेकर आज तक जो भी नये मोड़ इस दिशा में लिये गए हैं वे उत्तरोत्तर मानवीय जीवन के सहज और स्वस्थ विकास के अधिकाधिक विरोधी और विद्वेषी सिद्ध होते चले गए हैं। कला की शैली में ज्यों-ज्यों नयापन और निखार आता चला गया है, त्यों-त्यों, उसी परिमाण में, भावनाओं में संकोचन और विकृति आती चली गई है। आधुनिक उपन्यास के प्रारम्भिक युग में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेमाकर्षण की जिस अनुभूति को लगन, त्याग और तपस्या की भी भावना के रंग से रंगने की प्रवृत्ति पाई जाती थी वह धीरे-धीरे क्रम से जीव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अस्त्रों की चीर-फाड़ का शिकार बनती हुई इस कदर कुरूप और कुत्सित स्थिति को प्राप्त होती गई कि अन्त में घृणा, ग्लानि और उबकाई के रूप में परिणत होकर रह गई। जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान का इसमें कोई दोष न था। दोष था कुछ विशेष प्राकृतिक कारणों से (जिन पर प्रकाश डालना यहाँ अप्रासंगिक होगा) बूर्जुआ 'आर्गेनिज़्म' के भीतर उत्पन्न हुई रासायनिक विघटन-क्रिया का, जिस पर नये जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान की प्रतिक्रिया अत्यन्त घातक सिद्ध होने लगी। इससे भी दुखद बात यह थी कि समाज-विज्ञान का कोई प्रभाव उस पर न पड़ा, जो जीव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को संतुलित आधार देकर उसे स्वस्थ और उपयोगी दिशाओं की ओर नियोजित कर सकता था। फल यह देखने में आया कि जिस तरह प्रेम-सम्बन्धी धारणा विच्छिन्न होकर, बिखरकर, अपनी उन्नत और विकसित स्थिति से कटते-छटते पशुत्व की स्थिति से भी अधिक विशृङ्खल और विकृत हो गई, उसी तरह जीवन के सभी क्षेत्रों के सहज-सुन्दर विकास की धाराएँ रुद्ध होकर, ग़लत दिशाओं की ओर लौटती चली गईं।

बूर्जुआ संस्कृति के इस स्वाभाविक गलन, ह्रास और अवरोध के बाद यह आशा की जानी चाहिए थी कि प्रोलेटेरियन उपन्यास-साहित्य लम्बे डग भरता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जायगा। पर इस बात के कोई लक्षण अभी तक नहीं दिखाई दिए। गोर्की की परम्परा प्राप्त होने पर भी प्रोलेटेरियन उपन्यास जो विकसित न हो पाया इससे साहित्यान्वेषकों को आश्चर्य होना यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि यदि तनिक गहराई से और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो आश्चर्य के लिए कोई कारण नहीं रह जायगा। गोर्की ने उपन्यास-रचना में जो विशिष्टता प्राप्त की उसके कई कारण थे। उसके आगे एक तो कला-सम्बन्धी शैली और रूप-गठन की वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बूर्जुआ परम्परा थी जो सदियों के परिश्रम और प्रयोग द्वारा अपने सुन्दर ढंग से विकसित होकर निखर चुकी थी; दूसरे, उन बूर्जुआ रूसी लेखकों की परिपक्वता-प्राप्त रचनाओं की विरासत उसे प्राप्त थी जो केवल शैली और कला की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि जीवन के व्यापार और गहरी नाप-जोख के साथ ही उसकी स्वस्थ विकास-धारा को अपनाये हुए थे; तीसरे, उसकी प्रधान रचनाएँ उस युग में लिखी गई थीं जब प्रोलेटेरियन संस्कृति का निर्माण नहीं हुआ था, बल्कि वह स्वयं कच्चे धातु-पदार्थों से उस संस्कृति के निर्माण के प्रयत्नों में लगा हुआ था।

जब रूस में प्रोलेटेरियन राज कायम हुआ तब परिस्थितियाँ ही एकदम बदल गईं। नव निर्मित संस्कृति द्वारा प्रभावित और परिचालित प्रोलेटेरियन समाज के आगे कई परिस्थितियों के अनुकूल नये साहित्य के निर्माण के लिए कोई परम्परा ही नहीं थी। गोर्की का साहित्य इस सम्बन्ध में उनकी सहायता नहीं कर सकता था; इसका कारण यह था कि गोर्की की साहित्य-रचना के प्रधान युग में प्रोलेटेरियन राज कायम नहीं हुआ था, बल्कि उसके लिए संघर्ष चल रहा था। ये दो परिस्थितियाँ एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। इसलिए प्रोलेटेरियन संस्कृति के युग के साहित्यकारों को नये साहित्य के निर्माण के लिए स्वयं ही कच्चा माल खोजना या उपजाना पड़ा है और स्वयं ही, बिना किसी पिछले नमूने के, उस माल द्वारा नये-नये नमूने तैयार करने पड़े हैं। इन कारणों से प्रोलेटेरियन साहित्य और संस्कृति में अभी तक परिपक्वता नहीं आ पाई है। इसका एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि सन १७ या उसके कुछ बाद से लेकर आज तक रूस को अपनी आत्म-रक्षा के लिए कई बार सामूहिक विरोधी शक्तियों से लड़ना पड़ा है या लड़ने की तैयारियाँ करनी पड़ी हैं, जिसके फलस्वरूप अपनी नई संस्कृति के सहज विकास में एक-से-एक विकट विघ्न उसके आगे आते चले गए हैं। ऐसी हालत में केवल बचकाने ढंग का साहित्य ही वहाँ पनप सकता था, जो यद्यपि काफी स्वस्थ है और एक नये मोड़ की सूचना देता है, तथापि अभी तक परिपक्व और पुष्ट नहीं हो पाया है। उसके समुचित विकास और पुष्टि के लिए कम-से-कम पचास वर्ष की परिपूर्ण शान्ति और स्थिरता चाहिए।

079572

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि हम पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य से किसी नये विकास की, नई शक्ति और नई स्फूर्ति दे सकने वाले किसी नये मोड़ की आशा अभी काफी समय तक के लिए नहीं कर सकते। जहाँ तक साहित्य और कला-सम्बन्धी प्रश्नों का सम्बन्ध है, मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र तीनों की सीमाएँ हम देख चुके हैं। मार्क्स और फ्रायड ने अपने-अपने क्षेत्रों में बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है, और दो नये—यद्यपि मूलतः भिन्न—दृष्टि-कोणों से जीवन और जगत् को समझने, परखने और उनका नया निर्माण करने की प्रेरणाएँ हमें दी हैं। पर दोनों का प्रभाव साहित्य पर जिस रूप में पड़ा है उससे किसी भी पाश्चात्य देश में ऐसे महान् उपन्यास की सृष्टि नहीं हो पाई है जो आज के विचित्र विरोधाभासों, विषमताओं और सामूहिक विकृतियों से पूर्ण युग में भी मानवीय चेतना को टेढ़े-मेढ़े रास्तों से अलग हटाकर, बीच के सहज विकास-पथ की ओर नये सिरे से नियोजित करके, जीवन के प्रति एक नई और स्वस्थ आस्था प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सके।

इसके लिए हमें प्राच्य देशों—विशेषकर भारत—की ओर मुड़ना होगा। इस देश के सम्बन्ध में साधारणतः यह धारणा लोगों में पाई जाती है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका सांस्कृतिक दृष्टिकोण बराबर निराशावादी रहा है। पर विज्ञ जनों से यह बात पहले भी छिपी नहीं थी और आज भी नहीं है कि यह धारणा भ्रमात्मक है। यह ठीक है कि इस देश की भौगोलिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ प्रारम्भ से ही ऐसी रही हैं जिनके कारण युग-युग में यह निराशा की तूफ़ानी लहरों की बाढ़ में बहते-बहते बचा है : बड़ी-बड़ी आँधियों के बीच में उसे भटकना पड़ा है, फिर भी किसी रहस्यमयी अन्तरीण आस्था का प्रकाश उसे निरन्तर मूल जीवन के वास्तविक विकास का केन्द्र-पथ दिखाता चला गया है। महाभारत के ज़माने में ऐसी ही आँधी आई थी, जब न संस्कृति के प्रवर्तकों को और न जनता को ही कोई पथ सूझ पाता था। विविध क्षेत्रों के राजनीतिक उत्थान-पतन, सामाजिक वैषम्य, नैतिक विरोधाभास और सांस्कृतिक संकट की एक दूसरे से बुरी तरह उलझी हुई जटिल परिस्थितियों के बीच में कहीं कोई कूल-किनारा नहीं दिखाई देता था, किसी एक मुनि का भी वचन प्रमाण नहीं लगता था और 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्' मालूम होता था। ऐसे अवसर पर महाभारत का कवि आया। उसने एक महान् उपन्यासकार की तरह कुछ विशिष्ट चरित्रों की अवतारणा करके उनके माध्यम से अपने सारे संकटपूर्ण युग की विकट-से-विकटतर और जटिल-से-जटिलतर परिस्थितियों का विशद, यथार्थ और सूक्ष्म चित्रण पुंखानुपुंख विश्लेषण के साथ किया। इस प्रकार घनघोर निराशा के वातावरण की चरम नाटकीय स्थिति का प्रदर्शन करते हुए भी उसने अपने भीतर की सुदृढ़ आस्था के प्रकाश को एक पल के लिए भी नहीं बुझने दिया, सच्चे मानवीय धर्म की अन्तिम विजय के प्रति अपने अडिग विश्वास को एक क्षण के लिए भी नहीं ढहने दिया। भयंकर-से-भयंकर आँधियाँ घहराती चली आएँगी और विश्व को लीलने की धमकी देंगी, पर चिर-विकासशील और सर्वजयी मानवीय आत्मा के आगे उन्हें अन्त में झुकना ही पड़ेगा; विश्व-विध्वंसक शक्तियाँ प्रलय के-से उल्कापात और वज्रपात करेंगी, पर चिर-शान्ति की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील मानवात्मा अन्ततः उन विनाशशील शक्तियों का परिपूर्ण नियन्त्रण करके ही रहेगी—यह महासन्देश महभारतकार ने विश्व को दिया।

जब-जब सामूहिक निराशा से भरे संकटपूर्ण अवसर इस देश में आये तब-तब किसी-न-किसी महाकवि का अविर्भाव हुआ और उसके मुँह से महान् आस्था की वाणी हमने सुनी। जब शकों (अथवा गुप्तकाल में हूणों) का संगठित आक्रमण इस भूमि पर हुआ तब कालिदास का आविर्भाव हुआ और उस देशव्यापी घनघोर निराशा के वातावरण में जनता ने महापराक्रमी रघुवंशियों के विजय-अभियान की अपूर्व स्फूर्तिदायक गाथा सुनी। जब सोलहवीं शती के अस्त-व्यस्त वातावरण में जनता भूखों मर रही थी, निराशा और हीनता की भावना ने उसे "कहाँ जायँ का करी ?" की प्रश्नात्मक स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया था, जब जीवन की उपयोगिता और महामानव की उच्चाकांक्षाओं के सम्बन्ध में सारी आस्था जन-मन से विलीन होती चली जा रही थी, तब तुलसी के राम का अपूर्व बल सबको मिला। उसी प्रकार ब्रिटिश शासन के लौह-चाप के नीचे जब भारतीय जनता बुरी तरह कुचली जा रही थी और उसकी आत्म-लघुता की भावना चरम सीमा को पहुँच चुकी थी तब रवीन्द्रनाथ ने केवल अंतरीण आनन्द के उद्बोधन द्वारा ही नहीं वरन् "मा भैः" के प्रबुद्ध घोष से मानवीय आत्मा के अंतरीण गौरव का ऐसा महामन्त्र फूँका जिसने कई युगों तक के लिए जन-चेतना को एक नई स्फूर्ति का नया सम्बल प्रदान किया।

केवल कविताओं में ही नहीं, रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में भी हम उसी उद्बुद्ध चेतना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवीय आत्म-तत्वों के चिर-विकास के प्रति उसी निश्चित आस्था का स्वर गूँजता हुआ पाते हैं। जब यूरोपीय बूर्जुआ संस्कृति और बूर्जुआ कला रुग्ण शय्या पर पड़ी-पड़ी कराह रही थी और सारे पाश्चात्य साहित्य के एक-एक शब्द से निराशा, अनास्था और अविश्वास की चीखें निकल रही थीं तब दलित देश की घोर दयनीय परिस्थितियों के बीच में अपमानित और निर्यातित होता हुआ भी रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' महामानवत्व की महावाणी प्रचारित कर रहा था। रवीन्द्रनाथ ने 'गोरा' और 'घरे-बाइरे' में (जिसकी बहुविध प्रशंसा करने पर भी गोर्की को तृप्ति नहीं हुई थी) अंतर्जीवन और बाह्य जीवन के व्यापक सत्यों के रासायनिक सम्मिश्रण और समन्वय द्वारा विश्व-उपन्यास-साहित्य को निश्चित रूप से एक नया और महत्त्वपूर्ण मोड़ दिया था।

रवीन्द्रनाथ के बाद शरत्चन्द्र की बारी आई। जहाँ तक विशुद्ध औपन्यासिक कला और औपन्यासिक रस का प्रश्न है, शरत्चन्द्र ने रवीन्द्र-युग से प्रगति ही की, पर जब सर्वांगीण परिपूर्णता और व्यापकता का प्रश्न उठता है तब शरत्चन्द्र रवीन्द्रनाथ के आगे कहीं ठहर नहीं पाते। शरत्चन्द्र महज जीवन-रस के रसिक थे, जो उन्हें तत्कालीन बंग-समाज के पारिवारिक और सीमित सामाजिक दायरे के भीतर ही प्राप्त हो सकता था। उन्होंने उस पारिवारिक तथा सामाजिक सृष्टि द्वारा अपने युग के समाज में एक प्रगतिशील चेतना की लहर अवश्य दौड़ाई, पर उनकी प्रतिभा एक विशेष समाज के युग-सत्य तक ही सीमित होकर रह गई, उस विशेष युग और विशेष समाज के माध्यम से युगातीत और समाजातीत व्यापक सत्य की ओर वह उन्मुख न हो सकी। शरत् के 'देवदास' या 'श्रीकान्त' एक विशेष युग के विशेष समाज की उपज हैं, और उस विशेष युग और विशेष समाज की समाप्ति के बाद उनका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। पर रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' किसी एक विशेष युग और विशेष समाज की उपज नहीं है। उसका रक्त सोलहों आना आयरिश है और उसका पालन-पोषण पैदा होने के बाद से ही एक कट्टर भारतीय परिवार के बीच में होता है। वह छात्र-जीवन के कुछ बाद तक अपने को परिपूर्ण भारतीय समझता है, देश के धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में पूरा भाग लेता है और जेल जाता है। इन सब संघर्षों के बाद अंत में जब उसे किसी विशेष घटना के फलस्वरूप अकस्मात् यह पता चलता है कि वह भारतीय नहीं आयरिश है, तब उसके आगे बृहत्तर मानवीय सत्य उद्घाटित होने लगते हैं। इसलिए 'गोरा' किसी एक विशेष देश, जाति, समाज या युग के संकीर्ण दायरों के भीतर सीमित नहीं है। वह युग-युग की विषमताओं और विरोधाभासों के बीच में महासत्य की चेतना को निरन्तर आगे बढ़ाती रहने वाली चिर-प्रगतिशील मानवात्मा की चिर-विद्रोही शक्ति का प्रतीक है।

फिर भी शरत् के युग-सत्य के भीतर युगातीत सत्य के बीजों का एकदम अभाव था, ऐसा मैं नहीं मानता। उनके 'शेष प्रश्न' में हम वह बीज पाते हैं।

शरत्चन्द्र के बाद विश्व-उपन्यास-धारा की एक महत्त्वपूर्ण शाखा हिन्दी-जगत् की पुरानी और अपेक्षाकृत ऊसर भूमि को काटती हुई आई और एक काफी बड़े क्षेत्र को सींचने लगी। प्रेमचन्द उसी अपेक्षाकृत नई सिंचाई की उपज थे। प्रेमचन्द ने शरत्चन्द्र के पारिवारिक दायरे से हिन्दी-उपन्यास को मुक्त अवश्य किया और उसकी सामाजिक परिधि को भी काफी बढ़ाया, पर उनके उपन्यासों में न शरत्चन्द्र की कलात्मकता थी न रस-परिपाक; न शैली की वह स्वाभाविकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, न रूप-गठन का वह चमत्कार। फिर भी गाँवों के सरल जीवन के सहज चित्रण में उनकी विशेष कुशलता किसी भी हालत में उपेक्षणीय नहीं है और उसी ग्राम्य-जीवन की सहज अनुभूति से उत्पन्न नैतिकता के स्वाभाविक उभार से उन्होंने भारतीय बूर्जुआ समाज की कृत्रिम नैतिकता को जो धक्का दिया, वह भी एक बड़ा प्रगतिशील कदम था। पर इन सब विशेषताओं के बावजूद वह भी युग-सत्य से ऊपर न उठ पाए—उठते-उठते रह गए।

प्रेमचन्द के बाद के हिन्दी-उपन्यास के सम्बन्ध में कोई राय देना अभी खतरे से खाली नहीं है—विशेषकर मेरे लिए, जब कि मैं स्वयं प्रेमचन्दोत्तरयुगीन उपन्यासकार हूँ। यह आज के युग की एक विचित्र और ध्यान देने योग्य विशेषता है कि प्रेमचन्द के बाद वाले औपन्यासिक युग को आरम्भ हुए आज प्रायः सत्ताईस साल हो चुके, पर अभी तक उसका ठीक-ठीक क्या साधारण लेखा-जोखा भी हमारे आलोचकगण नहीं कर पाए। केवल कुछ घिसी-घिसाई, पिटी-पिटाई और बहु-भाषित उक्तियाँ बीच-बीच में किसी-न-किसी आलोचक द्वारा उनके सम्बन्ध में दुहरा दी जाती हैं। इस विशेष युग के उपन्यास-साहित्य को जो अभी तक यथार्थ परिप्रेक्षण में नहीं रखा जा सका है उसके कई कारण हैं। पुराने आलोचक उसके गम्भीर महत्त्व को समझने में निपट असमर्थ थे। उसकी जमीन ही उनके लिए एकदम नई थी। इतिवृत्तात्मक उपन्यास की परम्परा में पले हुए अपने बचकाने ढंग के आलोचनात्मक मानों द्वारा वे उस नई प्रवृत्ति की गहराई की माप-जोख कर ही नहीं सकते थे। अधिक-से-अधिक वे उसे **"पाश्चात्य धारा से प्रभावित गंदा और अश्लील साहित्य"** कहकर आत्म-संतोष कर लेते थे। उनके बाद जो नये आलोचक आये वे प्रेमचन्दोत्तर युग के उस उपन्यास-साहित्य की एकदम नई विशेषताओं का अध्ययन समाप्त भी न कर पाए थे कि द्वितीय महायुद्ध की परिस्थितियों ने उनका ध्यान पाश्चात्य साहित्य के कुछ नये-नये, छिटपुट (किन्तु स्थायी महत्त्व से एकदम रहित) प्रयोगों की ओर आकर्षित कर दिया। प्रेमचन्दोत्तर युग के हिन्दी उपन्यास गहरी और ठोस जमीन पर खड़े होने के साथ ही जीवन की ऐसी जटिलता को अपने भीतर समाहित किये हुए थे और उस जटिलता के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा जीवन के महाकव्यों के उद्घाटन के ऐसे महत्त्वपूर्ण महाप्रयास में संलग्न थे कि तनिक भी बहाना मिलने पर उनसे कतराकर निकल जाने में ही नये आलोचकों ने अपना त्राण देखा। क्योंकि उन उपन्यासों का मूल्यांकन और विवेचन घोर परिश्रम-साध्य था और उसके लिए आलोचना के प्राचीन सिद्धान्तों से लेकर नवीनतम मानों के गहरे अध्ययन की आवश्यकता के अतिरिक्त युग-युग के जीवन और साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि के गहन ज्ञान, वर्तमान युग के जटिल जीवन के समुचित विश्लेषण और भावी युग के जीवन के सम्यक् अनुमान की अपेक्षा थी। इसलिए स्वभावतः उससे कतराकर निकल जाने, उसे उपेक्षित ही छोड़ देने और युग-फैशन द्वारा विकसित नये-नये, सहज-साध्य, छिटपुट प्रयोगों के पर्यवेक्षण की ओर झुकने में ही उनका कल्याण था।

पर वह उनकी बड़ी भारी भूल थी। उक्त विशेष युग के उपन्यास-साहित्य को 'बाइपास' करके निकल जाने का प्रयत्न अन्ततः टेढ़ी खीर सिद्ध होकर रहेगी। सन् '५४ में मैं यह भविष्यवाणी कर रहा हूँ जो सन् '६४ में स्वतः सिद्ध हो जायगी। अभी कुछ समय के लिए उसकी उपेक्षा आसानी से की जा सकती है, क्योंकि अभी युग का ध्यान कई विभिन्न दिशाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
NOT TO BE ISSUED

की ओर केन्द्रित है। पर जल्दी ही वह समय आएगा जब युद्धकालीन या युद्धोत्तर अंग्रेजी, अमरीकी, इटालियन या फ्रांसीसी साहित्य के वैयक्तिक जीवन-सम्बन्धी छिटपुट प्रयोगों की लच्छेदार कला की सीमा तक पहुँच जाने पर हमारे नये आलोचकों के लिए आगे का रास्ता एकदम चट्टानी दीवार से रुद्ध हो जायगा। और तब उन्हें नई दिशा खोजने के लिए फिर लौट-कर हिन्दी के उसी उपन्यास-साहित्य की ओर आना होगा जिसे वे युग के भूठे चक्रों और फ़ैशनों की ओट में सहज उपेक्षणीय मानते थे। खतरे का पूरा अनुभव करते हुए भी मैं इतना कह देना चाहता हूँ कि प्रेमचन्दोत्तर-कालीन हिन्दी-उपन्यास विश्व-उपन्यास-साहित्य के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और युग-विवर्तक नये मोड़ की सूचना है।

इतना कह चुकने के बाद मैं उस प्रश्न पर विचार करने की स्थिति में आता हूँ जिसकी ओर मैंने प्रारम्भ ही में संकेत किया था—अर्थात् विश्व उपन्यास के भविष्य का सम्भावित रूप क्या होगा। चूँकि जितना कहा जा चुका है उसके भीतर भावी महत्त्वपूर्ण उपन्यास के सम्बन्ध में आनुमानिक संकेत काफी दिये जा चुके हैं, इसलिए अब उस प्रश्न का उत्तर बहुत कम शब्दों में आसानी से दिया जा सकता है।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि भविष्य में जिस महा-उपन्यास का—आधुनिक उपन्यासों की परम्परा का अन्त करने वाले उपन्यास का—आविर्भाव होगा उसमें प्रायः उन सब गुणों का समन्वय रहेगा जो विशेष-विशेष समय के युग-विवर्तक उपन्यासों में वर्तमान रहे हैं। और, उन विशेषताओं के अतिरिक्त, उसमें पिछले युगों के सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की अन्तर्भाव-धाराएँ रासायनिक रूप में सुमन्वित और विलयित होकर उन सबसे भिन्न एक नई ही भावधारा का उद्भावन करेंगी और आज तक की परम्परा से भिन्न एक नये ही रस का स्रोत बहायेंगी।

अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं फिर कह दूँ कि भविष्य का वह महा-उपन्यास नवीन शैली-निर्माण और नये रूप-गठन की दृष्टि से सुन्दरतम होगा। स्त्री-पुरुष के प्रेम की वैयक्तिक अनुभूति को उसमें किसी भी रूप में तनिक भी महत्त्व नहीं दिया जायगा। न उस तरह के प्रेम की तथाकथित 'स्वर्गिक चेतना' की महत्ता उसमें परिस्फुटित होगी, न मनोवैज्ञानिक विधि से उसकी विकृतियों का ही विश्लेषण रहेगा। प्रेम-सम्बन्धी चेतना की जो मूल प्राकृतिक धारा सभी पारिवारिक, सामाजिक तथा व्यापक मानवीय सम्बन्धों में सूक्ष्म अन्तर्धारा के रूप में वर्तमान पाई जाती है, अन्तर और बाह्य प्रकृति के मूल तत्वों से जिसका युग-युग से सहज सम्बन्ध रहा है, जो आज की विविध विषमताओं और विरोधाभासों से पूर्ण युग में ऊपर से एकदम विच्छिन्न और विकृत रूपों के पर्दों की ओट में छिपी होने के कारण अस्तित्वहीन-सी लगती है, उसीका परिस्फुटन उसमें जीवन-रस से घुली-मिली एक नई ही शैली द्वारा किया जायगा। बूर्जुआ संस्कृति को विरासत में प्राप्त जो एकांत अहंगत चेतना आज के बौद्धिक मनुष्य को विश्व-मानवत्व से छिन्न करके उसे विनाश के महागह्वर में ढकेलने के लिए तत्पर है, उसका विश्व-मानवत्व से पुनस्संयोजन कैसे हो सकता है, इसका सुझाव उस नये उपन्यास के स्वाभाविक जीवन-चित्रण के भीतर निहित रहेगा। बूर्जुआ समाज की युगों की साधना द्वारा प्राप्त संस्कृति के उन्नततम रूप का सहज रासायनिक सम्बन्ध या विलयन नव-विकसित प्रोलेटेरियन संस्कृति के साथ

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किस सहज और मंगलमय रूप में हो सकता है उसका आभास भी उस नये उपन्यास में किसी-न-किसी रूप में रहेगा, ऐसा अनुमान मैं लगाता हूँ। आज संसार के विभिन्न वर्गों, विभिन्न राष्ट्रों और विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच जो परस्पर-विध्वंसक संघर्ष चल रहा है उसकी अनिवार्य समाप्ति किन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होकर रहेगी, उसका भी संकेत उस उपन्यास में चित्रित जीवन-धारा के सहज स्वरूप के भीतर से प्राप्त होगा। संक्षेप में वह महा-उपन्यास कुण्ठा, निराशा, घृणा और उबकाई से बहुत दूर, जीवन के आदिकाल से लेकर आज तक के सहज-स्वस्थ, बाह्य और अन्तरीण विकास-पथ पर स्थित रहेगा और आज के युग के समस्त द्वन्द्वों और प्रतिद्वन्द्वों से परे, प्रकृति की मूल धारा से सम्बद्ध, जीवन के आनन्द की अनुभूति से जुड़ी हुई महान् आस्था की वाणी को अपूर्व कला के माध्यम से उसी तरह प्रसारित करेगा जिस प्रकार वसंत में खिलने वाले फूल सारी प्रकृति में, सहज रूप से, चारों ओर के वातावरण में परिमल बिखेरते हैं।

अन्त में एक संकेत और कर दूँ कि जिस आनुमानिक उपन्यास का उल्लेख मैंने किया है उसका चरित-नायक, नायिका या पात्र-पात्रियाँ किसी विशेष देश या विशेष समाज की विशिष्टता से सम्बन्धित न होकर रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' की तरह विश्व-मानवत्व के प्रतीक होंगे।

और इस प्रकार के उपन्यास के लिए उपयुक्त जमीन आज हमारे देश में तैयार है, क्योंकि इस प्रकार की विश्वजनीन अनुभूति की परम्परागत सांस्कृतिक प्रेरणा केवल इसी देश को प्राप्त है, और युग की विषमता और विरोधाभास के भारे प्रतीक भी आज इसी देश में सिमटते चले आ रहे हैं। इसलिए जो यह स्वर्णिम अवसर हम लोगों—भारतीय उपन्यासकारों—को प्राप्त हुआ है उसे यदि हम अपनी लापरवाही से गवाँ दें तो वह बड़ी भारी ऐतिहासिक चूक होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाकर माचवे

मराठी रस-मीमांसा : नई दिशाएँ

मराठी भाषा में साहित्यालोचन पर विपुल, विविध और विशाल साहित्य है। 'वाङ्मयीन टीका', जैसे कि मराठी में साहित्य-समीक्षा को कहते हैं, 'निबन्धमाला'-कार विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के जमाने से और उससे पहले से चली आ रही है। सबसे नवीनतम ऊहापोह अमरावती के विद्वान् प्राध्यापक गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे द्वारा मुंबई मराठी साहित्य संघ की ओर से इस वर्ष 'वामन मल्हार व्याख्यानमाला' में 'आपलें साहित्य-शास्त्र' (हमारा साहित्य-शास्त्र) विषय पर किया गया। इस विशाल साहित्य का सम्पूर्ण ऐतिहासिक संपरीक्षण एक छोटे-से लेख में सम्भव नहीं है। फिर भी हिन्दी पाठकों की जानकारी के हेतु जो भी मैं संकलित कर पाया हूँ, प्रस्तुत है। लेखक सम्पूर्ण जानकारी देने का दावा नहीं करता। प्रस्तुत लेख में पहले कुछ इतिहास देकर ग० त्र्यं० देशपाण्डे का विवेचन अन्त में विस्तार से दिया गया है।

विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के 'वाङ्मय-विषयक निबन्ध' ग्रन्थ में मुझे निम्न अवतरण मिला जिससे स्पष्ट होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भी मराठी साहित्य-समीक्षकों की दृष्टि कितनी मर्मग्राहिणी थी। 'विद्वत्व और कवित्व' नामक निबन्ध में विष्णुशास्त्री कहते हैं—''बाह्य प्रकृति का वर्णन जब करना हो तो किसी प्रदेश को घड़ी-भर स्वयम् अपनी आँखों से देखकर जो उसके सम्बन्ध में कल्पना जागरित होगी, वह वैसी ही नक्शों से या वर्णनों से बहुत दिनों तक अध्ययन करने पर भी नहीं होगी। वही बात अंतःसृष्टि की भी है। अमुक रस के विषय में साक्षात् अनुभव से जो स्वरूप-धारणा होगी वह निरे सूखे वर्णन के बराबर पठन से भी यदि हो भी सके तो बहुत अस्पष्ट होगी। सारांश, कवित्व के लिए अथवा रसिकता के लिए भी विद्वत्ता बिलकुल कारण नहीं है। उलटे वे दोनों स्वभावतः विरुद्ध हैं ऐसा ही कहना चाहिए।''[1] यह विवेचन मराठी में सन् १८६६ में किया गया है। चिपलूणकर ने बताया था कि विद्वत्व और कवित्व का कोई निश्चित कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है : कालिदास, जगन्नाथराज, मिल्टन, 'बैरन्' (बाईरन को उन्होंने ऐसे ही लिखा है) बड़े पण्डित और उत्तम कवि थे; जब कि शेक्सपीयर, बर्न्स या तुकाराम एकदम जुलाहे कबिरे की तरह निरक्षर नहीं तो कम-से-कम अनपढ़ तो थे ही। कुछ उदाहरणों में विद्वत्व की अधिकता ने कवित्व को कम ही किया है यथा सिसेरो या जानसन में।

वैसे तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र का परिचय करा देने वाले ग्रन्थ मराठी में कम नहीं हुए। १८६८ ईस्वी में दाजी शिवाजी प्रधान ने भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के आधार पर 'रसमाधव' लिखा था। इन परिचय-अनुवादि-ग्रन्थों की परम्परा में साहित्य के किसी अंगविशेष का ही विवेचन अधिक है। जैसे किसी ने अलंकारों का ही अधिक विवेचन किया है तो किसी ने

१. पृष्ठ १७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यशास्त्र का इतिहास-मात्र लिखा। कालानुक्रम से सब ग्रन्थों की सूची देना तो असम्भव-प्राय है फिर भी कुछ प्रमुख ग्रन्थों का परिचय मैं देना चाहता हूँ जो १९३० से पहले लिखे गए और जो उसके बाद लिखे गए।

१९१५ में पूना से 'काव्य-चर्चा' नामक एक लेख-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें विभिन्न कवियों के रसग्रहण और काव्य सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विभिन्न विद्वानों के लेख थे। हिन्दी में नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'साहित्य-सुषमा' का पाठकों को स्मरण होगा जिसमें निरालाजी का 'भारतीय काव्य-दृष्टि' नामक अनुपम निबन्ध है। कुछ इसी प्रकार का यह संग्रह था। यद्यपि शैली बहुत-कुछ रूढिवादी और परम्परीण है फिर भी विचारों के लिए बहुत सा खाद्य इस ग्रंथ में है। १९१६ में श्री ना० बनहट्टी का 'मयूर काव्य-विवेचन', १९१९ में वासुदेव गोविन्द आपटे का 'सौंदर्य आणि ललितकला', १९२१ में हरिनारायण आपटे का 'विदग्ध वाङ्मय' ऐसे ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ थे जिनमें सौंदर्य-समीक्षा और रस-ग्रहण के विभिन्न सिद्धान्तों को सामने रखा गया था। इन विवेचनों के साथ-ही-साथ पां० वा० काणे का 'संस्कृत साहित्य-शास्त्राचा इतिहास' प्रकाशित हुआ। और उसी कालखंड में निर्णयसागर, मुंबई से संस्कृत के मूल काव्य-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों के सटीक प्रामाणिक संस्करण भी प्रकाशित हो रहे थे, यथा १९१६ में मुकुट की 'अभिधावृत्तिमातृका' और १९२८ में रुद्रट का 'काव्यालंकार' और आनन्द-वर्धन का 'ध्वन्यालोक'। ध्यान रहे कि अंग्रेजी में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी इसी समय के हैं: यथा डाक्टर जे० नोबेल का 'फाउंडेशन्स ऑफ़ इण्डियन पोएट्री' (१९२५), डाक्टर एस० के० दे का 'संस्कृत पोएटिक्स' (१९२५) और ए० शंकरन का 'सम आस्पेक्टस ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म इन संस्कृत आन दि थियरी ऑफ़ रस एण्ड ध्वनि' (१९२८)।

१९२८ ईस्वी में मराठी के विख्यात ज्ञानकोशकार डॉक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने 'महाराष्ट्रियांचे काव्य परीक्षण' नामक एक बहुमूल्य ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने कई मौलिक स्थापनाएँ कीं, यथा "**मराठी काव्य-परीक्षण का इतिहास मराठी काव्य के साथ निर्मित हुआ, संस्कृत साहित्यकारों ने मराठी की उपेक्षा की। साहित्य-शास्त्रियों ने प्राकृत साहित्य की ओर ध्यान नहीं दिया इसलिए इस शास्त्र का विकास रुक गया। साहित्य-शास्त्र के नियम केवल मार्गदर्शक हैं। काव्य-परीक्षण का इतिहास लोकाभिरुचि के इतिहास का अंग है। जनता काव्य का अन्तिम न्यायासन है। महाराष्ट्रीय वाङ्मय लोकाश्रय से बढ़ा, अतः मराठी कविता में दरबारी कविता के दुर्गुण नहीं आये। क्या उत्तम लेखक लोकाभिरुचि की बिलकुल परवाह न करके चल सकता है?**" इन सब समस्याओं से शुरू करके बुद्धिवादी, संतुलित दृष्टि से समाज-विज्ञान और इतिहास के गहरे अध्ययन से डॉ० केतकर ने नौवीं शती से ज्ञानेश्वर तक और बाद में संतकवि, रामदास, शिवकालीन साहित्यकार, अनुवादक, महिपति, मोरोपंत आदि के काव्य में कविता और कविकर्म-विषयक जो-जो उद्धरण आते हैं उनके सहारे अपनी ११३ पृष्ठों की इस छोटी-सी पुस्तक में मूलग्राही समीक्षा की। विपलूणकर के बाद इस ग्रन्थ को मराठी रस-मीमांसा में नई दिशाएँ बताने वाला एक महत्त्वपूर्ण भू-चिह्न (लैंडमार्क) मानना चाहिए।

डॉक्टर केतकर ने अपने ग्रन्थ में पृष्ठ २ पर कहा—"**साहित्यशास्त्र हें वाढतें शास्त्र आहे। नवें वाङ्मय उत्पन्न होतें तसतशी त्यावर लोकांची आवडनिवड व्यक्त होते। आणि ती आवड-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवड नियम उत्पन्न करून शास्त्र वृद्धिंगत करतें।" (अर्थात् साहित्य-शास्त्र बढ़ता हुआ शास्त्र है। नया साहित्य निर्मित होता है त्यों-त्यों उसके बारे में जनता की अभिरुचि व्यक्त होती है और वह अभिरुचि अपने नये नियम बनाती है और इस तरह से शास्त्र आगे बढ़ता जाता है।) डॉक्टर केतकर के इस निबन्ध में काव्य-परीक्षण की शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि भी उन्होंने अपनी भूमिका में इस प्रकार से दी है : "मराठी कवियों का अध्ययन करते समय तत्कालीन संस्कृत-साहित्य भी हमें देखना चाहिए। महाराष्ट्र में जो पंथ प्रचार कर रहे थे, उन पंथों का महाराष्ट्रीय वाङ्मय और अन्य भाषाओं के साहित्य का एक साथ अध्ययन करके पंथेतिहास-विषयक ग्रन्थ लिखे जाने चाहिएँ। नाथपंथ, रामानन्द पंथ और महानुभाव पंथ का भी इतिहास लिखा जाना चाहिए। मराठी में जितनी जीवनियाँ हैं उन्हें कोशरूप में एकत्रित करके उनकी तुलना करनी चाहिए। लोकप्रिय कवियों की रचनाओं के पाठ-भेद और क्षेपकों का अध्ययन होना चाहिए। जिन संस्कृत कवियों के अनुवाद किये जाते हैं उन्होंने किन मूल प्रतियों को सामने रखा था, यह जानना चाहिए। अनपढ़ जनता या ग्रामीणों का साहित्य धीरे-धीरे शिष्ट वर्ग का (भद्रजन का) साहित्य बनता जाता है और ग्रंथों के संस्करणों में भी भेद होते जाते हैं, इसे भी ध्यान में रखा जाय।" डॉ० केतकर की यह पुस्तक हिन्दी में अनूदित हो जानी चाहिए।

अब सन् '३० से '४० तक के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दूँ। १६३० में प्रा० रा० श्री० जोग का 'अभिनव काव्यप्रकाश' प्रकाशित हुआ। इसमें 'करुण रस से आनन्द क्यों ?' आदि विवेचन बहुत विद्वत्तापूर्ण पद्धति से किया गया था। अपने नये ग्रन्थ 'सौन्दर्य शोध आणि आनन्द-बोध' में जोग ने रस-मीमांसा का और भी अच्छा विवेचन किया है। पहले संस्कृत साहित्यशास्त्र को उन्होंने आधार माना था, अब अंग्रेजी और पाश्चात्य समीक्षा को भी तुलना में उन्होंने सामने रखा है। जोग के ग्रन्थ 'सौन्दर्य शोध आणि आनन्द बोध' का भी हिन्दी अनुवाद होना चाहिए। १६३१ में पूना से बालूताई खरे (अब मालती दांडेकर और 'विभावरी शिरूरकर' के उपनाम से विख्यात) ने 'अलंकार-मंजूषा' नामक अलंकार-शास्त्र पर अपना प्रबन्ध प्रकाशित किया जिस पर उन्हें कर्वे की वीमेन्स यूनिवर्सिटी से अन्तिम पदवी मिली। इसी तरह का खोजपूर्ण ग्रन्थ दूसरी एक लेखिका गोदावरी केतकर का 'भारतीय नाट्यशास्त्र' है। १६३१ में प्रा० द० के० केलकर के ग्रंथ 'काव्यालोचन' में काव्य की रसोद्बोधनप्रक्रिया की कुछ मूलभूत बातों पर विमर्श है। १६३० और ३१ में निर्णयसागर, मुंबई से संस्कृत 'रसगंगाधर' और 'साहित्यदर्पण' सटीक संस्करण निकले।

१६३४ में य० र० अगाशे ने अपनी 'सारस्वत-समीक्षा' में फिर रस-विषयक प्रश्नों को उठाया और साहित्य तथा इतिहास के सम्बन्धों को स्थिर करने की चेष्टा की। १६३५ में प्रकाशित गुणवन्त हनुमन्त देशपाण्डे के 'निवेदन' और १६३७ में प्रकाशित ह० ना० नेने के 'लक्षण रत्नाकर' का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है। इसी कालखण्ड में मध्यभारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन, उज्जयिनी के अध्यक्ष-पद से साहित्य-सम्राट् नरसिंह चिन्तामण केलकर ने 'सविकल्प समाधि' वाला अपना साहित्यानन्द-विषयक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया और 'रत्नाकर' पत्रिका में साहित्य में अश्लीलता की मर्यादा को लेकर बड़ा वादविवाद हुआ (हिन्दी 'जीवन साहित्य' के पाठकों को ऐसा ही सन् ४०-४१ में हुआ विवाद याद होगा)। भास्कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचन्द्र तांबे नामक कविवर्य ने अपने 'कला और नीति' भाषण में सौन्दर्य सदा शिव होता है और उच्च कला सदा नैतिक होती है ऐसा दावा रखा; जिस पर बहुत सा वादविवाद मचा। प्रा० ग० वा० कवीश्वर ने 'नीति आणि कलोपासना' पुस्तक लिखी और कला को नीति की चेरी बनाने पर आग्रह किया। इसके बाद महाराष्ट्र में 'कला आणि जीवन' वाद प्रो० ना० सी० फडके और वि० स० खांडेकर में कई वर्षों तक चला। फडके 'कला के लिए कला' के समर्थक थे और खांडेकर 'कला जीवन के लिए' के। बाद में 'पुरोगामी साहित्य' (प्रगतिशील साहित्य) पर आचार्य जावडेकर और प्रो० फडके के बीच में बहुत विख्यात वादविवाद हुआ जो पुस्तक-रूप से प्रकाशित हुआ। इसी समय भाई (कामरेड) लालजी पेंडसे का 'साहित्य आणि समाज जीवन' नाम से ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें समाजवादी दृष्टिकोण से मराठी साहित्य का इतिहास था। इसका पु० य० देशपाण्डे ने 'प्रतिभा' में प्रकाशित लेखमाला में सविस्तर उत्तर दिया। 'लेनिन और कला' आदि उनके निबन्ध 'नवी मूल्यें' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हैं। एक ओर ललित लेखकों के बीच में ऐसी चर्चाएँ चल रही थीं तब दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। एक तो प्रो० के० ना० वाटवे का 'रसविमर्श'। यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ रस-संख्यानिश्चिति और आस्वाद्यमानता के निकष के विषय में कुछ नये सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। परन्तु प्रो० रा० श्री० जोग की भाँति इसमें भी पाश्चात्य मानसशास्त्र के साथ अपने रसशास्त्र को मिलाने, उनके तुलनात्मक अध्ययन से आधुनिक कुछ प्रवृत्तियों के प्राचीन निकटपर्याय खोजने का प्रयास अधिक है। 'करुण रस से आनन्द' के विषय में और आस्वाद्यमानता के विषय में डॉ० माधव त्र्यंबक पटवर्धन के 'लोकशिक्षण' में प्रकाशित निबन्ध भी मौलिक विवेचना प्रस्तुत करते थे। इन सबसे भिन्न और साहित्य में 'क्लासिसिज़्म' का प्रतिपादन करने वाला, इतालवी समालोचक उजेत्ती से प्रभावित बाल सीताराम मर्ढेकर का 'वाङ्मयीन महारसता' है। जहाँ काका कालेलकर आदि 'कला', 'शैली की पवित्रता' आदि विषयों पर ताल्स्ताय-रवीन्द्रनाथ से प्रभावित सौंदर्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे थे, मर्ढेकर ने सौंदर्य और उदात्त के बीच के अन्तर को स्पष्ट किया। लांगिनस के 'आन द सब्लाइम' की याद इससे आती है। परन्तु मर्ढेकर का विवेचन अध्यात्मवादी नहीं है।

सन् १९४० में डॉ० मा० गो० देशमुख ने 'मराठीचे साहित्यशास्त्र' प्रबन्ध लिखकर प्राचीन कवियों के रसविषयक मत एकत्र किए। कई साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्षपदों से नये-नये वाद उपस्थित किए जाने लगे। पु० य० देशपाण्डे ने साहित्य में 'चतुर्गुणात्मक साकल्य' की बात प्रस्तुत की। अनन्त काणेकर ने 'समग्र सत्य' की समस्या उठाई। महान् साहित्य में सत्य-दर्शन कभी एकांगी नहीं हो सकता, ऐसा उनका दावा था। इधर हाल में दि० के० बेडेकर के रसविषयक निबन्धों को लेकर बहुत वादविवाद हुआ। प्रा० द० के० केलकर ने उन्हें उत्तर दिया[1]। और प्रा० सु० शि० बारलिंगे ने एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया[2] कि रसशास्त्र पर बौद्धदर्शन का प्रभाव कैसी सूक्ष्मता से पड़ता चला गया। विज्ञानवाद के प्रभाव के कारण जो साहित्यशास्त्र पहले भरतादि तक 'आस्वाद्य' को रस का पर्याय मानता था वह बाद में 'आस्वाद' को ब्रह्मानन्द-सहोदर मानने लगा। नांदेड (हैदराबाद) के पीपल्स कालेज के प्राचार्य बारलिंगे जी

१. नवभारत, जून १९५१।
२. नवभारत, मई १९५२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यह संशोधन बहुत महत्त्वपूर्ण था। उनके अनुसार विज्ञानवाद के प्रभाव में आकर 'कल्पना' शब्द का अर्थ-संकोच होता गया। पहले 'कल्पना' रचना-मात्र का पर्यायवाची था, बाद में वह केवल मानसिक निर्मिति बन गया। १९५२ के अन्त में इंदौर की साहित्य परिषद् के अध्यक्षपद से तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी ने रूसो, क्रोचे, गेटे का हवाला देते हुए साहित्य में सफल रसनिर्मिति के लिए 'संश्लिष्ट अनुभूति' (इन्टिग्रेटेड एक्सपीरियंस) को प्रधान कसौटी माना। उनका विवेचन बहुत अध्ययनपूर्ण था।

जहाँ प्राचीन रसव्यवस्था में शान्त को रस न मानने की या वात्सल्य को जोड़ने की बात डॉ० वाटवे ने उठाई थी, आत्माराम रावजी देशपाण्डे 'अनिल' ने अपने संस्कृत-प्रबन्ध 'प्रक्षोभ रसस्थापनम्' में एक नये रस 'प्रक्षोभ' की सत्ता प्रतिपादित की। 'आलोचना' अंक ७ में उसकी चर्चा है। नागपुर के० डा० मा० गो० देशमुख ने विदर्भ साहित्य-संघ के अध्यक्ष पद से एक प्रस्ताव 'रस' के बदले 'भावगन्ध' शब्द प्रचलित करने के विषय में रखा। इन सब चर्चाओं में अत्यन्त सन्तुलित और विद्वत्तापूर्ण विचार ग० त्र्यं० देशपाण्डे की भाषणमाला में हुआ है जिसका सारांश 'सत्यकथा' के संपादकीय के आधार पर हम यहाँ देते हैं।

उनके व्याख्यान के अनुसार 'हमारा साहित्यशास्त्र' एकसंघ, एकप्राण है। यह कहना कि यह संस्कृत साहित्यशास्त्र है और यह प्राकृत साहित्यशास्त्र है, यह हिन्दी या मराठी या बंगाली साहित्यशास्त्र है, गलत है। हमारा साहित्यशास्त्र संस्कृत साहित्यशास्त्र है। आज के मराठी समीक्षा-क्षेत्र में तीन मत इसके सम्बन्ध में हैं—१. कुछ लोगों के अनुसार प्राचीन रसशास्त्र पुराना हो चुका है। आधुनिक साहित्य के मूल्यमापन के लिए वह नाकाफी है। इसलिए इस पुराने रद्दी माल को एक तरफ रख देना चाहिए। उसके प्रति ममत्व कोरी भावुकता है। २. इससे उलटे संस्कृत साहित्य के अभिमानी कहते हैं कि प्राचीन रसशास्त्र बेकार और गतार्थ नहीं हुआ है। उसमें आवश्यक संस्करण करने से नये साहित्य का मूल्यमापन भी उसी के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार से प्राचीन रसशास्त्र को आधुनिक मनोविज्ञान से जोड़ने, पूरा करने या उसकी मरम्मत करने में ये लोग लगे हैं। ३. तीसरा दल उन लोगों का है जो न तो प्राचीन रसशास्त्र को सुधारना या आधुनिक बनाना चाहते हैं न उसे नष्ट करना; पर मानते हैं कि पुरातन सांस्कृतिक धन की भाँति उसका रक्षण-मात्र किया जाय।

ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने कहा कि पहले तो संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद देशभाषाओं में उपलब्ध करना चाहिए। उसी के द्वारा प्राचीन के प्रति हमारा अति-भावुकतारंजित, अथवा विरोधी पूर्वग्रहदूषित दृष्टिकोण सुधर सकेगा। भरत के 'नाट्यशास्त्र' से लगाकर 'रसगंगाधर' तक सब प्रमुख और महत्त्व के साहित्य-ग्रन्थों का मराठी में योजनापूर्वक अनुवाद होना चाहिए।

प्रो० ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने अपने 'साहित्यशास्त्र' में भरतमुनि से लेकर जगन्नाथ पंडित तक के काव्य-शास्त्र के विकास पर तथा साहित्यशास्त्र की कवि तथा रसिक-सम्बन्धी धारणाओं पर प्रकाश डाला है। चार या पाँच व्याख्यानों में पिछले डेढ़ हजार वर्षों के लम्बे समय में फैले इस साहित्यशास्त्र की विस्तृत रूप से समीक्षा करना या इस काल में उपस्थित समस्त साहित्यशास्त्रीय प्रश्नों की विवेचना करना उनके लिए सम्भव नहीं था। इसके लिए उनकी पुस्तक की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। प्रो० देशपाण्डे के व्याख्यानों की विशेषता यह भी है कि उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का समर्थन या खण्डन करने का रुख नहीं अपनाया था। इस शास्त्र का वास्तविक दिग्दर्शन करने का ही उनका प्रयत्न था। साहित्यशास्त्र की मूल पुस्तकों की उनकी जानकारी अच्छी थी; इतना ही नहीं बल्कि साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय तथा साहित्यशास्त्र के तत्कालीन सम्बन्धों और इसी प्रकार न्याय, व्याकरण, मीमांसा आदि शास्त्रों तथा संस्कृत शास्त्र के तत्कालीन सम्बन्धों का भी उनको पूरा ज्ञान था। इसीलिए उन्होंने अपनी स्थूल समीक्षा में भी ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें बतलाईं जो संस्कृत-साहित्य-शस्त्र की प्रचलित धारणाओं से भिन्न थीं। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का दण्डी के बाद का (सातवीं सदी से) इतिहास अटूट है और उसे समझना आसान है। किन्तु भरतमुनि के नाट्य शास्त्र से लेकर भामह-दण्डी के समय तक का इतिहास ठीक से समझ में नहीं आता। प्रो० देशपाण्डे ने नाट्यशास्त्र से काव्यशास्त्र के विकास की गति पर प्रकाश डालने की कोशिश करते हुए भामह को भरतमुनि का उत्तराधिकारी बताया है। भामह के समय में साहित्यशास्त्र का नाम अलंकारशास्त्र था। किन्तु उसके पूर्व उसका नाम दूसरा ही था। भरत ने इसे क्रियाकल्प कहा है और उसका स्पष्टीकरण काव्यकरण विधि के रूप में किया है। भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में नाट्यधर्मी यानी सम्पूर्ण अभिनय का वर्णन करते हुए वाचिक-अभिनय से सम्बन्ध रखते हुए काव्य की विवेचना की है। उन्होंने काव्य के ३६ लक्षण और ४ काव्यालंकार बताए हैं। किन्तु प्रो० देशपाण्डे का कहना है कि भरत के काव्य-लक्षण निरुक्त, मीमांसा और अर्थशास्त्र में भी दिखाई देते हैं। नाटक में लोक-प्रकृति का दिग्दर्शन अभिनय के द्वारा होता है। यही दिग्दर्शन काव्य में शब्दों द्वारा होता है। नाटक में यह कार्य सम्पन्न करने वाले नाट्यधर्मी को भामह ने वक्रोक्ति का नाम दिया है।

नाटक से सम्बन्ध रखते हुए भी काव्य-विषयक वादविवाद या विचार-विमर्श को भामहोः। स्वतन्त्र प्रतिष्ठा का स्थान दिया। प्रो० देशपाण्डे ने यह भी कहा कि उस समय नागरिकों की 'विदग्ध-गोष्ठी' हुआ करती थी जिसमें होने वाले काव्य-सम्बन्धी विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप काव्यशास्त्र का विकास हुआ; इतना ही नहीं बल्कि भामह ने अपने ग्रन्थ के लिए ऐसे वाद-विवाद की पृष्ठभूमि को आवश्यक मानकर ही काव्यशास्त्र की स्थापना बड़े उत्साह से की। भामह व्याकरण, न्याय आदि शास्त्रों के विरुद्ध काव्य की ताक में संघर्ष किया करते थे। उसका प्रमाण वे दो अध्याय हैं जो उन्होंने काव्य के व्याकरण तथा काव्य के निर्णय के सम्बन्ध में लिखे हैं। दण्डी का दृष्टिकोण अध्यापक का है। भामह और दण्डी, दोनों के समय में काव्यशास्त्र स्वाभाविक रीति से प्रचलित हो गया और विशेषता यह रही कि उसके क्षेत्र में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य का समावेश हुआ। हालाँकि काव्य-शास्त्र संस्कृत में लिखा हुआ था, फिर भी वह सभी भाषाओं के साहित्यिक प्रकारों का शास्त्र माना जाता था और उसमें सभी भाषाओं से उदाहरण लिये जाते थे। इसके बाद केवल जगन्नाथ पण्डित ने ही अपनी पुस्तकों में प्राकृत के उदाहरणों का समावेश, संस्कृत में रूपान्तरित करके किया। प्रो० देशपाण्डे के अनुसार साहित्य-शास्त्रकारों के व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए, संस्कृत साहित्यशास्त्र, प्राकृत साहित्यशास्त्र, हिन्दी साहित्यशास्त्र या मराठी साहित्यशास्त्र-जैसे भिन्न-भिन्न साहित्यशास्त्र मानना गलत है। जगन्नाथ पण्डित ने संस्कृत से भिन्न भाषाओं के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया, सम्भवतः उसीके परिणामस्वरूप साहित्यशास्त्र की यह पुरानी, अखण्डित और प्रवाहपूर्ण परम्परा टूट गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सच है कि भामह के समय काव्य-सम्बन्धी वादविवाद या विचार-विमर्श को काव्य-लक्षण के बजाय काव्यालंकार कहा जाता था। किन्तु यह सच नहीं है कि भामह ने भरत मुनि के रस सिद्धान्त के विरुद्ध अपना सिद्धान्त स्थापित किया। भामह को काव्यगत रस का अच्छा ज्ञान था। उसने अलंकार की व्याख्या नहीं की जो आगे चलकर वामन ने की। फिर भी केवल इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि अलंकारशास्त्र ही आज का सौंदर्य-शास्त्र है। प्रो० देशपाण्डे का मत है कि जहाँ आज सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य संगीतादि ललित कलाओं के समान नियमों की खोज करना है वहाँ अलंकारशास्त्र का विचारणीय विषय केवल काव्य था। भामह की वक्रोक्ति तो एक 'अर्थ-संस्कार'-मात्र है। भामह की वक्रोक्ति, दण्डी के समाधि गुण, वामन के माधुर्य तथा राजशेखर की प्रतिभास-निबन्धनता के मूल में 'धर्माध्यास' है। अध्यास का अर्थ होता है किसी वस्तु में दूसरे धर्म का आरोप करना। किन्तु यह अध्यास प्रतिभास या आभास नहीं है। वह एक प्रतीति है जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य ही है।

उद्भट ने भामह की बातों को स्पष्ट किया और शब्द से द्योतित होने वाली वस्तु के बारे में वैयाकरणों, नैयायिकों तथा साहित्यिकों में चलने वाले विवाद में काव्य के अन्तर्गत लक्षण की व्याख्या की। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानता है और रीति के आधारभूत गुणों की विवेचना करता है। उस काल में अलंकारपूर्ण काव्य या चित्र काव्य लिखने वालों का बोलबाला था। इसीलिए वामन ने प्रथमतः यह बतलाया है कि कवि बनने का अधिकारी कौन है। उसने कालिदास-जैसे महाकवि पर लगाये गए आरोपों को खण्डित करने की प्रतिज्ञा की थी। इसीलिए उसने प्रत्येक गुण के लिए महाकवि के उदाहरण के साथ ही प्रत्युदाहरण भी दिया है। काव्य की शोभा बढ़ाने वाले गुणों को वह धर्म के नाम से पुकारता है। भरतमुनि जिसे लक्षण कहते हैं, भामह उसको अलंकार कहते हैं। दण्डी के ग्रन्थ में दोनों का मिश्रण है। वामन उनको गुण कहता है। इस प्रकार की परम्परा प्रो० देशपांडे ने दिखाई है। इन गुणों की सूची दण्डी ने भरतमुनि से और वामन ने दण्डी से ली है। दण्डी की दृष्टि में जो मार्ग है वही वामन की दृष्टि में रीति है। इसके बाद कुंतक ने उसे फिर मार्ग नाम से पुकारा और रीति के भेदों का वर्णन पैशाची, गौडी और वैदर्भी-जैसे नामों से करने के बजाय सुकुमारमार्ग, विचित्रमार्ग तथा मध्यमार्ग के नामों से किया। उसने इन भेदों का कारण कवि-स्वभाव बताया है। वामन के बाद रुद्रट ने बताया कि अलंकार या वक्रोक्ति के पीछे कवि का हेतु या अभिप्राय रहता है। प्रो० देशपांडे के मतानुसार रुद्रट ने काव्य-शास्त्र की सैद्धान्तिक प्रगति की दिशा में और एक सफलता पाई। काव्यगत अलंकार या वक्रोक्ति वास्तव में कवि के प्रयोजन को प्रकट करती है। रुद्रट की इस विवेचना से रस और शब्दार्थ एक-दूसरे के सामने उपस्थित हुए और इस प्रश्न को हल करने की प्रक्रिया से ही अलंकार-शास्त्र साहित्य-शास्त्र बन गया। पर शब्दार्थ से रस की प्रतीति किस प्रकार होती है?

शब्द और अर्थ का साहचर्य ही साहित्य है। यह साहचर्य या सहभाव व्याकरणमूलक या काव्यमूलक रहता है। काव्यमूलक रहने में दोष नहीं गुण ही रहते हैं। उनमें अलंकार और रस रहता है। काव्य के शब्दों में रस ही अर्थ होता है। आनन्दवर्धन के अनुसार यह अर्थ व्यंग्य या ध्वनित रहता है। ध्वनिकार ने यह मत प्रकट किया कि काव्य में रस ही प्रधान है और तद्-नुसार ही साहित्य में गुणालंकारों की व्यवस्था की जानी चाहिए। उस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र को पुनर्गठित किया। तत्पश्चात् क्षेमेन्द्र ने जो औचित्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह भी इस प्रतीति के अनुसार ही था। अभिनवगुप्त ने रस को चर्वणारूप या आनन्दमय माना। उनके अनुसार शृङ्गारादि रस आनन्दमय रस के वैचित्र्य दर्शक रूप हैं। इसके बाद प्रो० देशपाण्डे ने इस प्रचलित मत का उल्लेख किया कि विभाव, भाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के संयोग से रसोत्पत्ति होती है और कहा कि यह संयोग कवि, काव्यगतपात्र, या रसिक के स्थायीभाव से नहीं होता बल्कि कलाकृति का दर्शन करते समय रसिक की तदाकार अवस्था से होता है और इसी लिए रसिक को आनन्द मिलता है, यही रस है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिए रसिक को विदग्ध, प्रगल्भ और कुशल होना आवश्यक है। इसी प्रकार संभावना का अभाव, खास देश या काल का अभिमान, अपने सुख-दुखों से प्रभावित होना, प्रतीति के साधन की दुर्बलता, मुख्य वर्ण्य-विषय का पृष्ठभूमि में पड़ना तथा अपरिहार्यता का ज्ञान न होना आदि बातें रस-प्रतीति में बाधक नहीं होनी चाहिए। प्रो० देशपांडे ने बताया कि यह धारणा भी गलत है कि रसाभास रसबाधक है या वह एक निम्नकोटि का आनन्दानुभाव है। उनका कहना है कि मानव से भिन्न वस्तुओं में मानवी भावनाओं का अभ्यास ही रसाभास का कारण है और उन्होंने उदाहरण के तौर पर बाल-कवि की 'फुल राणी' नामक कविता का उल्लेख किया है।

प्रो० देशपांडे के मत से मम्मट ने काव्य की जो व्याख्या और 'काव्यप्रकाश' की जो रचना की है वह साहित्य-शास्त्र का विकास देखते हुए वास्तविक और मूल्यवान् है। मम्मट के बाद लिखे गए ग्रन्थों में 'काव्यप्रकाश' की प्रणाली ही अपनाई गई है। साहित्य-शास्त्र के विकास के स्तरों का दिग्दर्शन कराते हुए प्रो० देशपांडे ने कहा है कि १. भरत का ग्रन्थ क्रियाकला का, २. भरत से लेकर भामह तक का समय काव्यलक्षणों का, ३. भामह दण्डी से लेकर रुद्रट तक का समय काव्यालंकारों का, ४. तथा आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक का समय साहित्य-शास्त्र का मानना चाहिए। मम्मट से लेकर जगन्नाथ तक के समय को प्रो० देशपांडे ने साहित्य-प्रणाली का समय कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर धर्मवीर भारती

साहित्य की नई मर्यादा

: १ :

अधुनातन परिस्थितियों में साहित्य को लेकर यह प्रश्न अक्सर उठाया जाता रहा है कि सामन्त-वादी तथा पूँजीवादी सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के विघटन से जीवन के मूल्यों में जो संकट उपस्थित हो गया है, उसका साहित्य की मर्यादाओं पर क्या प्रभाव पड़ा है। जिन मानव-मूल्यों के आधार पर किसी भी संस्कृति का रूपगठन होता है, वे उसके साहित्य के भी मूल में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से जो सांस्कृतिक संकट अंकुरित होने लगा था वह केवल आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक संकट नहीं वरन् मानव-जीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट है।[1] साहित्य के प्रसंग में इसका विश्लेषण इसलिए और भी अनिवार्य है। किन्तु इस संकट को लेकर निराशा, गतिरोध, अनिवार्य विघटन आदि की जो बातें कही जाती हैं, वे स्थिति का एक ही पक्ष प्रस्तुत कर पाती हैं। इस प्रकार के संकट पहले भी आये हैं और इतिहास इसका साक्षी है कि युद्ध, पराजय, दुर्भिक्ष, जलप्लावन और महामारियों ने मानवीय मूल्यों को जितनी तीव्रता से झकझोरा है, उनका विकास भी उतनी ही तीव्रता से हुआ है। वास्तविकता यह है कि अक्सर जितने गहन ये संकट रहे हैं उतनी ही निर्मल मर्यादाएँ विकसित हुई हैं। आधुनिक संकट भी इसका अपवाद नहीं है। उससे प्रेरित होकर साहित्य की जो नई मर्यादा विकसित हुई है उस पर विस्तार से विचार करना चाहिए।

स्थिति काफी स्पष्ट हो सकेगी यदि हम मूल्य-मर्यादाओं की प्रकृति और साहित्य में उनके विकास की सामान्य प्रक्रिया के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लें। साहित्य, चाहे वह किसी भी धारा अथवा निकाय का क्यों न हो, कुछ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मर्यादाओं द्वारा नियोजित होता है। इन मर्यादाओं की सांस्कृतिक स्थिति बड़ी ही सूक्ष्म और जटिल होती है। एक ही संस्कृति में कभी-कभी विभिन्न क्षेत्रों में कई उपधाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं जिनकी प्रवाह-रेखाएँ एक ही व्यापक दिशा में अलग-अलग घुमावों में चलती रहती हैं। परिणाम यह होता है कि एक ही मूल्य-मर्यादा कई ऐसी चिन्तनधाराओं और साहित्य-निकायों में समान रूप से प्रतिफलित होती है जो सतही तौर पर न केवल एक-दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु उनमें भयानक द्वन्द्व और घात-प्रतिघात चलता रहता है। सैकड़ों वर्ष बाद काल की विराट् पृष्ठभूमि में उनका विवेचन करने से यह ज्ञात होता है कि वे जिन बाह्याचारों पर उलझ रहे थे, इतिहास ने उनको निरर्थक सिद्ध कर दिया है, किन्तु अंशतः वे सभी किसी एक व्यापक मूल्य की स्थापना कर रहे थे और वह मूल्य सर्वस्वीकृत और विकासमान सिद्ध हुआ। आज, शताब्दियों बाद यह कहना सरल है कि कबीर, तुलसी, सूर और जायसी एक ही परम्परा को अनेक रूपों में प्रतिफलित करते हैं।

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'आलोचना' अंक १०, पृ० ५९ से ६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज तो मध्यकाल के अधिकांश प्रगतिशील धर्मान्दोलन, यूरोप का ईसाई धर्म, मध्य-पूर्व का सूफी धर्म, पूर्वी एशिया के वैष्णव और बौद्ध सम्प्रदाय, हम उन सबों द्वारा स्थापित मूल्यों में अन्तर्निष्ठ एकता पाते हैं। आज का आधुनिकतम इतिहासवेत्ता हरबर्ट बटरफील्ड अपनी नवीनतम कृति में इसी परिणाम पर पहुँचा है और हमें चेतावनी देता है कि १७वीं शताब्दी में जेनेवा में केन्द्रित, राज्यसत्ताओं से समर्थित, सेनाओं से सुसज्जित कैलविन सम्प्रदाय कैथोलिकों के लिए उतना ही आतंककारी सिद्ध हो रहा था जितना आज मास्को में केन्द्रित स्तालिनवाद। किन्तु कौन जानता है कि २०० या ३०० वर्ष बाद आज की प्रबल प्रतिपक्षी शक्तियों का संघर्ष उतना ही निरर्थक न सिद्ध हो जितना मध्यकाल का केलविन और कैथोलिक द्वन्द्व।[1]

इससे राजनीतिक निष्कर्ष क्या निकलते हैं यह हमारा विषय नहीं। हमारा मूल प्रतिपाद्य साहित्य है जिसके विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसमें एक चिरन्तन सहजवृत्ति होती है जिसके कारण वह मूल्यों द्वारा नियोजित मर्यादाओं को स्वीकार करता है और उसके साम्प्रदायिक स्वार्थों और निरर्थक कुतर्कों द्वारा स्थापित संकीर्ण अनुशासनों को अरसिक, असंस्कृत अन्धानुयायियों के लिए छोड़ देता है। इस प्रकार साहित्य को प्रशासित करने वाली मर्यादाओं के द्विविध रूप होते हैं—सम्प्रदायगत और मूल्यगत। सम्प्रदायगत मर्यादा पतनोन्मुख और संकीर्ण होती है—मूल्यगत मर्यादा प्रगतिशील और विकासोन्मुख।[2] प्रगतिशील साहित्य के लिए प्रथम अग्राह्य है, द्वितीय अनिवार्य।

: २ :

पिछले सौ वर्षों के साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि गहन संकट के बावजूद व्यक्ति और समाज-सम्बन्धी वे प्रमुख मानववादी मूल्य जो समाजवाद की मार्क्सीय तथा अन्य पद्धतियों द्वारा स्वीकृत किये गए थे, साहित्य में अपनी सम्प्रदायगत सीमाओं से मुक्त रूप में न केवल ग्रहण किये गए, वरन् सार्वभौम साहित्य-मानस में उनका निरन्तर विकास भी होता रहा। और भी सूक्ष्म निरीक्षण से यह भी आभास मिलता है कि समाजवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषण, नव-कैथोलिक चिन्तन, अरविन्द-दर्शन और सर्वोदय-जैसे कभी-कभी सहयोगी और कभी-कभी घोर विरोधी धाराओं से प्रभावित जो उच्च कोटि का साहित्य लिखा गया, उसमें साम्प्रदायिक संकीर्णताओं का सचेष्ट या अज्ञात-रूपेण बहिष्कार मिलता है। यह इसी से सिद्ध है कि सम्प्रदायगत ईसाइयत और सम्प्रदायगत कम्युनिज़्म में बाहरी विरोध होते हुए भी मार्क्सीय आन्दोलनों के अर्थ समझाने के लिए कलाकारों ने जीसस की बलिदान-कथा के ही प्रतीकों को चुना। इसका कारण यह था कि वे उपमेय और उपमान में साधर्म्य के तत्व को स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में मार्क्सीय आन्दोलन उन्हीं स्थायी मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयत्न है जिनकी प्रतिष्ठा जीसस ने की थी। क्रान्ति के अमर गायक, महानतम आधुनिक रूसी कवि ब्लाक ने क्रान्ति की व्याख्या करते हुए कहा था, "जब कभी यह आदर्श—जो अनादि काल से जनता की आत्मा में सोया हुआ है—करवट बदलता है, अंगड़ाई लेकर जाग उठता है और ऐसी

१. 'क्रिश्चियानिटी, डिप्लोमेसी एण्ड वार'—प्रो० हरबर्ट बटरफील्ड।
२. मूल्यगत मर्यादा के लिए कोई उपयुक्त शब्द न पाकर मुझे मूल्य-मर्यादा शब्द गढ़ना पड़ा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा के रूप में शक्ति संचित कर बढ़ चलता है जिसे कोई भी तटरेखा या बाँध रोक नहीं पाते, तभी क्रान्ति होती है।"[1] अपनी अमर कविता 'ट्वेल्व' में उसने लाल सेना के १२ क्रान्तिकारी सैनिकों को बारह शिष्यों के रूप में परिकल्पित कर अन्तिम पंक्ति में कहा है: "प्रभु जीसस उनको राह दिखा रहे हैं।" लगभग २० वर्ष बाद जब स्पेन में फाशिस्त शक्तियों के विरुद्ध समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी शक्तियों ने संघर्ष किया, तब उसके एक जत्थे की अमर कथा लिखते हुए पुनः अर्न्स्ट हेमिंग्वे ने एक ईसाई भावना को आधार सूत्र बनाया। उस भावना के अनुसार प्रभु का अर्थ मानव-जाति की प्रगति में निहित है।[2]

यही नहीं वरन् इनकी साम्प्रदायिक परम्परा का परिहार करने के प्रति वे सचेत भी थे, यह जान स्टीनबेक की प्रख्यात कहानी 'द रेड' में मिलता है। डिक और रूट नामक दो श्रमिक कार्यकर्ता जब श्रम-संगठन के प्रयास में स्वतः श्रमजीवियों के ही पत्थरों से घायल होकर पड़े हैं तो रूट डिक को बाइबल के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें जीसस ने कहा है कि उन्हें क्षमा करो क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। डिक, जो उत्साही साम्यवादी है, तुरन्त एक उद्धरण देता है—"धार्मिक पचड़ा बन्द करो। जानते नहीं धर्म जनता के लिए अफीम है।" रूट तुरन्त अत्यन्त सहजभाव से उत्तर देता है—"धर्म? इसमें धर्म की बात क्या है? मुझे ऐसा ही लगा कि यह मैं कहूँ। लगा कि मुझे जो अनुभव हो रहा है उसे ऐसे ही कह सकता हूँ बस।" इस अत्यन्त मर्मस्पर्शी क्षण का चित्रण करते हुए लेखक ने दोनों पात्रों की संस्कारगत सीमाओं के बावजूद दोनों के लक्ष्य और दोनों की पीड़ा की मूल्यगत एकता का चतुर संकेत किया है। साहित्य सम्प्रदायगत सीमाओं से उबरकर इसी व्यापक मूल्यगत भूमि पर अपना विकास करता रहा है और इसी भूमि पर कट्टर विरोधी दीख पड़ने वाले निकाय भी इतिहास की सूक्ष्म दृष्टि में मिलते हुए दीख पड़ते हैं। साहित्य में इस नई मूल्यमर्यादा के विकास को समझने के लिए हमारी दृष्टि जितनी सूक्ष्म और व्यापक होनी चाहिए, अवैज्ञानिक पूर्वग्रहों से उतनी ही मुक्त भी।

: ३ :

साहित्य की मर्यादा—प्रगति; प्रगति की मर्यादा ?

१८वीं और १९वीं शताब्दी की चिन्तना के फलस्वरूप जिस मर्यादा ने साहित्य में अपने को प्रमुखतम रूप में विकसित किया, वह थी सामाजिक प्रगति की मर्यादा। प्रगति सिद्धान्त की व्याख्याओं के अन्तर्गत मानवीय इतिहास को निरर्थक, निष्प्रयोजन घटनाओं की क्रमागत कड़ी न मानकर उसको प्रयोजन से मुक्त गति माना जाने लगा—एक ऐसी प्रगति जो किसी निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख है। इन सिद्धान्तों में प्रगति की प्रणाली और उसके प्रयोजन लेकर काफी मतभेद था। कुछ वस्तुवादी थे, कुछ भाववादी। हीगेल ने सर्वप्रथम प्रगति की प्रणाली में विरोधी तत्वों को समाहरित कर लेने वाली द्वन्द्वात्मक पद्धति का आरोपण किया था। मार्क्स ने हीगेल के समस्त तर्कों को उलटकर भाववादी द्वन्द्वात्मक पद्धति को भौतिकवादी वर्गसंघर्ष के रूप

१. ब्लाक—स्पिरिट आफ़ म्यूज़िक।
२. "...I am involved in mankinde, so do not send to ask for whome the bell tolls, it tolls for thee."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बदल दिया और हीगेल के किसी अदृश्य मानवोपरि दिव्य-भाव का निषेधकर वर्गहीन समाज को ही ऐतिहासिक प्रगति की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि मार्क्स के कुछ विरोधी इसी आधार पर यह कहते हैं कि उसने भौतिकवाद की अतिरेकता को आरोपित कर मानवीय मूल्यों को कुण्ठित कर दिया, किन्तु भाववादियों की अपेक्षा का यह सिद्धान्त मानववादी मूल्यों की प्रतिष्ठा में उस समय अधिक सहायक सिद्ध हुआ क्योंकि वह तत्कालीन संकट की अधिक दुखती हुई रग को पकड़ने की सामर्थ्य रखता था। इसका कारण यह था कि मार्क्स का भौतिकवाद निष्क्रिय जड़वाद नहीं था, वह वस्तु को धारणा द्वारा ग्रहण करने की अपेक्षा उसके साक्षात्कार को क्रिया (practice) के माध्यम के बिना अपूर्ण मानता था और वह क्रिया भी अपने में निरपेक्ष न होकर सामाजिक सम्बन्धों के पुनर्गठन में आत्म-साफल्य पाती थी।[1] मार्क्स भौतिकवादी प्रगति-सिद्धान्त कितना घुमा-फिराकर जैसे मानववादी मूल्यों की स्थापना करता है जो घोर आत्मवादी सम्प्रदायों द्वारा सर्वमान्य हैं, यह स्वतः अपने में अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है। फिलहाल इतना संकेत करना यथेष्ट है कि मार्क्स द्वारा स्थापित प्रगति की मर्यादा में कोई ऐसा मौलिक अभाव नहीं था जो उससे प्रेरित साहित्य को मानववादी उत्कृष्ट साहित्य बनने से रोक देता। बीसवीं शती के प्रथम दो दशकों का बहुत सा कम्युनिस्ट साहित्य, जहाँ तक वह सम्प्रदायगत सीमाओं का तिरस्कार करता है, किसी भी धारा के श्रेष्ठतम साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है क्योंकि उनमें सम्प्रदायगत भेद प्रमुख न रहकर मूल्यगत-अभेद प्रमुख रूप से उभरता है।[2]

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया साहित्य में प्रगति की मूल्य-मर्यादा को सम्प्रदायगत अनुशासनों से मुक्त रखने की अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की गई। साहित्य की सहज स्वाभाविकता तो इसके मूल में थी ही किन्तु इसके कुछ अन्य कारण भी थे। मार्क्स ने साहित्य को वर्ग-संघर्ष का अस्त्र माना था और उभरते हुए वर्ग की आकांक्षाओं और दृष्टियों को प्रतिफलित करने वाले तथा वर्गहीन समाज की विकास-प्रक्रिया में सहायता देने वाले साहित्य को ही उसने

१. लुडविग फायरबख का परिशिष्ट। माओ त्से तुंग—'ऑन प्रैक्टिस'। हिन्दी के कई अमार्क्सवादी चिन्तकों ने इसे पहचाना है। पिछले 'आजकल' में प्रकाशित एक लेख में डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी कुछ अस्पष्ट ढंग से और 'क्वासि' की भूमिका में श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' स्पष्ट रूप से मार्क्स के भौतिकवाद की सक्रियता के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

२. अर्द्धराजनीतिक पत्रकार गोर्की से कलाकार गोर्की की दृष्टि कहीं अधिक व्यापक थी और इसमें अध्यात्मवादी कवि ब्लाक तक की मूल्यगत अभिन्नता मिलती थी, इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। अखिल रूसी धार्मिक दार्शनिक संसद की प्रथम बैठक (१९०८) में हरमन वैरिनव ने गोर्की के विरुद्ध जो आरोप लगाए उनका उत्तर देते हुए ब्लाक ने उसी समय 'जनता और बुद्धिजीवी' शीर्षक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था जिसमें रूसी धार्मिक बुद्धिजीवियों तथा लुनाचार्स्की, गोर्की तथा अन्य समाजवादियों के दृष्टिकोण में मूल्यगत एकता की ओर बड़ी स्पष्टता से संकेत किया था। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय बोलशेविकों के हाथ में सत्ता नहीं थी अतः वे ब्लाक के स्वतंत्र विचार नहीं थे, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगतिशील (प्रगति की मर्यादा से मुक्त) साहित्य माना था। किन्तु प्रश्न यह था कि इस उभरते हुए वर्ग का प्रतिनिधि कौन है, जो इन मर्यादाओं को निर्धारित करेगा ? मार्क्स का उत्तर था : 'कम्युनिस्ट पार्टी'। मार्क्स के समय में यह उत्तर यदि साहित्यिक नहीं तो कम-से-कम राजनीतिक स्तर पर पूर्ण संगत उतरा था। किन्तु आज पूछा जा सकता है : कम्युनिस्ट पार्टी तो कौनसी कम्युनिस्ट पार्टी ? स्तालिन की, या ट्राट्स्की की, या टिटो की ? फिर कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्वीकृत कौनसी व्याख्या ? दो दिन पहले वाली ? या दो दिन बाद वाली ? कहा जा सकता है जो नीति मार्क्सीय हो ? पर आज तो हर नई नीति मार्क्स के उद्धरणों के साथ अपनाई जाती है और कुछ दिनों बाद मार्क्स के उद्धरणों के साथ दफ़ना दी जाती है। हर वामपक्षी दल दूसरे वामपक्षी दल पर मार्क्स के प्रति विश्वासघात का दोषारोपण करता फिरता है।[1] इसके बीच सही कौन है इसका निर्णय कौन करेगा ? हमारा विवेक ? यदि हमारा विवेक ही अन्ततोगत्वा प्रमुख निर्णयकर्ता है तो सम्प्रदाय के अनुशासन की क्या सार्थकता ? क्यों न हमारा विवेक ही प्रगति की मर्यादा निर्धारित करे ? क्योंकि साहित्यकार का सहज विवेक निस्सन्देह उसे सम्प्रदायगत संकीर्णताओं का अतिक्रमण कर व्यापक मानववादी मर्यादा-भूमि पर लाकर खड़ा कर देता है जहाँ वह अन्य सभी सम्प्रदायों के मानववादी कलाकारों से मिलकर किसी तात्कालिक राजनीतिक स्वार्थ पर संयुक्त मोर्चा न बनाकर एक व्यापक और स्थायी जनवादी मूल्य की मर्यादाभूमि पर अपने नये सम्बन्ध विकसित करता है, अपने उपलब्ध सत्य को दूसरों द्वारा उपलब्ध सत्य से सम्बन्धित कर उसे पूर्ण और व्यापक बनाता है। तो क्या साहित्य पक्षधर नहीं होता ? यह प्रश्न उठता है। हाँ, होता है, किन्तु वह एक एकांगिता के विरुद्ध दूसरी एकांगिता का पक्ष ग्रहण नहीं करता, वह एक अन्याय के विरुद्ध दूसरे अन्याय का पक्ष ग्रहण नहीं करता—वह एकांगिता के विरुद्ध व्यापकता का, अन्याय के विरुद्ध न्याय का, सीमा के विरुद्ध मूल्य-मर्यादा का पक्ष ग्रहण करता है। सांस्कृतिक स्तर पर पक्षधरता क्यों दलगत न होकर मूल्यगत ही होती है इसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है।[2] सम्प्रदायगत मर्यादाओं के आतंक से प्रगति-भावना की मुक्ति साहित्य-चेतना के विकास में एक ऐसा मोड़ है जो अत्यन्त आशामयी और प्रकाशपूर्ण दिशाओं में ले जाने की सामर्थ्य रखता है।

: ४ :

प्रगति-भावना में एक अन्य मान्यता का विकास भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, जो एक प्रकार से पिछली बात का ही तर्कसंगत अवश्यम्भावी परिणाम है। मार्क्स ने प्रगति-भावना के निर्णयात्मक पक्ष को बाह्य अर्थ-व्यवस्था में स्थित माना था। सम्प्रदाय या पार्टी उसी अनिवार्यता का प्रतिवहन करती है। १८वीं शताब्दी में प्रगति के सम्बन्ध में नियति की-सी अनिवार्यता की धारणा अकेले मार्क्स की नहीं रही है। वस्तुवादी और भाववादी दोनों प्रकार के चिन्तकों ने इस धारणा को प्रश्रय दिया है। किन्तु इस प्रकार का नियतिवादी दर्शन मानव की सहज-स्वतन्त्र आन्तरिक अनुप्रेरणा को कई ढंग से कुण्ठित कर देता है। इस अभाव से उत्पन्न प्राणहीनता

१. एक दूसरे प्रसंग में सार्त्र ने भी यही प्रश्न उठाया है। द्रष्टव्य "एक्ज़िस्टेन्श्यलिज़्म एंड ह्यूमेनिज़्म" का परिशिष्ट।

२. द्रष्टव्य—'आलोचना'—सम्पादकीय। अंक ७ पृष्ठ ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्सर मार्क्सीय पद्धति में भी अनुभव की गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि मानव-स्वातन्त्र्य की स्थिति को मार्क्स ने भी ऐतिहासिक प्रगति का लक्ष्य माना था, यद्यपि वह मानता था कि उसका पूर्ण साक्षात्कार वर्गहीन समाज में ही हो सकता है। अपने नियतिवाद और मानव-स्वातन्त्र्य के प्रति अपनी आस्था में मार्क्स एक संगति स्थापित करना चाहता था और जब एक ही तर्कप्रणाली द्वारा वह सम्भव न हो सका तो उसने कभी इस पर और कभी उस पर बल दिया। बाद में मार्क्स के अनुयायियों के लिए यह अन्तर्विरोध और भी जटिल सिद्ध हुआ और इतिहास में कहाँ तक बाह्य स्थिति मनुष्य की आन्तरिक मूल्यगत चेतना को प्रभावित करती है, कहाँ तक मूल्यपरक चेतना बाह्य स्थितियों को प्रभावित करती है, इस प्रश्न पर मार्क्सवादी शिविरों में भयानक बौद्धिक संग्राम हुए हैं।

इस अन्तर्विरोध के अतिरिक्त और भी मार्क्सीय चिन्तन के कई पक्ष ऐसे हैं जो पिछले सौ वर्ष की वैज्ञानिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। पदार्थ-विज्ञान के सापेक्षतावाद, क्वान्टम सिद्धान्त, इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त ने भौतिकवाद की उन मान्यताओं पर तीव्र आघात पहुँचाया है जिस पर मार्क्स का यान्त्रिक नियतिवादी दर्शन आधारित था।[1] उसके अर्थशास्त्र को स्वतः क्रोचे ने अस्वीकृत कर दिया जो किसी समय मार्क्सवादियों के इतना निकट था कि कम्युनिस्ट पत्र उसे कामरेड क्रोचे कहते थे। इतिहास-दर्शन में भी स्पेंगलर आदि ने रेखाकार प्रगतिवाद के बजाय संस्कृतियों के वृत्ताकार उत्थान और पतन की पद्धतियाँ प्रचारित कीं। इनमें से कौन सत्य है कौन मिथ्या, यह निर्णय करना हमारा उद्देश्य नहीं, यहाँ पर केवल यह संकेत किया जा रहा है कि प्रगति-सिद्धान्त की मार्क्सीय पद्धति के तर्कों को वैज्ञानिक चिन्तन के नवीनतम विकास से बहुत समर्थन नहीं मिलता रहा है। चिन्तनधाराओं की गति के अतिरिक्त पिछले सौ वर्षों में वास्तविक राजनीतिक इतिहास की गति ने कई बार मार्क्सीय पद्धति की अनिवार्यता का अतिक्रमण किया (लेनिन द्वारा आयोजित रूसी क्रान्ति और माओ द्वारा आयोजित चीनी क्रान्ति ही स्वतः इसके सबसे बड़े प्रमाण हैं। अमेरिकन और अंग्रेज़ी प्रोलेटेरियट द्वारा कम्युनिज़्म की अस्वीकृति भी ऐसी ही घटना है। गांधी द्वारा प्रेरित भारत की अहिंसात्मक क्रान्ति तो उन समस्त मूल्यों के प्रति सबसे बड़ा प्रश्नचिह्न है, यह स्वतः कामरेड रोमारोलां ने घोषित किया था)। जहाँ मार्क्सवादी अनिवार्यता को जीवन की कसौटी पर कसा गया उस सोवियत क्षेत्र में आर्थिक विकास के बावजूद सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति का पूर्ण अभाव रहा और क्रान्ति की भूमिका के रूप में जिस रूस ने तुर्गनेव, डास्टाएव्स्की, टालस्टाय, चेखव, गोर्की, ब्लाक और मायकाव्स्की उत्पन्न किये थे, उसका सांस्कृतिक व्यक्तित्व दिनोंदिन कुण्ठित, बौना और छिछला होता गया। चारों ओर यह अनुभव किया गया कि प्रगति की कसौटी ही बदली जानी चाहिए। प्रगति की कसौटी मनुष्य है—मनुष्य अपनी आन्तरिक मर्यादाओं सहित। और बाह्य परिस्थितियाँ उसका आन्तरिक विकास करें ही, यह आवश्यक नहीं। आन्तरिक विकास के लिए आन्तरिक प्रेरणा होनी चाहिए। इस प्रकार प्रगति की मर्यादा को मानव के अन्तर में आरोपित किया गया। मनुष्य तभी प्रगति करता है जब उसके अन्तर में प्रगति की

१. द्रष्टव्य—'आलोचना' अंक १० में आई० ए० एक्सट्रॉस द्वारा लिखित 'वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन' शीर्षक लेख का विज्ञान-सम्बन्धी अंश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक प्रेरणा हो। कोई सर्वदा बाह्य परिस्थिति मानवीय प्रगति का दायित्व नहीं ले सकती। इस प्रकार प्रगति की मर्यादा को न केवल सम्प्रदायगत सीमा से मुक्ति मिली वरन् बाह्य से उसका संचरण अन्तर की ओर हुआ।

यह संक्रमण मार्क्सीय चिन्तना में प्रतिबिम्बित न हुआ हो ऐसी बात नहीं है। वैसे आज का सामान्य मार्क्सीय लेखक अपेक्षाकृत अधिक रूढ़िवादी होता है। और नये विकास को यथासम्भव स्वीकार नहीं करना चाहता। फिर भी साहित्यिक होने के नाते मूल्यगत मर्यादा के प्रति उसमें एक अप्रत्यक्ष निष्ठा होती ही है। परिणामस्वरूप ऐसे बहुत-से मार्क्सीय लेखक हैं, जिनमें यह द्वन्द्व स्पष्ट उभरा है। वे साम्प्रदायिक सीमा को अस्वीकार नहीं कर पाते और फिर भी मनुष्य के आन्तरिक मूल्यों पर पुनः ध्यान आकर्षित करने की अनिवार्यता से प्रेरित होकर ईमानदारी, अच्छाई, बुराई आदि की भावनाओं को किसी तरह मार्क्सीय चिन्तन के ढाँचे में ही विकसित करना चाहते हैं; यद्यपि अभी तक मार्क्सीय चिन्तन में इनको पतनोन्मुखी आत्मनिष्ठ निरर्थक बूर्जुआ शब्दावली कहा जाता रहा है। यही नहीं वरन् अधिकांश प्रजातन्त्रवादी देशों का शान्ति-समस्या पर लिखा गया कम्युनिस्ट-साहित्य एक बार फिर इन्हीं आन्तरिक मूल्यों को अभिहित करने वाली शब्दावली का व्यवहार करने लग गया है। चीनी कम्युनिस्ट-पार्टी के प्रख्यात चिन्तक ल्यू शाओ चि की कृति का शीर्षक "How to be a Good Communist" स्वतः चौंका देने वाला है। यद्यपि उसने मनुष्य के वर्गाश्रित स्वभाव की व्याख्या की है किन्तु चीनी दर्शन से परिचित कोई भी व्यक्ति पहचान सकता है कि इस संकट के समाधान के लिए ल्यू शाओ चि बार-बार मार्क्स को खींच-खींचकर कन्फ्यूशस के द्वार पर ले गया है। यह सब अभी अंकुर रूप में ही है किन्तु इस बात की पूर्व सूचना है कि मार्क्सवाद के अन्तर्गत संकीर्ण साम्प्रदायिक रूढ़ि से मुक्त, व्यापक मूल्य-मर्यादा से युक्त महायान को विकसित होना ही है, यद्यपि अभी वह सम्प्रदायगत रूढ़िवादिता से जोर आजमाइश कर रहा है।

: ५ :

आधुनिकतम वैज्ञानिक चिन्तन का झुकाव इस मत की ओर अधिक है कि प्रगति की मर्यादा मनुष्य की आन्तरिक मर्यादा है। गिन्सबर्ग ने बड़ी कुशलता से पिछली तीन शताब्दियों की वास्तविक प्रगति और उनकी व्याख्या करने वाले प्रगति-सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण करके यह निर्धारित किया है कि विवेक पर आधारित न्याय के प्रति मानववादी आग्रह ही प्रगति की मूल प्रेरणा है और एक विवेकवादी सामाजिक नैतिकता ही उसकी मूल्य-मर्यादा हो सकती है। वह यह भी मानता है कि इस विवेकवादी नैतिकता में सभी के लिए कोई यान्त्रिक अधिनियम या सभी के लिए एक-सी पोशाक नहीं होती।[1] इसमें मानवता के विभिन्न आयामों के पूर्णतम उदय (सर्वोदय) की सुविधा है। प्रगति की ओर मनुष्य को उन्मुख करने वाली इस वृत्ति को विभिन्न विचारकों ने विभिन्न नाम दिये हैं। गिन्सबर्ग इसे विवेकवादी नैतिकता कहता है, अधिकांश ईसाई-चिन्तक (चाहे वे कैथोलिक हों, प्रोटेस्टेण्ट हों या अस्तित्ववादी) इसको ईसाई संज्ञा देते हैं, गांधी-विनोबा इसे सर्वोदय-वृत्ति कहते हैं, अरविन्द इसको मनुष्य की भविष्यत्मुखी चेतना कहते हैं।

यहाँ पर पुनः एक सूक्ष्म खतरे को समझ लेना आवश्यक है। यह विवेकवादी नैतिकता

1. मारिस गिन्सबर्ग—'आइडिया ऑफ़ प्रोग्रेस'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बात पर आग्रह करती है कि हम भविष्य में जिन मानवीय मूल्यों के विकास का स्वप्न देखते हैं उन्हें हम इसी क्षण अपने आचरण और जीवन-पद्धति में प्रतिष्ठित करें। यदि हम ऐसा नहीं करते और भविष्य के किसी अदृश्य वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर मानववादी मूल्यों का तिरस्कार करते हैं तो हम प्रगति की आस्था को आन्तरिक रूप से पराजित करके एक प्रकार के नये भाग्यवाद को प्रश्रय देने लगते हैं। जिस प्रकार पुराना परम्परा-पूजक भाग्यवादी "होइहै सोइ जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावइ साखा" कहकर निष्क्रिय होकर बैठ रहता है, उसी प्रकार अपने स्वतन्त्र चिन्तन और विवेक को तिलांजलि देकर बाह्यारोपित प्रगति-भावना को एक क्रूर मालिक की भाँति स्वीकार करके हम सारी निरंकुशता को चुपचाप सहकर भविष्य के सहारे बैठ रहने के आदी हो जाते हैं। हम समझते हैं कि इतिहास एक बँधे हुए द्वन्द्वात्मक साँचे में ढल रहा है; अतः यदि उसके दौरान में झूठ बोले जाते हैं, राजनीतिक बन्दियों के कैम्प खोले जाते हैं, नीतियाँ बदलते ही दस-बीस व्यक्ति बिना किसी खुले मुकदमे के फाँसी पर लटका दिए जाते हैं तो यह सब जायज है; क्योंकि इतिहास तो अपने ढंग से ही चलेगा। आज यह सब उचित है; क्योंकि भविष्य में यह सब उचित नहीं रहेगा। वर्गहीन समाज में सत्य, प्रेम, मानवता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता सभी विकसित होंगे; अतः यदि आज उसके लिए सत्य की हत्या होती है, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण होता है तो कोई हानि नहीं। किन्तु यह भाग्यवादी रुग्ण दृष्टिकोण है, प्रगतिशील स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं। प्रथम प्रकार का भाग्यवाद परम्परा के नाम पर नैतिक निष्क्रियता को उचित मानता है, यह नये प्रकार का भाग्यवाद स्वतः प्रगति के नाम पर नैतिक निष्क्रियता और प्रगति के औचित्य को स्थापित करने का प्रयास करता है।

बर्डेव इसकी एक नई व्याख्या देता है। वह इसको पलायन-प्रवृत्ति मानता है, जो वर्तमान की कायरता और निष्क्रियता की क्षति-पूर्ति भविष्य के कल्पित स्वप्न में करती है। मनुष्य जैसे वर्तमान की विवशता, दासता, पीड़ा और कुण्ठा को भुलाने के लिए कभी-कभी अतीत की मधुर कल्पनाओं में आश्रय ग्रहण करता है—वर्तमान को बदलने का प्रयास नहीं करता, उसी तरह आज का कोई भी लेखक; जो सत्य के नाम पर असत्य, प्रेम के नाम पर आतंक, शान्ति के नाम पर युद्ध, स्वतन्त्रता के नाम पर दासता सहन कर लेता है, वास्तव में प्रगतिवादी नहीं है—पलायनवादी है। भविष्य, वर्तमान से सर्वथा विच्छिन्न वस्तु नहीं है; समाज का वह रूप, जो हम आज बना रहे हैं, वही कल बनकर अवतरित होगा। समय को टुकड़ों में तोड़ देने की हमारी आदत हमें इस बात का अधिकार नहीं देती कि हम अन्तिम टुकड़े (भविष्य) को मध्य के टुकड़े (वर्तमान) से अधिक वास्तविक समझें। प्रगति की मर्यादा इसी क्षण की मर्यादा है, जिसका औचित्य किसी परिकल्पित अनुमानित भविष्य में नहीं वरन् इसी क्षण की ठोस और यथार्थ परिस्थितियों में किये गए हमारे विवेकपूर्ण आचरण में है।

: ६ :

प्रगति की मर्यादा-आचरण;
आचरण की मर्यादा!

मूल्य-मर्यादा की ही भाँति आचरण भी एक विशेषार्थक शब्द है और जब हम कहते हैं कि कोई बाह्यारोपित व्यवस्था नहीं वरन् विकास की दिशा में हमारा आचरण ही वास्तविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतिहासिक प्रगति है, तो आचरण की प्रगति को समझ लेना आवश्यक है।

आचरण के लिए प्राथमिक शर्त है—स्वतन्त्र विवेकपूर्ण मानवीय संकल्प। पानी का बहना, पहिये का घूमना और घड़ी का बन्द हो जाना उनका आचरण नहीं है। किन्तु मनुष्य का कड़वी बात बोलना, आक्रमण करना या सहायता देना—उसका आचरण है; क्योंकि पहिये का घूमना उसके विवेकपूर्ण निर्णय और स्वतन्त्र संकल्प का परिणाम नहीं है। मनुष्य के व्यवहार उसके विवेकपूर्ण संकल्प के परिणाम हैं; अतः वे आचरण हैं, जिनके लिए वह उत्तरदायी है। आचरण की इस प्रकृति को स्वतन्त्र और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत देश इस सीमा तक मानते हैं कि वह मनुष्य की उन क्रियाओं को भी उसका दायित्वपूर्ण आचरण नहीं मानते जो वह बेहोशी में, नींद में, पागलपन में या विवेक-रहित चरम भावावेश में करता है।

चूँकि प्रगति का विधायक है मनुष्य का स्वतन्त्र विवेकपूर्ण आचरण, अतः इतिहास में जिन प्रतिक्रियावादी राज-सत्ताओं, धार्मिक सम्प्रदायों या अर्थ-व्यवस्थाओं ने मनुष्य का विकास और प्रगति रोकनी चाही है उनका यही प्रयास रहा है कि किसी तरह मनुष्य के स्वतन्त्र विवेक को भौतिक अभाव, कुरुचि या अनुशासन द्वारा पराभूत करके उसकी क्रिया को विवेक से रहित पागलपन, मूर्छा या भावावेश की क्रिया-मात्र बना दिया जाय। ऐसी स्थिति में मनुष्य पशुधर्मी या वस्तुधर्मी हो जाता है और उस पर दुकानदार की तरह या चरवाहे की तरह अधिकार रखा जा सकता है, उसे बेचा जा सकता है या हाँका जा सकता है। यदि वह सत्ता पूँजीवादी है तो आर्थिक विभिन्नता द्वारा सुरक्षा से वंचित करके उसके विवेक को पराभूत कर देती है, उसके संकल्पात्मक साहस को नष्ट कर देती है, यदि वह फाशिस्त है तो अतीत के प्रति गलत गर्व जगाकर, कल्पित आर्य जाति का स्वाभिमान और यहूदियों के प्रति अविवेकपूर्ण घृणा जगाकर उनको मन्त्रमुग्ध कर लेती है। कम्युनिस्ट है तो उसके विचारों और ज्ञान के साधनों पर नियन्त्रण करके, प्रचार के राष्ट्र व्यापी साधनों द्वारा उसको अर्द्ध ज्ञान और अज्ञान के स्तर पर हिप्नोटाइज करके उसके आचरण के विवेक को हर लेती है और विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। आचरण और विवेक के बीच की यह खाई शायद मानव-संस्कृति का सबसे बड़ा संकट है, जिसकी पीड़ा की चरम अनुभूति टी० एस० इलियट ने व्यक्त की थी :

Between the idea
And the reality
Between the motion
And the act
Fallas the shadow[1]

प्रसादजी ने भी लगभग इसी शब्दावली में यह पीड़ा व्यक्त की है :

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
क्यों इच्छा पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।

इसी संकट को कार्ल यास्पर्स-जैसा गहन चिन्तक भी व्यक्त करते हुए पीड़ा से व्यथित होकर दर्शन की नहीं काव्य की भाषा बोलने लगता है। वह कहता है : "विवेक वास्तव में

१. टी० एस० इलियट—'द हॉलो मेन'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्निहित एकता का संकल्प है लेकिन इन व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों द्वारा बार-बार किसकी हत्या हो रही है ? कौन है जो इन गलत पगडण्डियों पर बार-बार हमसे छूटा जा रहा है ? वह है मनुष्य के अस्तित्व के विकास की सम्भावना; जिसका साधन है—मात्र-विवेक।''[१] यही नहीं वह यह भी मानता है कि इन दूषित परिस्थितियों ने विवेकपूर्ण सिद्धान्तों का तिरस्कार करके उन बाजीगरों और ज्योतिषियों को मान्यता दिलाई है जो मानव-विवेक पर नहीं बल्कि संकट-काल में उभरने वाली उसकी अन्ध-विश्वासी प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करते हैं। पतन-शीलता के क्षणों में, निराशा और कायरता की घड़ियों में बार-बार जनता ने इन नटों, बाजीगरों, तांत्रिकों, ऐन्द्रजालिकों और चमत्कारवादियों को मान्यता प्रदान की है; जो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण के मन्त्र और अनुष्ठान बनाते हैं और अपनी झोली में हर व्याधि की दवा रखने का दावा करते हैं। वह मार्क्सवाद और बूर्जुआ मनोविज्ञान दोनों को ही मानव के स्वतन्त्र विवेक का शत्रु मानता है, जो केवल संकट के क्षणों के भावावेश का सहारा लेकर पोषित हो रहे हैं।

: ७ :

लेकिन कार्ल यास्पर्स के निष्कर्ष से बहुत अंशों तक सहमत होते हुए भी आचरण पर मूल्य-मर्यादा की व्यापकता के आधार पर हम उसके आकलन के सर्वांश से सहमत नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए यह कहना अन्याय होगा कि मार्क्स ने आचरण की मर्यादा स्वीकार ही नहीं की। यह पहले कहा जा चुका है कि मार्क्स ने अपने भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कहा था कि वस्तुसत्य को धारणा द्वारा नहीं वरन् सक्रियता द्वारा हृदयंगम करना चाहिए। इस-लिए बार-बार मार्क्सीय शासकों द्वारा यह बताया जाता है कि सैद्धान्तिक चिन्तन ही नहीं वरन् क्रान्तिकारी सक्रियता (revolutionary practice) मानव-सत्य के मार्क्सीय रूप को समझने के लिए अनिवार्य है।[२] लेकिन मार्क्स का यदि आशय यह था कि वह इस सक्रियता को ही आचरण का स्थानापन्न बना दे तो वह सम्भव न हो सका; क्योंकि इस प्रकार की अनुशासित, आयोजित और नियन्त्रित सक्रियता कल-कारखानों के मशीनी पुर्जों के लिए उपादेय है, और मानवीय आचरण के लिए सर्वथा अस्वाभाविक; क्योंकि उसमें विवेक की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं रहती। लेकिन मार्क्स के चिन्तन की इस हदबन्दी से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि मार्क्स इसके महत्त्व से अवगत नहीं था और न यही निष्कर्ष निकलता है कि अधुनातन कम्युनिस्ट कमिस्सार कलाकार के आचरण और विवेक के इस विभाजन द्वारा आ जाने वाले गतिरोध और कुण्ठा से अवगत नहीं हैं। ज़्डैनव के तीव्र भर्त्सनात्मक वक्तव्य तथा कुओ मो जो और चाउ एन लाई के चीनी कलाकारों के प्रति उद्बोधनात्मक सन्देशों में इस आन्तरिक संकट की गहरी चेतना मिलती है किन्तु उनकी सम्प्रदायगत सीमाएँ मानव-विवेक को स्वाधीनता देने के पक्ष में नहीं हैं; अतः उनका चिन्तन विकासोन्मुख न होकर एक अन्य वृत्त में ही घूमकर रह जाता है।

मार्क्सवाद के बाद इस सांस्कृतिक संकट के दौरान में दूसरा इन्द्रजाल मनोविश्लेषण का रहा है, ऐसा कार्ल यास्पर्स कहता है। इसका कारण यह है कि मनोविश्लेषण ने भी ऐसे सिद्धान्त प्रचारित किये हैं जो मानव-आचरण को उसके स्वतन्त्र विवेक और वैयक्तिक संकल्प का परिणाम

१. **कार्ल यास्पर्स—'रीज़न एण्ड एण्टी रीज़न इन अवर टाइम्स'।**
२. **माओ-त्से-तुङ्—'ऑन प्रैक्टिस'।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न मानकर उसकी ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो मनुष्य को एक सभ्य पशु या अनपहचाना हुआ विक्षिप्त मानती हैं; जिनके अनुसार मनुष्य का तथाकथित विवेकपूर्ण व्यवहार भी विश्लेषण के बाद उसके अचेतन में स्थित दमित वासनाओं, अन्ध प्रवृत्तियों और कुण्ठित कामनाओं की यान्त्रिक प्रतिक्रिया-मात्र सिद्ध होता था। फ्रायड ने स्पष्ट कहा था कि हमारे मन की चेतन परत तो केवल एक तिहाई होती है। उसके नीचे दो तिहाई अर्द्ध चेतन और अचेतन मानसिकता है, जिसका बोध नहीं रहता। उन जमींदोज तहखानों, सुरंगों और काल कोठरियों में हमारे पुराने भय, पुरानी आशंकाएँ, पुरानी घृणाएँ बहुत गहरे उतरकर छिपकर बैठ जाती हैं और वे चेतन स्तर पर होने वाले निर्णयों को अदृश्य सूत्र द्वारा कठपुतली की तरह संचालित करती रहती हैं।

इस प्रकार वास्तव में यासपर्स का यह आरोप सही सिद्ध होता है कि मनोविश्लेषण एक दूसरे प्रकार की यान्त्रिकता का प्रतिपादन करता है और स्वतन्त्र विवेक और संकल्प को अस्वीकार करके मनुष्य की विकासोन्मुख दिशाओं को अवरुद्ध करता है। फ्रायड के चिन्तन की इसी सीमा को पहचानकर उसके दोनों शिष्य युङ्ग और एडलर उसके जीवन-काल में ही उससे पृथक् हो गए थे, युङ्ग ने इस यान्त्रिकता के परिहार के लिए व्यक्तित्व के सृजनात्मक सन्तुलन का सिद्धान्त विकसित किया, जिसे वह आत्मा का स्थानापन्न मानता है। एडलर ने मानव-व्यक्तित्व को उसके सामाजिक सम्बन्धों में आँकने की दिशा अपनाई, ग्रोडेक ने अहम् के अतिरिक्त अन्तर्जगत् में इदम् की आन्तरिक व्याख्या प्रस्तुत की और उसके बाद के बहुत-से चिन्तक विभिन्न दिशाओं में मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का जो विकास कर रहे हैं वह दिनानुदिन मानव-विवेक और संकल्प के महत्त्व को पुनः स्थापित कर रहा है।

किन्तु यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि मानवीय मूल्य-मर्यादाओं को अपनी सहज प्रकृति से ग्रहण करने वाले साहित्य ने मनोविश्लेषण की यान्त्रिकता को कभी भी यथावत् नहीं स्वीकार किया था। फ्रायड के पहले भी कलाकार अन्तर्जगत् के इन रहस्यों से अपरिचित नहीं था और फ्रायड के दस-बीस वर्ष पूर्व ही डास्टावस्की की वे अमर कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं, जिन्हें मनुष्य के अज्ञात अचेतन जगत् का विराट् मानचित्र कहा जाता है। लेकिन फ्रायड ने जब डास्टावस्की का अध्ययन किया तो उसे कहीं कुछ ऐसा मिला, जो उसके यान्त्रिक मनोविश्लेषण के संकीर्ण सिद्धान्त में नहीं बँध पाता था। उसने स्पष्ट कहा कि इस साहित्य में कहीं कुछ है जिसके सामने मनोविश्लेषण को अपने हथियार रख देने पड़ते हैं। वह कुछ क्या है?

आज इस प्रश्न का उत्तर सरल है। डास्टावस्की इन अन्ध चेतनाओं की पराजय और मानव-संकल्प की विजय को बड़ी सूक्ष्मता से स्थापित करता है। यद्यपि वह बार-बार ईसाई साम्प्रदायिक चिन्तन की भाषा में बोलता है किन्तु वह इन आसुरी शक्तियों पर जीसस की विजय को अनिवार्य मानता है। जीसस वास्तव में मानवीय संकल्प के विकासोन्मुख रूप का प्रतीक है, जो करुणा और क्षमा द्वारा मनुष्य के अन्तर में बैठी हुई अन्ध आसुरी शक्तियों को क्षीण कर देता है।[1] हिन्दी के उन लेखकों में भी, जिन्होंने मनोविश्लेषण का सहारा लिया, अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से यह संस्कार रहा है। इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' की भूमिका में मन की अतल गहराई में स्थित नरक में ही स्वर्ग के अवतरण की कल्पना की थी और अन्तिम कृति 'जिप्सी' में तो वे जीसस की ही कथा के प्रतीकों को ले आए हैं। अज्ञेय के 'शेखर' के द्वितीय भाग में बाबा मदनसिंह

१. द्रष्टव्य—द डेविल्स, ब्रदर्स कारॉमज़व—'ए लिटिल मीक गर्ल'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का चरित्र और उनके सूत्र, जिनमें दर्द के द्वारा विश्वास की उपलब्धि बताई गई है, इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। उनकी कुछ कविताओं में तो यह भी कहा गया है कि यह दर्द जिनको माँजता है उन्हें मुक्त करता है और उन्हीं को यह दृष्टि भी देता है कि वे दूसरों को मुक्त रखें।

: ८ :

इधर अन्तर्जगत् की एक नई व्याख्या अरविन्द ने की है, जिसकी स्थापनाओं से चाहे लोग पूर्णतया न सहमत हों किन्तु जिसका प्रभाव भारतीय साहित्यिकों पर काफी रहा है। फ्रायड के अचेतन और अर्द्ध चेतन की ही तरह अरविन्द ने चेतन स्तर के बाद ऊर्ध्व चेतना के स्तर परिकल्पित किये और उनके लिए डार्विन के विकासवाद के कुछ तर्क अपनाए। अरविन्द ने कहा कि अमीबा से लेकर मनुष्य तक जीव की चेतना का निरन्तर विकास होता गया है; किन्तु मनुष्य तक आकर ही उसका विकास रुक जाय इसका कोई कारण नहीं दृष्टिगोचर होता। इसके साथ-ही-साथ पाश्चात्य मनोविज्ञान मनुष्य के आचरण की प्रेरणा उसके अतीत में मानता है, लेकिन उसका भविष्य-विकास भी उसके वर्तमान आचरण का कारण (प्रयोजन के रूप में) बन सकता है इसकी ओर से वह दृष्टि फेर लेता है।[1] अरविन्द और उनके प्रतिभाशाली अनुयायियों ने इस प्रकार ऊर्ध्व चेतना के विकासोन्मुख स्वभाव की प्रतिष्ठा करके उसमें संकल्प की वृत्ति जगाकर उसके आचरण को सार्थक और प्रयोजनवान बनाया; यह उनकी बहुत बड़ी देन है। किन्तु जहाँ वे आचरण की मर्यादा को वर्तमान जीवन के बजाय किसी रहस्यमय भविष्य और मानवोपरि दिव्य सत्य की ओर उन्मुख मानने लगते हैं, वहीं वे लगभग उसी प्रकार के पलायन का प्रतिपादन करते हुए से प्रतीत होते हैं जिसका दोषी मार्क्सीय भाग्यवाद है; जो भविष्य के स्वप्न में मानसिक क्षति-पूर्ति करता है। रहस्यवादी चिन्तनों की इस दुर्बलता की ओर आर्थर केस्लर ने अपने प्रख्यात निबन्ध 'योगी एण्ड द कमिस्सार' में संकेत किया है जहाँ वह यह कहता है कि अक्सर अपने द्वारा प्रतिपादित मूल्य-मर्यादाओं की स्थापना समाज में न कर पाकर योगी किसी कल्पित दिव्यता या परमत्व में आश्वासन खोजने लगता है। अरविन्द के दर्शन का यह अंश आचरण के प्रति मानव-संकल्प को कहीं दुर्बल तो नहीं कर देता इसके विषय में अभी काफी आशंकाएँ हैं।

: ९ :

संकल्प और आचरण की एकतापरक मर्यादाओं का सबसे स्पष्ट निरूपण उन नई विचार-धाराओं में मिलता है जो मानवीय आचरण की सार्थकता एक ऐसी सामाजिक सन्तुलित वैयक्तिकता में मानते हैं जो कुछ स्थायी किन्तु विकासशील मूल्यों द्वारा मर्यादित होती है। पच्छिम में ऐसी अधिकांश चिन्तन-धाराएँ, चाहे वे कैथोलिक हों या ईसाई अस्तित्ववादी, 'बाइबल' में जीसस के प्रवचन की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं और पूर्व में इन नई चिन्तनाओं का आधार गीता की नई व्याख्या है। इन दोनों में अद्भुत समानता है। यह गांधी के चिन्तन-विकास से ही स्पष्ट है; जो एक ओर गीता और दूसरी ओर रस्किन के 'अन टु दिस लास्ट', टाल्सटाय के निबन्धों

१. इस विषय में इण्डियन फिलासफिकल कांग्रेस (१९४६) में मनोविज्ञान परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया डॉ० इन्द्रसेन का भाषण पठनीय है; जिसमें उन्होंने अरविन्द की कसौटी पर मनोविज्ञान के आधुनिकतम निकायों की परीक्षा की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जीसस के पर्वत-प्रवचन से प्रेरित है। गांधी द्वारा प्रस्तुत जीवन-दर्शन में मानव-विवेक की स्वतन्त्रता की एक क्रान्तिकारी व्याख्या की गई है। उनका यह कहना था कि आचरण में न केवल संकल्प वरन् साध्य और साधन की एकता भी आवश्यक है, क्योंकि यदि हमारा साध्य समता और प्रेम है और उसकी स्थापना के लिए हम विषमता और घृणा को प्रयुक्त करते हैं तो वास्तव में हम अपने विवेक को पराधीन ही बना लेते हैं। क्योंकि हमारा आचरण हमारे द्वारा स्वीकृत मूल्य पर आधारित नहीं रहा; वह तो प्रतिपक्षी का जवाब देने के लिए उसीके साधन-द्वारा अनुशासित विवेक हो गया। "सामने वाला जैसा होगा वैसा हम बनेंगे," इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायगा वैसा ही हम नाचेंगे। आरम्भ शक्ति या पहल (इनिशिएटिव) हमने उसके हाथ सौंप दी। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्ट चक्र तैयार होता है। दुर्जनता का एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए।' इस प्रकार साध्य और साधन के बीच जो खाई पड़ गई थी उसकी यह सबसे नाज़ुक दरार थी और हमारे विवेक को पराधीन बनाने वाली सबसे बारीक मगर सबसे मज़बूत जंजीर थी जिसकी ओर गांधी ने संकेत करके विश्व की विचार-धारा को सबसे अधिक झकझोरा है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है रोमारोलाँ, स्टीफेन ज्वीग, आल्डुअस हक्सले, केस्लर, आडेन, स्पेण्डर, इशरवुड, इलियट, हरबर्ट रीड, गेब्रीला मिस्त्राल, लिनयुतांग, सभी एक के बाद एक गांधी-विनोबा की साध्य-साधन-एकता के सिद्धान्त को ही अन्तिम औषधि के रूप में स्वीकार करते गए हैं। कृष्ण द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्म की मूल्य-मर्यादा को नये ढंग से विकसित किये बिना, मानव-विवेक की इस अन्तिम हिंसा-परक, मिथ्या-परक जंजीर को तोड़े बिना भविष्य का स्वप्न सन्दिग्ध है, इसी तथ्य की ओर टी० एस० इलियट का संकेत है, जब वह कहता है :

I sometimes wonder if that is what Krishna meant—
Among other things—or one way of putting the same thing:
That the future is a faded song, a royal rose or a lavender spray
Of wistful regret of those who are not yet here to regret
Pressed between yellow leaves of a book that has never been opened.[२]

भविष्य को प्रकाश में लाने के लिए इस पुस्तक को पहली बार खोलना बिलकुल हमारे हाथ में है। यह इनिशिएटिव, यह पहल हमारे हाथ में है कि हम अपने द्वारा उपलब्ध मूल्य को इसी क्षण आचरण में व्यक्त करके भविष्य का निर्माण करते हैं या नहीं, यदि नहीं तो कोई और भविष्य का निर्माण करने नहीं जा रहा है, वह भविष्य इलियट के शब्दों में विवर्ण संगीत सिद्ध होगा—ऐसे लोगों के लिए भग्न-हृदय पश्चात्ताप; जो अभी पश्चात्ताप करने के लिए पैदा ही नहीं हुए और चूँकि इतनी बड़ी जिम्मेवारी हम पर है, अतः हमें सत्य की निष्ठा के लिए कोई समझौता नहीं करना चाहिए, अपने विवेक पर बाँधी जाने वाली कोई भी जंजीर नहीं सहनी चाहिए और हम अपने विवेक द्वारा जिस परिणाम पर पहुँचते हैं, यदि सारी दुनिया भी उसके विरुद्ध हो तो हमें उस पर अटल रहना चाहिए—गांधी-विनोबा ने बार-बार इस आशय की बात कही है। इसको हम चरम व्यक्तिवादी अराजकता के रूप में स्वीकार न करके इसके क्रान्तिपरक

१. विनोबा—'सर्वोदय विचार', पृष्ठ ६०।
२. टी० एस० इलियट—'द ड्राई सैल्वेजेज़'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ समझ सकेंगे; यदि हम एमर्सन का वह कथन याद रखें कि **"हर महान् जन-क्रान्ति पहले-पहल किसी एक व्यक्ति के मानस में विचार-बीज के रूप में स्थित रही है।"**

इसीसे यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर यह आग्रह १६वीं शताब्दी की बूर्जुआ व्यक्तिवादी चिन्तन-धाराओं के आग्रह से बिलकुल अलग है। वे चिन्तन-धाराएँ या तो व्यक्ति को केवल एक राजनीतिक वोट मानती थीं, या श्रम कर सकने वाली एक बिकने योग्य वस्तु। बिना आर्थिक सुविधा के व्यक्ति की राजनीतिक या आर्थिक स्वतन्त्रता की बात करना एक बूर्जुआ भ्रम था, क्योंकि आर्थिक स्तर पर एक वर्ग का व्यक्ति अपना श्रम बेचने को 'विवश' है, और दूसरा उसे खरीदने को 'स्वतन्त्र', एक व्यक्ति पिसने को 'विवश' है और दूसरा पीसने को 'स्वतन्त्र'। मार्क्स ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता का रहस्य भली भाँति उद्घाटित किया था।

लेकिन आज की पूर्वीय और पच्छिमी वैयक्तिकतापरक विचार-सरणियाँ वैयक्तिकता के जिस पक्ष को विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता देने का आग्रह कर रही हैं उसका एक अनिवार्य प्रगतिपरक सामाजिक महत्त्व है। इसीलिए मूनियर, बर्डेव, कीट्स, मैरिटेन—सभी बूर्जुआ प्रतिक्रियापरक व्यक्तिवादिता से अपने वैयक्तिकतावाद को पृथक् मानते हैं।[1] इसके लिए वे दो पृथक् शब्दों का व्यवहार करते हैं—Individualism और Personalism। इन दोनों का अन्तर बताते हुए बर्डेव यह कहता है कि individualism वह सीमाबद्ध मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक अन्ध-प्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के रूप से हमारे व्यक्तित्व में उदित हो जाती है और हमें व्यक्तिगत स्वार्थों और सीमाओं की ओर उन्मुख करती है। personalism व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुख सृजनात्मक वृत्ति है; जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी समग्र सम्पूर्णता में पहचानकर उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार करके अपने व्यवहार को मर्यादित करती है। इस वैयक्तिकता को सुरक्षित रखना आवश्यक है, क्योंकि वैयक्तिकता

१. वैयक्तिकतावाद का इतिहास बड़ा ही स्फूर्तिदायक और रोमांचक है। वैसे तो ये विचार लाट्ज़े के ही समय से विकसित हो रहे थे और कैथोलिक चिन्तकों, अस्तित्व-वादियों तथा नवमार्क्सवादियों (मैनहीम, लास्की) ने इसके विकास में सहायता दी, किन्तु सबसे पहले मूनियर नामक फ्रेन्च विचारक ने १६३२ में वैयक्तिकतावादी घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। उसके बाद समस्त यूरोप और अमेरिका में साहित्य, अर्थशास्त्र, अध्यात्म-चिन्तन, राजनीति, समाज-शास्त्र-ज्ञान के सभी क्षेत्रों में यह सिद्धान्त छा-सा गया। इसके विकास की कई घटनाएँ बड़ी रोमांचक हैं। मूनियर का पत्र Espirit ही इसका मुखपत्र था। फ्रान्स का पतन होते ही फाशिस्तों के प्रभाव से मार्शल पेताँ ने मूनियर को कैद कर लिया और पत्र को बन्द करवा दिया। किसी तरह फिर पत्र चला। हालैण्ड में जर्मनों ने बहुत से राजनीतिक बन्दियों को कैम्पों में नज़रबन्द कर रखा था। वे द्वितीय युद्ध के दौरान में नाजी जर्मनी, पूँजीवादी अमेरिका और स्तालिनवादी रूस तीनों से असन्तुष्ट थे। उनमें से कुछ आस्तिक थे, कुछ नास्तिक। जब उनके पास Espirit की प्रतियाँ गुप्त रूप से पहुँचीं तो उन्होंने पाया कि वे जिन प्रश्नों का समाधान ढूँढ रहे थे, वह इसी दृष्टिकोण में है। एक विशेषता इसकी यह है कि मूनियर इसे कोई 'वाद' न कहकर एक दृष्टि कहता है। ठीक जैसे विनोबा सर्वोदय को 'दल' न कहकर 'समाज' कहते हैं, 'वाद' न कहकर 'वृत्ति' कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्फुरण मानवीय मूल्य की समग्रता की खोज और उसकी स्थापना में ही होता है, प्रत्येक विकासोन्मुख संस्कृति में अधिक-से-अधिक महान् लेखक, चिन्तक, कलाकार और वैज्ञानिक होते हैं, क्योंकि उसमें वैयक्तिकता को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और अधिक-से-अधिक व्यक्ति मानवता के स्थायी मूल्यों की खोज, साक्षात्कार और स्थापना में तल्लीन रहते हैं, अपने ढंग से, अपनी तात्कालिक ऐतिहासिक स्थिति में उस मूल्य की व्याख्या करते हुए सामूहिक प्रगति या विकास करने को स्वतन्त्र रहते हैं।

प्रख्यात फ्रेञ्च अस्तित्ववादी नाटककार एब्रील मार्सेल इसकी व्याख्या बड़े स्पष्ट शब्दों में करता है—"हम आज कहते हैं कि हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है। इसके अर्थ क्या हैं? क्या कोई भूचाल उसे नष्ट कर रहा है, क्या कोई जल-प्रलय आ रहा है, या ऊँची-ऊँची पक्की इमारतों की छतें गिर रही हैं, या कोई महामारी फैल रही है। नहीं, बाह्य जगत् में यह-सब-कुछ नहीं होने जा रहा है। मरणोन्मुख संस्कृत से मतलब यह होता है कि हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्य में आन्तरिक रुग्णता आ गई है। क्या यह आन्तरिक रुग्णता केवल एक शिविर में या एक व्यवस्था की संस्कृति में है? नहीं। हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सत्ताएँ प्रगति की शत्रु हैं, अतः वे जान-बूझकर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकता के विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु-युद्ध के तरीके बड़े ही विचित्र और नृशंस हैं। व्यक्ति में भय का संचार किया जाता है, उसके स्वाभिमान को तोड़ा जाता है, घृणा और हिंसा के भाववेश में लाया जाता है, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिकता पर अधिकार खो बैठता है, जिन कर्मों को वह करता है उसका उत्तरदायी अपने को नहीं मानता और जिन कर्मों को नहीं करता उनका अपराधी अपने को मानकर झूठे बयान पर स्वेच्छा से हस्ताक्षर कर आता है, धीरे-धीरे वह विवेक से शून्य स्वतन्त्र संकल्प से रहित, भावावेशों, बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित मानव-यन्त्र-मात्र रह जाता है। भय-संचार की इस टेकनीक का पूर्णतम विकास पूँजीवादी देशों में अणुबम के रूप में हुआ है और साम्यवादी देशों में चिन्तन-पारतन्त्र्य के रूप में।"[1]

इसीलिए आज इस नये प्रसंग में वैयक्तिकता की स्वतन्त्रता की माँग का अर्थ प्रगति की स्वतन्त्रता की माँग करना है, संस्कृति को रुग्णता से मुक्त रखने की माँग करना है। वैयक्तिकता की सुरक्षा की हुंकार बड़े स्पष्ट रूप से लुई मैकनीस ने अपनी एक कविता में की है जहाँ एक अनजन्मा शिशु जन्म के पूर्व अपनी कुछ शर्तें रखता है:

I am not yet born : O hear me
Let not the blood sucking rat or the bat or the stoat or the
clubfooted ghoul come near me.
I am not yet born : console me
I fear that the human race with tall walls wall me,
with strong drugs dope me, with wise lies lure me,
on black racks rack me, in blood baths roll me.

१. गैब्रील मार्सेल—'मेन अगेन्स्ट ह्यूमेनिटी।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

I am not yet born; O fill me
with strength against those who would freeze my
humanity, would dragoon me into a lethal autowaton
would make me a cog in the machine, a thing with
one face, a thing, against all those
who would dissipate my entirety, would
blow me like a thistle down hither and
thither or hither and thither,
like water held in hand spill me.
Let them not make me a stone and let them not spill me
Otherwise kill me.[1]

: १० :

आचरण की मर्यादा—स्वातन्त्र्य;
स्वातन्त्र्य की मर्यादा ?

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की इस अदम्य घोषणा का अर्थ अराजकता, उच्छृङ्खलता, निरंकुशता और दायित्वहीनता नहीं है। उसके साथ एक दायित्व भी है—मूल्यों की खोज, उनकी मानववादी सामाजिक व्याख्या और आचरण में इसकी सक्रिय परिणति। पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकों की भाषा में यह वैयक्तिकता मूल्यों के ग्रहण और विकास की दिशा में स्व-संचालित गति है, जिसमें स्वातन्त्र्य और दायित्व का आन्तरिक विकासोन्मुख समन्वय रहता है।[2] गीता की भाषा में विनोबा ने स्वातन्त्र्य और सामाजिक मूल्यगत दायित्व के इस समन्वय को स्वधर्म (स्व + धर्म) की संज्ञा दी है : **"स्वधर्म कितना ही विगुण क्यों न हो···उसीमें रहने से विकास हो सकता है। यही विकास का सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है, न छोटा। वह हमारे ब्यौंत भर का होता है।"**[3] अपने ब्यौंत के अनुसार, अपने 'स्व' के अनुसार धर्म या दायित्व की स्वीकृति हर व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक सार्थकता प्रदान करती है, इसीके द्वारा उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को नये सामाजिक अर्थ मिलते हैं और वह विकासोन्मुख संस्कृति की प्राणवान इकाई बनने में समर्थ हो पाता है। मानवीय संस्कृति का विकास केवल नये बाँध, नई रेलें, नये नगरों का विकास नहीं है, वह मानव की आन्तरिकता का विकास है; जो दर्शन, चिन्तन, कला, संगीत, साहित्य, स्थापत्य, अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में मूल्यों के नित्य नवीन विकास को नियोजित करता है। यह उसी सांस्कृतिक व्याख्या में सम्भव है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और अपने दायित्व को खोजकर, उससे अपनत्व अनुभव करके, उसे अपना स्वधर्म मानकर उसीमें अपने अस्तित्व की सार्थकता मानता है।

१. लुई मैकनीस—'प्रेयर ऑफ़ एन अन्बार्न चाइल्ड'।
२. तत्सम्बन्धी पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकों के विस्तृत विचार जानने के लिए द्रष्टव्य—'द क्राइसिस ऑफ़ ह्यूमन परसन'—जे० बी० कोट्स।
३. विनोबा—'गीता प्रवचन', पृष्ठ ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यपरक दायित्व को स्वीकार न करके जो मूल्यहीन स्वतन्त्रता पर ही आग्रह करते हैं उनकी वैयक्तिकता कितनी बंजर और शून्य, कुहायुक्त, दिशाहीन भूल-भुलैयाँ में भटक जाती है इसका शायद सबसे रोचक और सबसे ताजा उदाहरण जॉं पाल सार्त्र और उसका नास्तिक अस्तित्ववाद है। सार्त्र ने स्थायी मानव-मूल्यों को आमूल अस्वीकृत करके व्यक्ति की अबाध किन्तु अस्वाभाविक और अमर्यादित स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। वह मनुष्य को बिलकुल स्वतन्त्र, निरपेक्ष सत्ता मानता है, जिसकी कोई मर्यादाएँ नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई नैतिकता नहीं, कोई प्रभु नहीं, कोई पूर्व-निश्चित मानवीय स्वभाव नहीं—वह परम स्वतन्त्र है, काल और दिशा से भी मुक्त, केवल स्वतन्त्रता की एक सत्ता। अपनी इस स्थिति में सार्त्र एक तीव्र संहारकारी अनास्था मात्र है, एक विराट्काय विध्वंसकारी संशय, जो सारी स्थापित मर्यादाओं के मूल को ही नहीं मानता, जो एक सीमाहीन शून्यता के सागर में निरुद्देश्य डोल रहा है।[1]

किन्तु केवल यही सार्त्र के कला-व्यक्तित्व का विराम-चिह्न होता तो शायद उसका साहित्य इस तरह यूरोप पर न छा गया होता। किसी तरह मूल्यगत दायित्व की गुरुता और आचरण का संकल्प अपनी ही चिन्तन-सीमा में विकसित करने की उसकी प्यास भी इतनी तीखी रही है कि उसने एक वक्तव्य में विचित्र तर्कों द्वारा अपने अस्तित्ववाद को मानववाद की ही शाखा सिद्ध करने का प्रयास किया है। पाठक सहज में ही उन स्थापनाओं से सहमत नहीं हो पाता तो भी इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि वह अपनी दायित्वहीन निरर्थक स्वतन्त्रता की यातनापूर्ण यात्रा में एक क्षण भी उसे नहीं भूल पाया है जिसे छोड़कर (यास्पर्स के शब्दों में) हम बार-बार ग़लत पगडण्डियों पर भटकने लगते हैं। एलेन के शब्दों में सार्त्र उन चिन्तकों में से हैं जो प्रभु (मूल्य-मर्यादा) को स्वीकार भी नहीं करते, पर उसे भूल भी नहीं पाते। साहित्यकार की सहज आन्तरिक निष्ठा ने ही धीरे-धीरे सार्त्र को भी उसकी चिन्तन-धारा से मुक्ति दिलाकर व्यापक मूल्यगत दायित्व को स्वीकार करने के प्रति उन्मुख किया है और धीरे-धीरे वह भी एक नैतिक विवेक को स्वीकार करता जा रहा है जो मूल्यगत दायित्व से युक्त है और जिसके प्रसंग में उसकी मित्र, शिष्या और समीक्षक इरिस मर्डाक का कहना है कि उसकी वर्तमान गति पूँजीवादी जर्जर व्यक्तिवाद और कम्युनिस्ट दलानुशासन के बीच एक मध्यमार्ग की ओर है, जहाँ मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बन सकता है।

साहित्य में मूल्यगत मर्यादा के विकास की सहज प्रकृति सदैव ही स्वातन्त्र्य और दायित्व के इस समन्वय को मान्यता प्रदान करती रही है, यह न केवल आधुनिक वरन् मध्य काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों से भी प्रमाणित होता है। वैष्णव मानववादी चिन्तन और साहित्य-परम्परा में जहाँ एक ओर कलाकार में अपनी वैयक्तिकता के प्रति अदम्य आत्माभिमान था, वहीं एक विराट् मूल्य-मर्यादा, एक महान दायित्व के प्रति आत्म-समर्पण भी था। वैष्णव कवि जब एक ओर कहता था "**आजु हौं एक-एक करि टरिहौं। कै हम हीं, कै तुम ही माधव, अपुन भरोसे लरिहौं**" तो दूसरी ओर उसका समर्पण भी अद्भुत था—"**तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकम् तस्मिन्नेव करणीयम्।**" मध्यकालीन वैष्णव चिन्तक के लिए वास्तव में प्रभु मानवीय मूल्य की चरम पूर्णता का ही पर्याय था, उस मूल्य-मर्यादा को ग्रहण करने का पंथ उच्छृङ्खलता का नहीं वरन् स्वतन्त्रता और दायित्व से समन्वित 'स्वधर्म' का पंथ है, भक्ति का पथ

---

१. **सार्त्र के पहले दो उपन्यासों के नायकों की मनःस्थिति।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है; जो तुलसी के शब्दों में 'विरति' और 'विवेक' से 'संजुत' है। मानववादी साहित्य की यह एक स्थायी प्रकृति है जो बराबर विकसित होकर युग के दायित्व को ग्रहण करती चलती है। इसीलिए आज का मानववादी कलाकार भी भक्ति की ही मर्यादा को ग्रहण करता है :

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

(पर इसकी अपनी अद्वितीयता है, वैयक्तिकता है :)

यह जन है, गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में ही काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसीने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में
यह सदा द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त नेत्र
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर अखण्ड-अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो।[1]

यह दीप वास्तव में कवि की वैयक्तिकता है जो अद्वितीय है। अखण्ड अपनापा है। गर्व-भरा है, किन्तु मानवीय मूल्य-मर्यादा के प्रति स्नेह-भरा भी। उसमें अपनी आग है, किन्तु भक्ति को, पंक्ति को, प्रकाश को अर्पित होने में ही उसकी सार्थकता है। यह अर्पण उस पर लादा हुआ नहीं है, उसका स्वधर्म है, उसके 'स्व' से विकसित है—**यह मैं स्वयं विसर्जित !**

स्वातन्त्र्य और दायित्व की इसी सामंजस्यमयी मर्यादा की ओर आधुनिक कैथोलिक कवि चार्ल्स पेगी अपनी 'फ्रीडम' शीर्षक कविता में संकेत करते हुए मनुष्य की तुलना एक ऐसे शिशु से करता है जो अभी तैरना सीख रहा है। पिता शिशु को हाथ का सहारा-मात्र देकर उसे धारा में छोड़कर तैरना सिखाता है, क्योंकि यदि वह उसे धारा में मुक्त न छोड़े तो बिना इस स्वतन्त्रता के वह कभी तैरना नहीं सीख सकता और यदि वह उसे बिलकुल मुक्त छोड़ दे, हाथ का भी सहारा न दे तो वह उसी समय डूब जायगा। आश्चर्यजनक यह है कि बिलकुल यही रूपक वैष्णव चिन्तन में भी मिलता है; जहाँ प्रभु (या मूल्य-मर्यादा) द्वारा निरुद्ध जीव भव-सागर में बहते हुए उस फूल के समान है जिसे प्रभु ने जल में हथेली डालकर अंजलि में निरुद्ध कर लिया है, इस प्रकार वह 'जन' भवसागर में भी है, और प्रभु की अंजलि में भी। दूसरी भाषा में इसे कहें तो इसका रूपक यह है कि स्वतन्त्रता और दायित्व से युक्त व्यक्तित्व वैयक्तिक स्थिति में स्वतन्त्र भी है और फूल की तरह मूल्य की विराट् अंजलि में भी। किन्तु यदि हम मूल्यगत दायित्व की मर्यादा से वंचित हो जाते हैं तो हमारी वैयक्तिकता प्राणहीन, गतिहीन होकर मूल्यहीनता के अथाह सागर में डूब जाती है—**"हरिणा ये विनिमुंक्ता ते मग्ना भवसागरे।"**

1. **अज्ञेय—'यह दीप अकेला'।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति की यह भावनामयी शैली किसी दिव्य मानवोपरि भ्रम की ओर हमें न ले जाय इसलिए यह संकेत कर देना आवश्यक है कि अन्ततोगत्वा हमारा यह दायित्व मानवीय मूल्य के ही प्रति है। रूपक की भाषा में कवि ने उसे प्रभु कहा हो, किन्तु उसका तात्पर्य मानवीय मूल्यों की समग्रता से ही है, जिसका प्रतिपालन हमारे सक्रिय जीवन में होता है। इस तथ्य को साहित्य ने अपनी सहज प्रकृति द्वारा सदैव पहचाना है। मध्ययुग का सन्त कवि कहता है: "जेती चलूँ तेती परदखना जो कुछ करूँ सो पूजा।" आधुनिक प्रयोगशील अंग्रेजी काव्य का प्रवर्तक गेराई मेन्ले हापकिन्स कहता है: "निहाई पर हथौड़ा चलाना, शहतीर चीरना, दीवारों पर सफेदी करना, घोड़े हाँकना, सड़क बुहारना यह सब प्रभु के गौरव का परिवर्द्धन करते हैं,...... अतः मेरे बन्धुओं, जिन्दगी जियो!" क्योंकि इसी जीवन-प्रक्रिया के द्वारा हम मानवीय मूल्य को, प्रभु को सतत निर्मित और विकसित करते चलते हैं। रिल्क प्रभु से कहता है:

"We are all workmen : prentice, journeymen
Or master...... building you—you towering nave."

इसीको प्रतिध्वनित करते हुए सेसिल डेल्यूड्स कहता है:

"God is a proposition
And we who prove him are his priests : his chosen."

इतना ही नहीं, रिल्क तो स्पष्ट चुनौती के स्वर में यह भी घोषणा करता है कि प्रभु की सार्थकता भी मनुष्य ही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु मानवीय मूल्यों की ही समग्रता का परम रूप है:

What will you do, God, when I die?
When I your pitcher, broken, lie?
When I your drink, go stale or dry?
I am your garb, the trade you ply
You lose your meaning losing me.

अन्ततोगत्वा हमारा दायित्व मानवीय मूल्य के ही प्रति है, यह न केवल रिल्क और हापकिन्स की भाँति आस्तिक मानववादियों ने स्वीकार किया वरन् नास्तिक समाजवादियों का भी झुकाव इसी ओर रहा। सोवियत साहित्य भी बार-बार अपने को सामाजिक मानववाद या नव-मानववाद की संज्ञा से अभिहित करता रहा, किन्तु वहाँ रह-रहकर यह तथ्य भुला दिया गया कि साहित्य केवल मूल्यगत मर्यादा ही ग्रहण कर सकता है, सम्प्रदायगत मर्यादा नहीं। जिन समाजवादी कलाकारों को मानवीय मूल्य के पक्ष में सम्प्रदाय को तिलांजलि देनी पड़ी है वे इस सूक्ष्म सत्य को भली भाँति हृदयंगम कर पाए हैं। तोगलियाती, थेलमैन और स्टालिन के सहयोगी सक्रिय कम्युनिस्ट लेखक इगनात्सियों सिलोने ने पार्टी छोड़ने के बाद जो कहा वह बहुत महत्वपूर्ण है: "समाजवाद में मेरा विश्वास आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक दृढ़ है।... मैं भाग्य-जैसी चीज़ नहीं मानता......मैं मानता हूँ मनुष्य सबके ऊपर है। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ जो आज उसका गला दबाती हैं, जब उसकी दास बनेंगी तभी समाज का कल्याण होगा। साल-पर-साल बीतते गए हैं और मुझमें एक श्रद्धा का भाव तीव्रतर होता गया है, मानव और उसकी उस विकासोन्मुख चेतना के प्रति भी जो उसे कभी भी चैन नहीं लेने देती।......लेकिन मेरा ख़याल है जैसे समाजवाद में विश्वास रखने वाला केवल मैं अकेला नहीं हूँ। 'ये पागलपन से भरे हुए सत्य' तो मार्क्सवाद से भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराने हैं।.......अधिक अध्ययन और अनुभूति के फलस्वरूप (मार्क्सवाद के) वर्तमान सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध हो सकते हैं किन्तु समाजवादी धारा फिर भी चलती रहेगी। समाजवाद किसी एक पद्धति का दास नहीं, वह तो एक आस्था है। समाजवादी चिन्तन-सम्प्रदाय अपने को वैज्ञानिक सिद्ध करने की जितनी चीख़-पुकार मचाते हैं उतने ही क्षणभंगुर सिद्ध होते जा रहे हैं। समाजवादी मूल्य स्थायी हैं। सम्प्रदाय और मूल्य के भेद पर आज ध्यान नहीं दिया जा रहा है, किन्तु वह भेद मूलगत है। सम्प्रदाय का संगठन करके एक पन्थ चलाया जा सकता है, किन्तु मूल्यों के आधार पर सभ्यता और संस्कृति का गठन होता है, नये जीवन की सृष्टि होती है।''

: ११ :

नया दायित्व

मानवीय मूल्य के प्रति प्रत्येक शिविर और प्रत्येक धारा में उभरकर आने वाली यह आस्था हमारी उस प्राथमिक स्थापना को सिद्ध करती है कि इस संकट में भी मनुष्य हारा नहीं है, बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर दिया है और दिनों-दिन उसने और भी सशक्त स्वरों में घोषित किया है कि वह प्रगति का सूत्रधार और इतिहास का निर्माता है। साम्प्रदायिक अनुशासन जहाँ भी उसकी प्रगति-चेतना में आड़े आए हैं, उनका उसने साहसपूर्वक अतिक्रमण किया है। उसकी यह यात्रा सरल नहीं रही है; किन्तु सेसिल डे ल्यूइस के शब्दों में उसने निराशा में से जिन्दगी की चिनगारी ढूँढ़ी है और इस्पात में से गीत जगाये हैं।

यह नई मर्यादा एक सक्रिय दायित्व के रूप में विकसित हुई है, अतः यह एक जागरूक, अनवरत, अथक क्रियाशीलता के प्रति सशक्त आह्वान है। मानवीय मूल्य विराट् मानव-जीवन की अगणित शिराओं में संचारित होता रहता है। जहाँ भी यह रक्त-प्रवाह रुका वहीं अंग पक्षाघात से आहत होकर सूख जाता है, बेकाम हो जाता है। हमारी मानव-संस्कृति में आज पूरे देश, पूरी जातियाँ, पूरे सम्प्रदाय, पूरी चिन्तन-धाराएँ और पूरे-के-पूरे साहित्यिक निकाय इस मूल्यहीनता से, इस पक्षाघात से अशक्त होकर प्रगति और विकास की दिशाओं से भटक गए हैं। हमारे सामने मानवीय मूल्य को पूरी संस्कृति के प्राणों में प्रतिष्ठित करने का जटिलतम दायित्व है।

मैं यह नहीं स्वीकार कर पाता कि यह कार्य अपने-आप होगा। यह 'अपने-आप' विकास होने की बात चाहे बाह्य अर्थ-व्यवस्था के रूपक में कही जाय या आन्तरिक चेतना के रूपक में, किन्तु यह हमारे दायित्व के महत्त्व को घटा देती है। यह दायित्व हमारा है, हम विकास करेंगे तो विकास होगा; नहीं करेंगे तो नहीं होगा। नहीं करने की सम्भावना भी अप्रिय सम्भावना है, किन्तु असम्भव नहीं। क्योंकि जहाँ इतिहास एक ओर मनुष्य के साहस का साक्षी रहा है, वहीं वह इस बात का भी साक्षी है कि अक्सर ऐतिहासिक निर्णय के क्षणों में मनुष्य ने कायरता दिखाई है, उसने स्वातन्त्र्य अस्वीकार किया है, दासता स्वीकार की है; क्योंकि दायित्व वहन करना साहस का काम है, और दासता में दायित्व का कोई प्रश्न नहीं उठता। दास तो केवल दूसरों के आदेश वहन करता है।[1]

आज की व्यापक सांस्कृतिक रुग्णता में यह दासत्व भावना और प्रगति-विरोधी निष्क्रियता

१. बर्देव—'स्लेवरी एण्ड फ्रीडम'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

बहुत सहज सम्भाव्य है, क्योंकि टी० एस० इलियट के शब्दों में हमारा हृदय हमसे अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग़ प्याज़ के छिलकों की तरह उतर गया है—क्योंकि हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते।[1] यह भय बड़े गुप्त रूप से सभी प्रतिक्रियावादी राज्यसत्ताओं, सम्प्रदायों और व्यवस्थाओं द्वारा मानव-संस्कृति की शिराओं में विषैले कीटाणुओं की तरह सूइयों द्वारा पहुँचाया गया है, ताकि अन्दर-ही-अन्दर यह मानवीय मूल्य के प्रति हमारी आस्था को जर्जर और रुग्ण कर दे और हमारी विकासोन्मुख चेतना अन्धी हो जाय—इतनी अन्धी कि हम दासता को, निष्क्रियता को ही एक-मात्र समाधान मान लें। इस अत्यन्त लज्जाजनक और करुण स्थिति का एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्रण महानतम आधुनिक ग्रीक कवि कैवेफी ने किया है। अपनी एक मार्मिक कविता 'बर्बरों की प्रतीक्षा' में वह लिखता है :

चौराहों पर एकत्रित हम किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ?
आज बर्बर लोग नगर में, प्रवेश करेंगे।
सीनेट कोई निर्णय क्यों नहीं लेती।
इतने तड़के से हमारा सम्राट् जागकर,
मुकुट पहनकर, नगर-द्वार के पास सिंहासन डलवाकर,
क्यों बैठ गया है ?
वह बर्बर सरदार का इस्तक़बाल करेगा
वह उसे शिरोपेच भी देगा
और खिताब भी।
हमारे महान् वक्ता आज चुप क्यों हैं ?
बर्बर लोग नगर में प्रवेश करेंगे, वे कलात्मक भाषण पसन्द नहीं करते
यह शोर और हलचल क्यों ?
(सहसा सबके चेहरे कितने गिर गए)
सड़कें और चौराहे खाली होने लगे
सब उदास अपने घर लौट रहे हैं।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

क्योंकि रात हो गई और बर्बर विजेता नहीं आए
सरहदों से एलची लौट आए,
वे कहते हैं कि बर्बर विजेता अब नहीं रहे।
ओह बिना बर्बर विजेताओं के अब हम क्या करेंगे ?
वे लोग कम-से-कम कुछ समाधान तो प्रस्तुत कर देते थे !

समकालीन संकट की उलझनों से भरी हुई जटिलता में मानवीय मूल्य-मर्यादा को स्थापित और विकसित करने के स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का साहस न कर सकने वाले कितने ही चिन्तक, लेखक और कलाकार इस दासता के तथाथित कायरतापूर्ण सरल समाधान को जूए की तरह स्वीकार करके इस भय के शिकार बन चुके हैं। प्रगति और विकास की दिशा में मानव-इतिहास को मोड़ने के लिए प्रत्येक जागरूक साहित्यकार को इस भय के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करना है। यह भय मनुष्य की शिराओं में मानवीय मूल्य के स्वस्थ रक्त को कीटाणुओं की तरह

१. 'मर्डर इन द कैथेड्रल।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूषित कर रहा है। यह भय इस शिविर या उस शिविर में ही सीमित नहीं है, यह एकदम घोटने वाले वातावरण की तरह पूरी धरती को घेरे हुए है। समकालीन कथाकार विलियम फॉकनर ने नोबुल पुरस्कार के स्वीकृति-भाषण में कहा है—"**हमारा संकट यह है कि एक सर्वव्यापी भय हममें समा गया है, जिसे हमने इतने दिनों तक वहन किया है कि अब हम उसे सहने भी लगे हैं।....लेकिन नये साहित्यकार को यह सीखना है कि संसार की सबसे पतित भावना है—भय की भावना!**" बिलकुल यही बात प्रकारान्तर से वियना के शान्ति-सम्मेलन में जाँ पाल सार्त्र ने कही थी कि—**समकालीन राजनीति और चिन्तन-पद्धतियाँ, चाहे वे किसी भी शिविर की हों, भय पर आधारित हैं; अतः वे मिथ्या को प्रश्रय देती हैं और पारस्परिक हिंसा को प्रेरित करती हैं। उनके कारण हमारे बीच में भय की दीवारें हैं। शिविर और दल मिथ्या हैं। हम सत्य हैं; क्योंकि हम जो जीते हैं वही इतिहास है।**

साहित्यकार का यह नया दायित्व इतिहास-निर्माण का दायित्व है, मानव-संस्कृति के मूल्यात्मक विकास का दायित्व है और सामान्य व्यक्ति के दायित्व से कई गुना अधिक जटिल दायित्व है; क्योंकि साहित्यकार की पक्षधरता और संघर्ष विवेक का स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव-अस्तित्व की गहन परतों में उतरकर उसकी रक्त-शिराओं में चलने वाले भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है, उसके छोटे-से-छोटे क्षण में जीवन-प्रक्रिया को उद्बुद्ध करना है, उसकी भावनाओं के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तन्तु में स्फुरित होने वाले मानवीय मूल्य की विराट्ता को पहचानना है; यही नहीं, वरन् उसे इस संकट-काल के उखड़े-पुखड़े हुए, अर्धध्वस्त, प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचे में हरेक भटके हुए व्यक्ति की जीवन-प्रक्रिया से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके, उसके जीवन के क्षणों को स्वतः जीकर उसके द्वारा की गई मूल्यों की निजी खोज और उनके विकास के मर्म को समझ लेना है और इन समस्त उपलब्धियों को साहसपूर्वक मानव-इतिहास के एक नये और सबसे पूर्ण, प्रांजल और प्रकाशमान युग की ओर प्रेरित करना है। साहित्य की यह नई मर्यादा सरल नहीं है, किन्तु यदि इसी क्षण साहित्यकार इसे स्वीकार नहीं करता—भय के कारण, संशय के कारण या असमंजस के कारण, तो वह एक खतरनाक मोड़ पर क्रान्ति और इतिहास के प्रति विश्वासघात करता है।

इस दायित्व को पूर्ण करने के लिए साहित्यकार के पास एक ही माध्यम है—शब्द। इस संकट ने शायद शब्द को, भाषा को सबसे अधिक क्षत-विक्षत किया है। भाषा हमारी जीवन-प्रक्रिया में उपलब्ध रागात्मक मूल्यों को अभिव्यक्त करके, एक व्यक्ति के उपलब्ध सत्य को दूसरे व्यक्ति द्वारा उपलब्ध सत्य से जोड़कर एक सामाजिक सेतु बनती है। मानवीय मूल्यों में संकट आते ही भाषा की यह सार्थकता जाती रही। वह यथार्थ से विभिन्न होकर अपने स्वतन्त्र नियम और सिद्धान्त विकसित करने लगी—अर्थरहित प्रतीक, टूटे चित्र, स्वप्नों की-सी अराजकता, संगीत की-सी निरर्थकता। दूसरी ओर राज-सत्ताओं ने भाषा की सामाजिक उपयोगिता पहचानी और उन्होंने उसका गर्हित दुरुपयोग करना प्रारम्भ किया। उन्होंने शब्दों के अर्थ बदलने प्रारम्भ किये—शान्ति के अर्थ आक्रमण की तैयारी, मैत्री के अर्थ आर्थिक और सामरिक पारतन्त्र्य। यही नहीं वरन् प्रेस, रंगमंच, साहित्य, रेडियो और बुलेटिनों के द्वारा हर शब्द को इस गुप्त कीटाणु-युद्ध का साधन बनाने के लिए, भावावेश, पागलपन, भय और मूर्छा से विषाक्त कर दिया गया।

इतनी दूषित भाषा के द्वारा इतना जटिल दायित्व पूरा करना है। इसका एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान है। लिखते समय हर शब्द को अपने निर्मम विवेक की कसौटी पर कसकर देख लेना है कि वह खरा सोना है या नहीं। यदि नहीं, तो अपनी गहनतम अनुभूतियों से हर शब्द को मानवीय मूल्य से पुनः अभिषिक्त करके तब उसे कलम पर उतारने का साहस करना चाहिए। भाषा के सम्बन्ध में हमारा यही क्रान्तिकारी दायित्व है। विनोबा ने भी एक स्थल पर कहा है—"पुराने शब्दों पर नये अर्थों की कलम लगाना ही विचार-क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।" ये नये अर्थ मूल्यगत अर्थ हैं। यही कारण है कि साहित्य में शब्द तभी समर्थ, प्रेषणीय और प्राणवान बनते हैं जब उनमें मानवीय मूल्य आन्तरिक रूप से प्रतिष्ठित रहता है, अन्यथा वे बाँस पर लटकाये गए चीथड़ों की तरह पशुओं के लिए भयोत्पादक और विवेकपूर्ण तथा मनुष्य के लिए हास्योत्पादक बन जाते हैं। क्रान्ति के नाम पर आने वाले, मूल्य-मर्यादा से रहित बहुत-से आवेशपूर्ण साहित्य का यही भाग्य रहा है।

साहित्य की इस नई मर्यादा का उदय इतिहास के धूल-भरे पन्नों में खोजने वाली एक विस्मृत कथा बनेगा, या नव-निर्माण की, प्रगति की, विकास की भूमिका—यह हमारे इसी क्षण के चुनाव पर निर्भर करता है। प्रश्न सम्प्रदायों और सत्ताओं का नहीं है, बल्कि मानवीय मूल्य-मर्यादा, उसकी साहसपूर्ण स्वीकृति और निष्ठापूर्ण आचरण का है। चुनाव स्पष्ट है। हम चाहें तो भय से वाणी को रुग्ण और जर्जर बना डालें—चाहें तो साहस का वरण करके अपनी वाणी को इस नई मर्यादा की अपराजेय तेजस्विता से अभिषिक्त कर इतिहास को नया मोड़ दे दें। अज्ञात भविष्य में हमारा साहित्य कहाँ तक स्थायी रहेगा यह भी इसी पर निर्भर करता है कि हम इसी क्षण अपने कृतित्व में स्थायी मानवीय मूल्य के समस्त सम्भावित विकास का कहाँ तक और कितनी गहराई तक साक्षात्कार करा पाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बलदेव उपाध्याय

वेद में गीति-काव्य का उद्गम

कवि काव्य-सृष्टि का प्रजापति है। जिस प्रकार शिव अपनी शक्तिभूता प्रतिभा के सहयोग से नई रंगीन सृष्टि का उद्गम करता है उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन सौन्दर्यमय काव्य-जगत् का निर्माण करता है। कवि में अन्तर्दर्शन की सत्ता नितान्त आवश्यक है। कवि सुन्दर पदार्थ के दर्शन में जब तक अपनी पृथक् सत्ता का विसर्जन करके उससे तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता तब तक वह भावमयी कविता की सृष्टि नहीं कर सकता। 'अन्तर्दर्शन' कवि को वस्तु-तत्त्व के अन्तस्तल के निरीक्षण की क्षमता प्रदान करता है, तो 'वर्णन' उसकी अनुभूत भावना को बोधगम्य अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अतः कवि के लिए वर्णन उतना ही आवश्यक है जितना अन्तर्दर्शन। दर्शन के द्वारा प्रातिभ चक्षु के उन्मेष होने पर वाल्मीकि को कवि की पदवी तभी प्राप्त हुई जब दर्शन वर्णन के बाह्य रूप में छलक उठा। अन्तर्दर्शन कवि की निजी विभूति है जो उसके हृदय को नाना भावनाओं का आकर्षण-केन्द्र बनाती है, परन्तु वर्णन कवि की बाह्य विभूति है जिसके द्वारा वह पाठकों के हृदयावर्जन में समर्थ कोमल कविता को जन्म देता है।

दर्शन तथा वर्णन से स्निग्ध ऋषि की वाणी के भव्य उदाहरण हैं वेद के महनीय मन्त्र। मन्त्र आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान की निधि हैं तथा कर्मकाण्ड के जागरूक साधन; इसमें तो विवाद या सन्देह के लिए लेश-मात्र भी स्थान नहीं है; परन्तु ये मन्त्र ही निश्चयपूर्वक कमनीय काव्य-कला के आद्य निदर्शन भी माने जा सकते हैं। वैदिक ऋषियों की वाणी में दिव्यता अपने भव्य रूप में स्वर्गीय सुगन्ध के साथ विलसित हो रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से वैदिक मन्त्र उदात्त तत्त्व-ज्ञान के निःसन्देह परिचायक हैं। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्ष चक्षुओं के द्वारा अनुभूत तत्त्वों के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक हैं। वैदिक ऋषि मनोभिलषित भावों को थोड़े-से चुने हुए सुबोध शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय-समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलंकारों के विधान करने में भी पराङ्मुख नहीं होता। अलंकारों की रानी उपमा का अत्यन्त भव्य, मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य-संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव। आनन्द से सिक्त कवि-हृदय की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध करती है। अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए उन्हें सरलतापूर्वक पाठक के हृदय तक पहुँचाने के निमित्त कवि की वाणी, जिन अन्तरंग मधुमय कोमल साधनों का उपयोग किया करती है अलंकार उन्हीं का अन्यतम रूप है। हम ऐसे काव्य-युग की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें भाव-भङ्गी में कोमल विलास के संचार-हेतु कवि किसी-न-किसी प्रकार के साम्य विधान का आश्रय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं लेता है।

वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विलास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा-विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य-भावना का आधिक्य है, तो इन्द्र-विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप-वर्णन में यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है, तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक चिह्न है भावों की सरल सहज अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।

इन्द्र की स्तुति के अवसर पर आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि की यह उक्ति है कि त्वष्टा के द्वारा निर्मित स्वरयुक्त वज्र के द्वारा जब इन्द्र ने पर्वत में आश्रय लेकर निवास करने वाले वृत्र को मारा, तब रँभाती हुई धेनुओं के समान जल जोरों से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला :

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥[1]

यहाँ 'वाश्रा धेनवः' की उपमा से सांयकाल चरागाहों से लौटने वाली, अपने बछड़ों के लिए उतावली से जोरों से रँभाती हुई और दौड़ती हुई गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने झूलने लगता है। जोरों से बहने वाले, घोर रोर करने वाले, बहुत दिनों तक रुके रहने के बाद प्रवाहित होने वाले जल के लिए इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान क्या हो सकता है? इसी वैदिक कल्पना को हमारे महान् कवियों ने भी अपने काव्यों में बड़ी रुचिरता के साथ अपनाया है।

हृदय-वृत्तियों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए वरुण-सूक्तों का अनुशीलन विशेष सहायक सिद्ध होगा। महर्षि वशिष्ठ ने एक अत्यन्त भावप्रवण सूक्त में अपने आराध्यदेव वरुण के प्रति अपना कोमल उद्गार प्रकट किया है। वह सुन्दर शब्दों में कह रहे हैं कि मैं अपने-आप पूछ रहा हूँ कि कब मैं वरुण के साथ मैत्री-सूत्र में बँध जाऊँगा। क्रोधरहित होकर वरुण प्रसन्न चित्त से क्या मेरे द्वारा दी गई हवि को ग्रहण करेंगे? अब मैं प्रसन्नमानस होकर उनकी दया को देखूँगा :

उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥[2]

जब विद्वानों की मीमांसा से उसे वरुण के कोप का पता चलता है तब कह उठता है कि हे देव, पितरों के द्वारा किये गए द्रोहों को दूर कर दीजिए और उन द्रोहों तथा विरोधों को भी दूर हटाइए जिन्हें हमने अपने शरीर से स्वयं किया है। जिस प्रकार पशु को चुराने वाले चोर को तथा बछड़े को रस्सी से लोग छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार आप भी अपराध की रस्सी में बँधे वशिष्ठ को भी मुक्त कीजिए :

---

१. ऋग्वेद—१।३२।२
२. वही—७।८६।२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥[1]

नम्रता तथा दीनता, अपराध-स्वीकृति तथा आत्म-समर्पण की भव्य भावनाओं से मण्डि[त] यह सूक्त वैष्णव भक्तों की उस वाणी की सुध दिलाता है जिसमें उन्होंने अपने को हजारों अपरा[धों] का भाजन बताकर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है।

उषा की सुष[मा]

उषादेवी के विषय में उपलब्ध सूक्तों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता [है] कि वे काव्य की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्य भावना-मण्डित हैं। प्रातःका[ल] अरुणिमा से मण्डित सुवर्ण छटा से विच्छुरित प्राची नभोमण्डल पर दृष्टिपात करते स[मय] किस भावुक के हृदय में कोमल भावना का उदय नहीं होता ? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेम भ[री] दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्य छटा पर रीझ उठता है। उषा मानवी के रूप में कवि-हृ[दय] के नितान्त पास आती है। यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणी-मात्र होती, [इस] विश्व से परे ऊर्ध्व लोक में अपनी दिव्य छवि छहराती रहती, मानव-जगत् के ऊपर उठ[कर] अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने में ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय[में] केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं। जब हमारी भावना का प्रसार इत[ना] विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि हम अपनी पृथक् सत्ता का सर्वथा निर्मूलन करके प्रकृति[की] सत्ता के भीतर नर-सत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं तब अनन्यता की भावना जन्म ले[ती] है। इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में, कभी गृहिणी के रूप [में] और कभी माता के रूप में देखता है। बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनु[भव] करता है। उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए माता की ममता की प्रति[मा] बन जाती है।

वैदिक ऋषि उषा के स्वरूप की भावना को तीव्र रूप से प्रकट करने के लिए नाना अ[लं]कारों का विधान प्रस्तुत करता है। उषा अपने शुभ्र उज्ज्वल रूप को धारण करती हुई स्[नान] करने वाली सुन्दरी की भाँति आकाश में प्रकट होती है, तो कभी वह भ्रातृ-विहीन भगिनी [के] समान अपने दाय-भाग को लेने के लिए पितृ-स्थानीय सूर्य के पास आती है, कभी वह सु[न्दर] वस्त्र पहनकर पति को अपने प्रेम-पाश में बाँधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के समान अ[पने] पति के सामने अपने सुन्दर रूप को प्रकट करती है :

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ॥[2]

कवि की दृष्टि उषा के रम्य रूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप [में] देखकर प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है—हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँ[ति] अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मि[त]वदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो :

१. ऋग्वेद—७।८६।५
२. वही—१।१२४।७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥[1]

यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है। यहाँ उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की भावना से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है। उषा के ऊपर की गई अन्य कल्पनाओं के भीतर भी उतना ही औचित्य दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अपने प्रकाश द्वारा संसार को उसी प्रकार संस्कृत करती है जिस प्रकार योद्धा अपने शस्त्रों को घिसकर उनका संस्कार करता है :

अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून् बाधते तमो अजिरो न वोळा ॥[2]

उषा अपने प्रकाश को उसी प्रकार फैलाती है जिस प्रकार ग्वाला चरागाह में गौओं को विस्तृत करता है अथवा नदी अपने जल को विस्तृत करती है :

पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना सिन्धुर्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत् ॥[3]

उषा का नित्य-प्रति उदित होना उसके अमरत्व की पताका है :

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ॥[4]

उषा का नित्यप्रति एकाकार रूप से आना कवि की दृष्टि में चक्र के आवर्तन के समान है। चक्र सदा आवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार उषा भी अपना आवर्तन किया करती है—

समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥[5]

इन उदाहरणों में उपमा का विधान उषा की रूप-भावना को तीव्र बनाने के लिए कितने उचित ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

उषा-विषयक मन्त्रों के अनुशीलन से हम वैदिक ऋषियों की प्रकृति के प्रति उदात्त भावना को भी भलीभाँति समझ सकते हैं। प्रकृति का चित्रण दो प्रकार का है—

(१) *अनावृत वर्णन*—प्रकृति का स्वतः आलम्बनत्वेन वर्णन, जहाँ प्रकृति की नैसर्गिक माधुरी कवि-हृदय को आकृष्ट करती है और अपने आनन्द से कवि-मानस को सिक्त करती है।

(२) *अलंकृत वर्णन*—जिसमें प्रकृति तथा उसके व्यापारों का मानवीकरण किया गया है। प्रकृति निश्चेष्ट न होकर चेतन प्राणी के समान नाना व्यापारों का सम्पादन करती है। वह कभी स्मितवदना सुन्दरी के समान दर्शकों का हृदय आकृष्ट करती है तो कभी उग्ररूपा भीषण जन्तु के समान हमारे हृदय में भय तथा क्षोभ उत्पन्न करती है।

वैदिक कवि की इस द्विविध भावना का स्फुट निदर्शन हमें उषा-सम्बन्धी भावनाओं में मिलता है। प्राची क्षितिज पर सुवर्ण के समान अरुण छटा छिटकाने वाली उषा का साक्षात्कार करते समय कवि का हृदय इस कोमल चित्र में रम जाता है—और वह उल्लासमयी भाषा में पुकार उठता है :

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती ।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥[6]

१. ऋग्वेद, १।१२३।१०। २. वही, ६।६४।३। ३. वही, १।९२।१२।
४. वही, ३।६१३। ५. वही, ३।६१।३। ६. वही, ३।३१।२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर आमरणशील बनकर चमको। तुम्हारे उदय के समय पक्षीगण सुन्दर रसमय वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर शिक्षित पृथुबल सम्पन्न सुवर्ण वर्ण वाले घोड़े तुम्हें वहन करें।

अलंकृत वर्णन के अवसर पर उषा से सम्बद्ध रूप तथा व्यापारों पर मानवीय रूप तथा व्यापारों का बड़ा ही हृदयरञ्जक आरोप किया गया है। एक स्थल पर कवि उषा की रूप-माधुरी का वर्णन करते समय शोभनवस्त्रा युवती के साथ उसकी तुलना करता है :

जायेव पत्य उशती सुवासा। उषा हस्रे व निरिणीते अप्सः ॥[१]

यहाँ कवि नारी के कोमल हृदय को स्पर्श कर रहा है। पति के सामने कौन सुन्दरी अपने हृदय के उल्लास तथा मन की वासना को गुप्त रख सकती है? और कौन ऐसी स्त्री होगी जो पति के सामने अपने सुन्दरतम सज्जा-सम्पन्न रूप को प्रकट करना नहीं चाहती? अपने पति भूत सूर्य का अनुगमन करने वाली उषा के आचरण में कवि साध्वी सती के आचरण की सु अभिव्यक्ति पाता है।[२] एक स्थान पर कवि भय से शंकित होकर कह उठता है कि कहीं उ के सुकुमार शरीर को सूर्य की तीक्ष्ण किरणें सन्तप्त न कर दें, जिस प्रकार राजा चोर को या श को सन्तप्त करता है :

नेत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति। सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते ॥[३]

अन्यत्र रंगमंच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातः प्राची क्षितिज के रंगमंच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली उषा के साथ क हुआ अपनी कलाप्रियता का परिचय देता है :

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ॥[४]

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में प्रकृति के इस द्विविध रूप की भव्य भ प्रस्तुत की है। 'ऋतु संहार' में प्रकृति अपने अनावृत रूप में पाठकों के सामने अपनी रम छवि दिखलाती है, तो 'मेघदूत' में वह अलंकारों की सजावट से चमत्कृत तथा कोमल हा भावभङ्गिमाओं से स्निग्ध रमणी के रूप में आकर प्रस्तुत होती है। कालिदास का यह प्र चित्रण ऋग्वेदीय मञ्जुल धारा के ही अन्तर्गत है।

१. ऋग्वेद—१।१२४।७।
२. वही, ७।७६।३।
३. वही, ५।८०।६।
४. वही, १।९२।४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

चन्द्रबली पाण्डे

वीरगाथा का विरोध क्यों ?

'वीरगाथा' का इतिहास कुछ भी हो किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि 'हिन्दी-साहित्य' के 'आदि काल' का नाम पड़ा है 'वीरगाथा-काल' स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ही की कृपा से। उनका स्पष्ट कथन भी है :

"आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा-काल' रखा है।"

क्यों रखा है, इसका विवरण भी उनके 'इतिहास' के 'वक्तव्य' में आ गया है, अतएव हम यहाँ उसके अवतरण की आवश्यकता नहीं समझते और न यही कहना चाहते हैं कि उनके जीवन-काल में ही इसकी आलोचना हुई और तब से अब तक बराबर होती आ रही है। फिर भी यह कहा ही जा सकता है कि अभी तक मान्य यही समझा जाता है। इसके स्थान पर इधर बड़े आव-ताव और दबदबे के साथ जिस नाम का प्रतिपादन किया गया है वह है 'सिद्ध-सामन्त' का संयुक्त नाम। और नहीं, हिन्दी के यशस्वी समालोचक आचार्य डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते वा 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' की भरी मण्डली में भाषण करते हुए कहते हैं :

"विषय-वस्तु को दृष्टि में रखकर इस काल के लिए राहुल जी ने एक और नाम सुझाया है, जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह नाम है 'सिद्ध-सामन्त-काल'। इस काल का जो भी साहित्य मिलता है उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रहीं जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति। वस्तुतः काल-प्रवृत्ति प्राप्य ग्रन्थों की संख्या द्वारा नहीं निर्णीत हो सकती, बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकती है। प्रभाव-उत्पादक और प्रेरणा-संचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है।"[1]

ठीक, परन्तु सच तो कहें, किसी 'काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु' का पता चलता कैसे है और उसका नाता साहित्य से कुछ होता भी है या नहीं ! आचार्य शुक्लजी का पक्ष है :

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, सं० २००६ वि०—पृष्ठ २३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्त-वृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है।"[1]

तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल जी 'कार्य' को 'इतिहास' का विषय बनाते हैं और आचार्य द्विवेदी जी 'कारण' को। फलतः उनका 'आदिकाल' कारण का पुञ्ज बन गया है, 'सामंजस्य' का उसमें नाम नहीं। देखिए न, उसी क्रम में आचार्य द्विवेदी जी किस प्रकार कहते हैं :

"फिर 'सामन्तकाल' में 'सामन्त' शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा-स्रोत का भी पता चलता है। 'सामन्त' जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है उसमें उसकी झूठी सच्ची विजयों और कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगों का होना उचित ही है। एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा श्रृङ्गार रस का आलम्बन। सामन्त को दोनों ही चाहिएँ। इस प्रकार इस शब्द में इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का गुण है।"

प्रश्न उठता है किस शब्द में ? 'सामन्त' या 'सिद्ध-सामन्त' में ? 'सामन्त' में ही न ? कारण यह कि इसीके आगे आप और भी स्पष्ट करते हैं :

"'प्राकृतपैंगलम्' में उदाहरण रूप में उद्धृत पद्यों में इस प्रकार की राजस्तुतिमूलक रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हैं और तत्कालीन संस्कृत-काव्य में इस श्रेणी की रचनाएँ बहुत अधिक हुई हैं। सो ये राजस्तुतिपरक रचनाएँ 'वीरगाथा' उतनी नहीं हैं जितनी राजस्तुति हैं। उनकी लड़ाइयों और विवाहों की कथाओं में कल्पना अधिक है, तथ्य कम।"

आचार्य द्विवेदी जी 'तथ्य' और 'कल्पना' का द्वन्द्व छेड़कर जो कुछ दिखाना चाहते हैं उसकी जाँच के पहले यह ही जानिए कि उन्होंने 'सिद्ध' और 'सामन्त' को देखा किस दृष्टि से है। सो 'सिद्ध' के सम्बन्ध में उनका विवेचन है :

"इस मत के योग-मत और योग-सम्प्रदाय नाम तो सार्थक ही हैं; क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध-मार्ग इसलिए कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' है जिसे अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी के पंडित बलभद्र ने संक्षिप्त करके 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। इन ग्रन्थों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध मत' कहा जा रहा है।"[2]
तथा इसी क्रम में आप ही तो और भी स्पष्ट करते हैं :

"गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के शुरू में ही 'सिद्ध मत' की भक्ति-हीनता की ओर इशारा किया है। गोस्वामी जी के ग्रन्थों से पता चलता है कि वे यह

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आरम्भ।
२. नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद—पृष्ठ १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था। मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' के आरम्भ में शिव की वन्दना के प्रसंग में जब उन्होंने कहा था कि 'श्रद्धा' और 'विश्वास' के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव हैं; इन्हीं दो गुणों (अर्थात् श्रद्धा और विश्वास) के अभाव में 'सिद्ध' लोग भी अपने ही भीतर विद्यमान ईश्वर को नहीं देख पाते, तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपंथियों से था। यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामी जी इस मत को 'सिद्ध मत' ही कहते थे। यह नाम सम्प्रदाय में भी बहुत समादृत है और इसकी परम्परा बहुत पुरानी मालूम होती है।"

तो क्या कोई भी विचारशील व्यक्ति यह कहने में हिचक सकता है कि वास्तव में हिन्दी-साहित्य के 'सिद्ध-सामन्त' काल में 'सिद्ध' का संकेत होगा 'नाथपंथी' ही। रहा 'सामन्त', तो उसकी यह स्थिति है : "शुक्रनीति के अनुसार जिसकी वार्षिक आय (भूमि से) एक लाख चाँदी के कार्षापण होती थी वह सामन्त कहलाता था।"[1]

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के इस अध्ययन की छाया में डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का उक्त 'सामन्त' कहाँ टिकेगा, कह नहीं सकता। उनके 'सिद्ध' की वह गति और उनके 'सामन्त' की स्थिति यह। फिर किस आधार पर क्या बताने के लिए खड़ा होगा आचार्य द्विवेदी का 'बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट' करने वाला यह 'सिद्ध-सामन्त' नाम ? स्मरण रहे राहुल बाबा की साखी भी यहाँ कुछ और ही करतब दिखायगी। कारण, उनका तो 'सिद्ध-सामन्त काल' है सन् ७६० से सन् १३०० ई० तक और आपका आदिकाल है अज्ञात, अथवा ज्ञात है तो यही कि आपकी ही वाणी में :

"साधारणतः सन् ईसवी की दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' कहा जाता है। शुक्लजी के मत से संवत् १०५० (सन् ९९३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहना चाहिए।"[2]

आचार्य द्विवेदी ने 'साधारणतः सन् ईसवी' का उल्लेख किस आधार पर किया है, कह नहीं सकता। कारण कि इसका अर्थ तो यह होता है कि 'हिन्दी-साहित्य' के इतिहास-लेखक साधारणतः ईसवी सन् का प्रयोग करते हैं और उसके 'आदिकाल' का भोग मानते हैं सन् ९०१ ई० से १४०० ई० अर्थात् सं० ९५८ वि० से सं० १४५७ वि० तक। परन्तु जहाँ तक इस जन को पता है वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आचार्य द्विवेदी कहने को कह जाते हैं :

"इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगने-मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य-क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरितमानस' भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य-सीमा के भीतर

१. हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, सं० २०१०—पृष्ठ २१९-२२०।

२. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं घुस सकेगा।"[1]

परन्तु तब न, जब हिन्दी के लोग इतने विवेकशून्य हो जायँ? पता नहीं ऐसा सोचने का कारण क्या है? राहुल जी की 'काव्य-धारा' में किया क्या गया है जो उन पर इस प्रकार का मिथ्यारोप लगाया जाय? यह सम्भव तभी है जब 'सिद्ध-सामन्त' का मोह छोड़कर 'संक्रान्ति' को समझा जाय और साहित्य को प्रचार का अस्त्र न बनाकर जीवन का शास्त्र माना जाय, अन्यथा 'सिद्ध-सामन्त' का नामकरण तो सबसे पहले इन्हीं जैन कवियों को चर जायगा।

हाँ, तो इतना स्फुट रहे कि 'वीरगाथा' में यह दोष नहीं। 'गाथा' का प्रयोग 'चरित' के लिए भी होता है न? यदि कुछ भी सन्देह हो तो कृपा करके 'रामचरितमानस' का पाठ करें। श्रीगणेश किया नहीं कि आपको गोचर हुआ:

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-
भाषानिबन्धमतिमन्जुलमातनोति॥

तुलसी ने यहाँ 'गाथा' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है वहीं 'वीरगाथा' के 'गाथा' शब्द में भी चरितार्थ होता है। 'गाथा' शब्द के इतिहास में जाने से लाभ नहीं। स्मरणीय यहाँ इतना ही है कि 'वीरगाथा' का 'गाथा' शब्द स्व० शुक्लजी का कोई अपना शब्द नहीं, वह तो हिन्दी भाषा का एक अत्यन्त प्रचलित और व्यवहृत शब्द है। यहाँ तक कि राजस्थानी इतिहास के अद्वितीय पण्डित महामहोपाध्याय डॉक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी 'ढोला-मारू रा दूहा' के विषय में लिखते हैं:

"यह एक विचित्र (रोमेंटिक) प्रेम-गाथा है और इसमें मानव-हृदय के कोमल मनोभावों एवं बाह्य प्रकृति के मनोहर चित्र अंकित किये गए हैं।"[2]

और इसके सम्पादक त्रय इसकी आलोचना में इसकी स्थिति स्पष्ट करते हैं:

"यद्यपि रीति और साहित्य-शास्त्र के बहाव में सदियों तक बह चुकने के बाद आज हमारी कल्पना काव्योत्पत्ति के इस प्रकार को संभाव्य और युक्तिसंगत समझने में असमर्थ है, परन्तु यदि हम प्राचीन समय के मौखिक परम्परागत साहित्य के प्रवाह और परिस्थिति को ध्यानपूर्वक देखें तो यह बात सहज ही समझ में आ सकेगी। इन सिद्धान्तों के अनुसार ढोला-मारू की प्रेम-गाथा को किसी व्यक्ति-विशेष कवि की कृति न मानकर भी हमको यह कल्पना करने में कठिनाई नहीं होती कि यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य-युग की एक विशेष कृति है और संभव है कि तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए उससे प्रेरित होकर किसी प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने जनता-प्रीत्यर्थ उसीके मनोभावों को वर्तमान काव्य-रूप में बद्ध करके उसके समक्ष उपस्थित कर दिया हो और जनता ने बड़ी प्रसन्नता से इसे अपनी ही सामूहिक कृति मानकर कण्ठस्थ किया हो।"[3]

आचार्य द्विवेदी जी की 'ढोला-मारू की प्रेमगाथा' में कितना 'तथ्य' और कितनी 'कल्पना'

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ ११।
२. ढोला-मारू रा दूहा—ना० प्र० सभा, काशी; सं० १९९१—प्रवचन, पृष्ठ ८।
३. वही, पृष्ठ ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई देती है और उनकी दृष्टि में 'गाथा' का स्वरूप क्या है, पाठक इसको उन्हींसे समझने का प्रयत्न करें। हाँ, उसकी परम्परा के सम्बन्ध में इतना अवश्य जान लें कि काशी विश्व विद्यालय के प्राध्यापक श्री बलदेव उपाध्याय जी के मतानुसार :

"विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया है। वह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है। जैसे ग्रीक महाकवि होमर का 'इलियड' और 'ऑडेसी' नामक युगल महाकाव्य। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है, परन्तु गाथा-चक्रों के रूप में वे प्राचीन काल से बन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे।"[1]

कहा जा सकता है कि इस 'पाश्चात्य मत' से आचार्य द्विवेदी जी को लेना क्या, जो अपने 'आदिकाल' में इसका उल्लेख करते। निवेदन है, उन्हींका तो वचन है :

"मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिसने मुझे हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के 'काव्य-रूपों' के उद्भव और विकास की कहानी कहने का अवसर दिया है।"[2]

फिर किसी 'विकसित' काव्य-रूप की उपेक्षा क्यों ? प्राणी और प्रतीक में भेद क्या ? क्या आचार्य द्विवेदी को इसका पता नहीं कि किसी की 'कल्पना' किसी का 'तथ्य' बन जाती है और वह लोक में सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है ? इसका भी कुछ इतिहास है। वही उपाध्याय जी उसी प्रसंग में उसीके आगे लिखते हैं :

"महाकाव्य की रचना की प्रेरणा भारतीय कवियों को वेदों से ही प्राप्त हुई है। वेदों में देव-स्तुति के अतिरिक्त प्राचीन काल के प्रसिद्ध राजाओं की प्रशंसाएँ भी हैं, जिन्हें 'नाराशंसी' कहते हैं।....इतना ही नहीं, ऋग्वेद के समय की बहुत-सी गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं जिनमें किसी प्राचीन ऐतिहासिक राजा के विषय में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख रहता है अथवा किसी विषय का सुन्दर तथा रोचक वर्णन किया गया रहता है। ऐसी गाथाएँ 'ऐतरय ब्राह्मण' में 'शुनः शेप' के कथानक में दी गई हैं। इन्हीं समग्र साधनों का उपयोग करके पिछले कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों आदि के वर्णन से पुष्ट कर महाकाव्य को जन्म दिया।"[3]

भाव यह कि आज का 'वीरगाथा' शब्द इसी 'नाराशंसी गाथा' या 'नाराशंसी' का प्रतिभू है। 'गाथा' हिन्दी का एक चिरपरिचित और बहुत व्यवहृत शब्द है। उसका सम्बन्ध 'तथ्य' से भी है, 'कल्पना' से भी है और है साथ ही अभिरुचि तथा संस्कार से भी। अधिक क्या ? 'दानवीर' के प्रसंग में विद्यापति लिखते हैं :

"तद्दानपरितुष्टास्ते सर्वत्र तस्या कीर्तिगाथां गायन्ति। राजोवाच। वैतालिक सत्यमेतत् ?" अर्थात् 'गाथा' शब्द 'सत्य' की गारंटी नहीं और 'स्तुति' शब्द 'कल्पना' का प्रतीक नहीं जो इस 'कीर्ति-गाथा' को 'दान-स्तुति' न समझा जाय और 'गाथा' को कोई 'इतिवृत्त' का वाचक माना जाय। विद्यापति का कथन है कि :

१. शारदा मन्दिर, काशी, सं० २००२, पृष्ठ ७६।
२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ १।
३. वही, पृष्ठ ८०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दानवीरो हरिश्चन्द्रो दयावीरः शिविर्नृपः
युद्धवीरोऽभवत् पार्थस्सत्यवीरो युधिष्ठिरः ॥[१]

किन्तु 'युगान्तर पुरुष' से वर्तमान का काम नहीं सधता। अतएव विद्यापति ने 'कलि' के जीवों को ही 'परीक्षा' का विषय बनाया और 'दानवीर' के लिए 'विक्रमादित्य' को, 'दयावीर' के लिए 'हम्मीर' को, 'सत्यवीर' के लिए 'नरसिंहदेव' तथा 'चाचिकदेव' को, एवं 'युद्धवीर' के लिए 'मल्लदेव' को चुना। इनमें से 'हम्मीर' और 'मल्लदेव' की कथा विचारणीय थी। परन्तु आचार्य द्विवेदी को इसकी गन्ध कहाँ? यदि सचमुच उनको इनका कुछ पता होता तो 'शार्ङ्गधर' और 'जज्जल' के विषय में स्यात् उनका मत आचार्य शुक्ल जी के साथ होता।

जो हो, जानना यहाँ यह है कि वास्तव में 'वीर' के भीतर सभी 'वीर' आ जाते हैं, कुछ निरे 'युद्धवीर' को ही 'वीर' नहीं कहते। फलतः 'वीरगाथा' का संकेत है सभी प्रकार के 'वीरों' की 'गाथा' से। हाँ, यहीं यह भी स्पष्ट हो ले कि साहित्य-शास्त्र में 'सत्यवीर' को 'धर्मवीर' कहा गया है जिसे 'रस' के सभी प्राणी भली भाँति समझते हैं।

'वीर' के इतने विवेचन के बाद बताना अब यह रहा कि जो 'विपुल सामग्री' इधर 'उपलब्ध हुई है' वह आप ही इस 'वीर' के भीतर सिमट आती है। कारण यह है कि स्वयं आचार्य द्विवेदी का वचन है :

"ये ग्रन्थ अधिकतर जैन-ग्रन्थ-भाण्डारों से ही प्राप्त हुए हैं और अधिकांश जैन कवियों के लिखे हुए हैं। स्वभावतः ही इनमें जैन धर्म की महिमा बताई गई है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है।"[२]

तो फिर आप ही कहें कि इस 'धर्मवीरता' के नाते इन्हें 'वीरगाथा' नहीं तो और क्या कहें? इनका 'चरितनायक' 'सिद्ध' है क्या? स्मरण रहे, इस काल का लेखा लेने पर 'सूरि' 'सिद्ध' को नगण्य कर देगा तो 'राजा' 'सामन्त' को। फिर यह 'सिद्ध-सामन्त' की गोहार कैसी? हाँ, 'सिद्ध' से अति अनुराग हो तो इसे 'सिद्धि-काल' कह लें, अन्यथा राहुल जी की शरण से लाभ क्या? इनका काल-विभाजन तो कुछ और ही है न? देखिए न। उनके पाँच युग हैं—

१. सिद्ध-सामन्त-युग, २. सूफी-युग, ३. भक्त-युग, ४. दरबारी-युग, और ५. नवजागरण युग। अस्तु उनका पंथ आपके लिए सुगम नहीं, भयावह है। 'वीर कौल' तो आप बन नहीं पाते, फिर 'सिद्ध' की चिन्ता क्या? उस दशा में भी 'वीर' अपना करतब दिखायगा। आप कहते हैं :

"एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृंगार रस का आलंबन।"[३]

तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि आपके 'सिद्ध-सामन्त-काल' का 'सामन्त' बस वाग्वीरता में मग्न रहता है और कभी भूलकर भी किसी नायिका में रत नहीं होता? यदि हाँ, तो आप के युग की सृष्टि ही निराली है।

---

१. पुरुष-परीक्षा—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९११ ई०।
२. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ ५।
३. वही, पृष्ठ २३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचन्द्र तिवारी

सन्त-सम्प्रदायों की राजनीतिक परिणति

हिन्दी-प्रदेश में सन्त-मत का पूर्णोद्भव सन्त कबीर के समुदय के साथ हुआ। कबीर ने एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया। इस चेतना का आदि स्रोत सर्वथा नवीन नहीं था। बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक आचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म हुआ था। रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ संकीर्ण और उदार होती हुई यह भावना जन-जीवन-प्रवाह के साथ बहती चली आई थी। कबीर ने इस भावना में आत्मविश्वास की दृढ़ता फूँकी, इसे संकीर्णताओं से मुक्त किया, हीनता की भावना को दूर किया तथा समता की दृष्टि दी। इस प्रकार विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया।

कबीर के समसामयिक अन्य सन्तों—सेन, पीपा, रैदास, कमाल, धन्ना, नानक आदि—की जीवन-साधना एवं धार्मिक दृष्टि भी ठीक इसी प्रकार की थी। ये सभी सन्त सरल थे। रूढ़ियाँ सभीको अप्रिय थीं तथा शुद्धाचरण सभी को मान्य था। इनका व्यक्तित्व-संगठन स्पष्टता और स्वतन्त्रता के आधार पर हुआ था। जीवन के मूल्यों के आकलन के लिए इनके पास एक ही कसौटी थी—अनुभव एवं विवेक। इनकी वाणियों में अखण्ड आत्म-विश्वास भरा था। इन सभी ने कबीर द्वारा पोषित नूतन सांस्कृतिक चेतना के समुदाय और विकास में सच्चा सहयोग दिया।

अपने समुदय-काल में यह सन्त-मत किसी प्रकार की संगठन की मनोवृत्ति लेकर नहीं चला था। इसमें संगठन की प्रवृत्ति के समागम तथा साम्प्रदायिक भावना के प्रवेश की कहानी हिन्दी-प्रदेश में इस्लामी प्रभाव के साथ प्रारम्भ होती है। हिन्दी-प्रदेश की चिन्ता-धारा के मध्य-युगीन विकास के अध्येताओं के लिए यह कहानी मनोरंजक ही नहीं महत्त्वपूर्ण भी है।

११वीं शती वि० में हिन्दी-प्रदेश में जिस इस्लामी संस्कृति का प्रवेश हुआ वह अपनी सम्पूर्ण उदारता में भी साम्प्रदायिक भावना से मुक्त न थी। इस्लाम-अनुमोदित आचारस-मता, जातीय एकता, भ्रातृ-भावना, एकेश्वरवादी विश्वास आदि सभीके पीछे कट्टरता का पुछल्ला लगा था। इस संस्कृति के पोषक मुस्लिम जन-समुदाय ने अपने से सर्वथा प्रतिकूल प्रवृत्ति रखने वाली हिन्दू जाति को पराजित करने के लिए अपनी धार्मिक कट्टरता को पूरे बल से पकड़ रखा। हिन्दी-प्रदेशीय मुसलमानों से इतर जन-समुदाय को जीवन के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में इस कट्टरता का सामना करना पड़ा।

हिन्दू जनता में इस धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। निम्नवर्गीय हिन्दू जातियाँ जो सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से हीन थीं और जिन्हें शताब्दियों से उच्चवर्ग की उपेक्षा, अवहेलना, घृणा तथा अपमान के बीच घुटना पड़ रहा था, स्वेच्छा से इस्लाम स्वीकार करने लगीं। दूसरी ओर उच्चवर्ग अपने को सभी इतर वर्गों से सर्वथा पृथक् बनाए रखने के लिए रूढ़िग्रस्त धार्मिक आचारों-संस्कारों तथा जातिगत विषमताओं से और भी चिपकने लगा।[1]

१. मुस्लिम शासन के प्रारम्भ में ही ऐसी ८४ हिन्दू जातियों का उल्लेख मिलता है जिनका परस्पर खान-पान नहीं था—'लाइफ एण्ड कैण्डीशन ऑफ़ दी पीपुल ऑफ़ हिन्दुस्तान' —अशरफ़, पृष्ठ १६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दोनों के बीच एक ऐसा हिन्दू समुदाय भी था जो युग-युग की इस बद्ध धारणा—"स्वधर्मे मरणं श्रेयः"—से चिपका होने के कारण अनेक कष्ट सहन करने पर भी इस्लाम न स्वीकार कर सका था किन्तु उच्चवर्गीय कुलीन हिन्दुओं से उसे सम्मान भी न प्राप्त था। सन्तों की सरल बानियों से सर्वाधिक स्फूर्ति, सम्बल और प्रेरणा इसी समुदाय को प्राप्त हुई।

सन्त-मत का प्रवेश जब इस सामान्य जन-समुदाय में हुआ तो उसका स्वरूप भी जन-जीवन की मनःस्थिति के अनुसार ढलने लगा। युग-युग से शोषण, घुटन और आत्महीनता के वातावरण में रहने के कारण निम्न जन-समुदाय सन्तों के स्वतन्त्र विचारों एवं समतामूलक जीवन-दृष्टि का बौद्धिक समर्थन तो करता रहा किन्तु उनके जीवन-सिद्धान्तों और आदर्शों को अपने जीवनाचारों में उतार न सका। फलतः सन्तों से प्रभावित यह जन-वर्ग अपनी हीन भावना को छिपाने के लिए कुलीन हिन्दुओं के समानान्तर पृथक् धार्मिक रूढ़ियों एवं संस्कारों के माया जाल का सृजन करने लगा। इस प्रकार सन्त-समुदाय के पृथक् पर्व, त्योहार, धर्माचार-संस्कार आदि संगठित होने लगे। मन्दिरों और मठों में प्रवेश निषिद्ध होने के कारण गुरुद्वारों का निर्माण हुआ। गोविन्द का स्वरूप-ज्ञान अगम्य होने के कारण गुरु को ही गोविन्द माना गया। मूर्ति-स्पर्श वर्जित होने के कारण गुरु-ग्रन्थ की ही पूजा होने लगी। पण्डितों द्वारा प्रयुक्त पूजा-मन्त्रों का ज्ञान न होने के कारण उसीके वज़न पर अनुस्वारादि लगाकर सधुक्कड़ी भाषा में मन्त्रावलियाँ बनाई गईं। इसी प्रकार गुरु जयन्ती, ग्रन्थ-जयन्ती आदि रूपों में पृथक् त्योहारों का श्रीगणेश हुआ। अन्ततः प्रत्येक प्रसिद्ध सन्त से प्रभावित श्रद्धालु जनवर्ग पन्थ और सम्प्रदाय का रूप ले बैठा। संवत् १७०० वि० के कुछ पूर्व तक उत्तरी भारत में कबीर पंथ, नानक पंथ, साध सम्प्रदाय, लाल पंथ, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, बावरी पंथ, मलूक पंथ आदि अनेक पंथों और सम्प्रदायों का जाल बिछ गया।

अभी तक सम्प्रदाय-संगठन का स्वरूप सांस्कृतिक ही था। इसमें राजनीतिक प्रयोजन का प्रवेश नहीं हुआ था। सं० १६३१ वि० में बाबा तुलसीदास ने पंथ-प्रवर्त्तन की इस प्रवृत्ति को लक्ष्य किया था किन्तु उनका व्यंग्य इनके धार्मिक स्वरूप पर ही तीव्रतम रूप में प्रकट हुआ था।[1] यदि उस समय इन सम्प्रदायों के संगठन के मूल में किसी प्रकार का राजनीतिक प्रयोजन भी होता तो उनकी सतर्क दृष्टि उसे अवश्य लक्ष्य करती और उनकी वाणी व्यंग्य करने से न चूकती। कबीर ने अवश्य बन्दूक चलाने वाले कच्चे सिद्धों की मखौल उड़ाई थी,[2] किन्तु 'बीजक' में समाविष्ट सभी कथनों में उनके निज के कितने हैं यह कह सकना अत्यन्त कठिन है।

अकबर के समय में मुस्लिम धार्मिक नीति पर्याप्त उदार हो गई। उसने सर्व-धर्म-समन्वय पर बल दिया। उसकी परिवर्तित नीति ने न केवल हिन्दुओं और मुसलमानों को निकट ला दिया वरन् सन्त-सम्प्रदायों में भी समन्वय और सम्पर्क की भावना बढ़ने लगी। वे एक-दूसरे के निकट आने लगे। उच्चवर्गीय हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं के प्रति उनमें विद्रोह की भावना क्षीण होने लगी। यही नहीं आगे चलकर सूफ़ियों, जैनियों और ईसाइयों के धार्मिक आचारों का प्रवेश भी सन्तों के विभिन्न सम्प्रदायों में होने लगा।[3]

---

१. 'दम्भिन निज मत कलपि करि प्रगट किये बहु पंथ'—'मानस उत्तर काण्ड' पृष्ठ ६७।
२. 'कबीर'—हज़ारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ १२६।
३. 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा'—पृष्ठ २१७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ धार्मिक उदारता बनाए रखने का प्रयत्न किया। फलतः सन्तों में समन्वयात्मक प्रवृत्ति का विकास होता रहा। औरंगजेब के शासन में मुस्लिम धार्मिक नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता सीमा पार कर गई। उसकी राजनीति का परिचालन धर्मनीति के आधार पर ही होता था। उसकी आर्थिक नीति का आधार भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति थी। वह अपनी छाया से भी सशंक रहता था। जजिया फिर से लगाया गया। मन्दिर और पाठशालाएँ ध्वस्त की गईं। मस्जिदें और मकतब निर्मित हुए। हिन्दू-विक्रेताओं पर कर लगाया गया। सामूहिक इस्लाम-प्रवेश को प्रोत्साहन दिया गया। वस्तुतः इस धार्मिक कट्टरता की विद्वेषपूर्ण हिंसात्मक प्रतिक्रिया ने ही सन्त-सम्प्रदायों को राजनीतिक क्षेत्र में सशस्त्र प्रवेश करने के लिए बाध्य कर दिया।

औरंगजेब की धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। एक तो मुसलमानों में ही सूफियों से प्रभावित उदार दल औरंगजेब के विरुद्ध खड़ा हो गया। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व दारा-शिकोह को प्राप्त हुआ। परवर्ती सन्त-सम्प्रदायों में कई दारा शिकोह के सम्पर्क में आए थे। दूसरे पुनरुत्थान की प्रवृत्ति अपनी सम्पूर्ण उग्रता के साथ जाग उठी।

हिन्दू पुनरुत्थान की प्रवृत्ति भी कई रूपों में प्रकट हुई। युद्धप्रिय वीर जातियों ने सशस्त्र विद्रोह किया। हिन्दी-कवियों ने ओजपूर्ण वीर रसात्मक काव्य-कृतियों में यशस्वी हिन्दू-वीरों का गुण-गान प्रारम्भ किया। धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधारों पर संगठित अनेक सन्त-सम्प्रदाय सशस्त्र सैनिक संगठन के रूप में बदल गए। सम्प्रदायों से पृथक् कुछ स्वतन्त्र प्रकृति के हिन्दू सन्तों ने जाग्रत हिन्दू जातियों के संगठन में परोक्ष रूप से भी सहायता पहुँचाई।

युद्धप्रिय वीर विद्रोही जातियों का स्वातन्त्र्य-संग्राम सर्वविदित है। इतिहास के पृष्ठ उसके साक्षी हैं। शिवाजी के नेतृत्व में मरहटों का विद्रोह और राज्य-स्थापन, राठौर वीर दुर्गा-दास का राणा राजसिंह की सहायता से मारवाड़ तथा मेवाड़ की रक्षा के लिए सतत शौर्य-प्रदर्शन, मथुरा में गोकुल जाट का घोर संघर्ष तथा बुन्देलखण्ड के अप्रतिम वीर छत्रसाल की दुर्जेय वीरता सभीके पीछे हिन्दू पुनरुत्थान की भावना कार्य कर रही थी। धार्मिक सन्त-सम्प्रदायों में सिख, नागा (दादू पन्थ की उपशाखा) सत्तनामी और साध ऐसे सम्प्रदाय हैं जिन्होंने प्रत्यक्षतः अपने सांस्कृतिक संगठन को राजनीतिक स्वरूप दे दिया।

सिक्खों के प्रथम चार गुरुओं ने अपना कार्य धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखा था। पाँचवें गुरु अर्जुन को जहाँगीर ने खुसरो का समर्थन करने के कारण बन्दीगृह में डाल दिया था। वहीं (१६०६ ई०) उनकी मृत्यु हो गई। इस हत्या ने सिखों में विद्रोह का बीज वपन किया। फलतः अपने नवीन गुरु हरगोविन्दसिंह के नायकत्व में इस सम्प्रदाय ने अपने को सैनिक संघ के रूप में परिवर्तित कर लिया। नवें गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति का विरोध खुलकर किया। वे पकड़े गए। उनकी निर्मम हत्या की गई। गुरु ने **'सिर दिया पर सार न दिया'**। इसके बाद गुरु गोविन्दसिंह ने आजीवन संगठित संग्राम जारी रखा। स्पष्ट है कि सिखों के राजनीतिक संगठन का एक-मात्र कारण औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता थी।

सत्तनामी सम्प्रदाय वालों ने सं० १७२६-३० में विद्रोह किया था। इस विद्रोह के पूर्व इनके संगठन का क्या स्वरूप था, यह कहा नहीं जा सकता। इस विद्रोह का मूल कारण आर्थिक था। वस्तुतः यह विद्रोह किसान-विद्रोह था। यह अवश्य है कि ये किसान समान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक विश्वास रखने के कारण विद्रोह में भ्रातृ-भावना के साथ एक होकर सम्मिलित हो सके थे। युद्ध में इनकी उग्रता, संगठन और शस्त्र-संचालन की कुशलता का वर्णन पढ़कर यह प्रतीत होता है कि पहले से ही इस धार्मिक सम्प्रदाय का शस्त्रास्त्रों से पूर्ण परिचय था। कुछ भी हो इससे हमारी इस धारणा में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वस्तुतः धार्मिक सम्प्रदायों का राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने का बहुत बड़ा कारण औरंगज़ेब की कट्टरता थी।

साध-सम्प्रदाय का वास्तविक ऐतिहासिक विवरण अन्धकार में ही है। इस सम्प्रदाय की प्रायः सत्तनामियों से एकता स्थापित की गई है। यदि यह सम्प्रदाय सत्तनामियों से भिन्न था तो इसके सैनिक संगठन का ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं दिया जा सकता। किंवदन्ती है कि उदादास जब दिल्ली के आस-पास इस सम्प्रदाय का प्रचार कर रहे थे तो औरंगज़ेब ने इसके विरुद्ध युद्ध करने के लिए सैनिक भेजे थे। वह स्वयं भी युद्ध में उपस्थित हुआ था और उदादास उसके हाथ से मारे गए थे। उदादास के दो प्रधान शिष्य जोगीदास और बीरभान थे। डॉ० यदुनाथ सरकार के अनुसार सन् १६५८ ई० (१७१५ वि०) में धौलपुर के निकट महाराज महासिंह ने दाराशिकोह की ओर से औरंगज़ेब के विरुद्ध युद्ध अवश्य किया था किन्तु वहाँ किसी साध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जोगीदास का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1] जनश्रुति को ही यदि विश्वसनीय माना जाय और यह सम्भावना हो कि दिल्ली के निकट धौलपुर वाले युद्ध में महासिंह के साथ जोगीदास ने भी युद्ध किया था तो निश्चय ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन के मूल में राजनीतिक प्रयोजन भी कार्य कर रहा था।

दादू पन्थ की उपशाखा नागा सम्प्रदाय का संगठन औरंगज़ेब के राजत्व-काल के बाद की घटना है। अतः इस सम्प्रदाय के सैनिक संगठन का कारण उसकी धार्मिक नीति नहीं मानी जा सकती। नागा सम्प्रदाय का सम्बन्ध जयपुर राज्य से सं० १८०० के आस-पास से ही सिद्ध होता है। इनके संगठन का कारण निश्चय ही सम्प्रदाय की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति ज्ञात होती है। मुगल साम्राज्य के ध्वंस होने के बाद घोर अराजकता के युग में धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति जनता में श्रद्धा और सम्मान की भावना नहीं रह गई थी। ऐसी स्थिति में उदर-पूर्ति के लिए सैनिक संगठन आवश्यक था। इस संगठन के कारण आपस में लड़ने वाले राजा और सामन्त भी किराये पर इनका प्रयोग अपने सैनिकों के साथ कर लिया करते थे और कभी-कभी ये स्वयं ही किसी छोटे-मोटे सामन्त को लूट लेते थे। नागा सम्प्रदाय का संगठन इसी प्रकार का प्रतीत होता है। वि० क्रुक ने जयपुर राज्य की ओर से निकटवर्ती गावों में रहने वाले नागाओं को वेतन दिये जाने का उल्लेख भी किया है।

उपर्युक्त प्रमुख सैनिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त धामी, शिवनारायणी, चरणदासी, गरीब पन्थी और नागी (राधास्वामी सम्प्रदाय की एक उपशाखा) सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनके मूल में भी राजनीतिक प्रयोजन सन्निहित है। धामी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त प्राणनाथ का छत्रसाल से ठीक वैसा ही सम्बन्ध बताया जाता है जैसा शिवाजी से समर्थ गुरु रामदास जी का। छत्रसाल के हृदय में हिन्दुत्व की भावना भरने का बहुत-कुछ श्रेय प्राणनाथ को दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन के मूल में हिन्दुत्व-जागरण की भावना उनके हृदय में अवश्य कार्य कर रही थी। यह भावना उस समय विशुद्ध राजनीतिक भावना थी। यह होने पर भी धामी

१. **'उत्तरी-भारत की सन्त-परम्परा'—पृष्ठ ३६४।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदाय अपने संगठित रूप में एक धार्मिक संगठन ही रहा।

शिवनारायणी सम्प्रदाय का संगठन मुहम्मदशाह के समय में हुआ था। प्रारम्भ में यह सम्प्रदाय विशेषकर राजपूतों में ही प्रचार पा सका था। प्रारम्भ में इसके संगठन का क्या स्वरूप था? निश्चित रूप से इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सम्प्रदाय में किंवदन्ती है कि 'पोत' न देने के कारण एक बार बादशाह ने शिवनारायण साहब को पकड़ लिया था। वे अपने अलौकिक प्रभाव के कारण बन्दीगृह से छूट आए थे। इस किंवदन्ती का ऐतिहासिक मूल्य भले ही न हो, इससे यह अवश्य सूचित होता है कि सम्प्रदाय वालों की मनःस्थिति में शासन के प्रति विद्वेष की भावना अवश्य कार्य करती रही है। आजकल अपने पर्वों और त्योहारों में जुलूस इत्यादि निकालते समय ये लोग सैनिक-क्रीड़ाओं का प्रदर्शन ठीक उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार सिख लोग। कहते हैं यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्प्रदाय के महन्तों का संगठन भी सैनिक-संगठन-जैसा प्रतीत होता है। 'टोली महन्त', 'समाज महन्त', 'ब्रिगेड महन्त', 'हुक्मी महन्त' और 'मुल्की महन्त' क्रमशः निम्नतम से उच्चतम श्रेणी के महन्तों की उपाधियाँ हैं।[1] महन्तों की इस प्रकार की संज्ञा का कारण यही है कि विशेषकर सैनिकों में प्रचलित होने के कारण सम्प्रदाय के लोगों ने सैनिक ढंग से ही सम्प्रदाय-संगठन भी कर लिया। यह होते हुए भी किसी समसामयिक हिन्दू या मुसलमान सामन्त से इस सम्प्रदाय के युद्ध होने का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता।

चरणदास, गरीबदास और नांगी सम्प्रदाय के प्रवर्तक डेढ़राज के भी क्रमशः नादिरशाह, अकबरशाह द्वितीय तथा नारनौल के शासक नजाबत अली खाँ द्वारा बन्दी बनाए जाने और अन्त में किसी-न-किसी अलौकिक चमत्कार के कारण मुक्त होने की चर्चा की जाती है। इससे भी यह स्पष्ट है कि इन सम्प्रदायों के अनुयायियों के हृदय में तत्कालीन शासन के प्रति धार्मिक और आर्थिक कारणों से असन्तोष रहा है। इस असन्तोष ने साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के बढ़ाने तथा उसके आधार पर जन-सम्प्रदाय को संगठित करने में बहुत-कुछ योग दिया है। इन सम्प्रदायों के अनुयायियों के सैनिक संगठन का उल्लेख नहीं मिलता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के साथ सन्त-मत के रूप में जिस सांस्कृतिक चेतना का अभ्युदय हुआ था, वह क्रमशः मुसलमान शासकों की कट्टर धर्मनीति और साम्प्रदायिक आधार पर संगठित मुस्लिम समुदाय की मनोवृत्ति के प्रभाव से संगठन की ओर अग्रसर हुई। प्रारम्भ में यह संगठन सांस्कृतिक ही रहा, पर औरंगजेब की कट्टर धर्मनीति की प्रतिक्रिया से राजनीतिक संगठन के रूप में परिणत होता गया। आगे चलकर आर्थिक आधार पर भी संगठन हुए और यह सदा आवश्यक नहीं था कि साम्प्रदायिक संगठन प्रत्यक्ष रूप से युद्धों में भाग ही लें।

---

१. देखिए—सम्प्रदाय की प्रकाशित नियमावली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

डॉक्टर जगदीश गुप्त

आधुनिक हिन्दी-काव्य का एक विशिष्ट आध्यात्मिक स्वर

इससे पहले कि 'माता', 'क्वासि' और 'सुहागिन' की काव्यगत समीक्षा प्रस्तुत की जाय उनकी भूमि-काओं में व्यक्त विचारोंकी ओर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है, क्योंकि तीनों कवियों ने जीवन तथ साहित्य के मूल्यांकन-विषयक कतिपय मौलिक प्रश्नों को उठाया है। इन प्रश्नों का सीधा सम्बन्ध कवियों की अपनी रचनाओं से ही है किन्तु प्रकारान्तर से इनकी व्याप्ति कहीं अधिक है। कुछ बँधी-बँधाई धारणाओं की लीक से हटकर नये सिरे से सोचने की अपील की गई है।

'माता' की भूमिका में माखनलाल जी ने छायावाद युग से लेकर अब तक की समस्त हिन्दी कविता के मूल्य-निर्धारण की समस्या उठाई है—और वह भी उन कविताओं की तुलना में जो संघर्षशील परिस्थितियों से जूझने वाले कवियों के द्वारा रची गई हैं। उनका कहना है :

"कभी प्रणय, कभी छायावाद, कभी प्रगति और भविष्य में कभी कुछ और कभी कुछ—इन सबके गोरखधन्धों में मन तो बहलाया जा सकता है, किन्तु क्या शाश्वत मानव कभी अपने इन धन्धों से पकड़ में आ सकता है ?"

'चौहान' और 'नवीन' का उदाहरण देते हुए वे बलपूर्वक आरोपित करते हैं कि हिन्दी साहित्य में उन लोगों को अभी तक नहीं पहचाना गया है '**जिन्होंने जीवन और गायन दोनों के खतरों-भरे पंथ का बोझ ढोया है**।' उनके कथन का निष्कर्ष है कि कला-कौशल और जीवन की सरल अनुभूतियों से प्रेरित एवं निर्मित प्रणय-गीतों से वे गीत श्रेष्ठ हैं जो कठोर परिस्थितियों में रचे गए। कठोर परिस्थितियों या 'खतरों' का स्पष्टीकरण उन्होंने स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लेने वालों की जेल यात्राओं, क्रान्तियों, राजनीतिक बन्धनों, नियन्त्रणों और अपमानों के रूप में स्व ही कर दिया है। जिस वर्ग के दो-एक कवियों का उल्लेख चतुर्वेदी जी ने किया है उसके पुरा पुरुष वे स्वयं ही हैं, अतएव उनका कथन सबसे पहले उन्हीं पर लागू होता है। हिन्दी-काव्य की राष्ट्रीय धारा के कवियों के वास्तविक मूल्यांकन के प्रश्न से कुछ देर के लिए इस प्रश्न को पृथ करके देखा जाय तो सिद्धान्त रूप में उनकी स्थापना को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथम तो यह कि अपने अनभिव्यक्त मूल रूप में साहित्य में व्यक्त अनुभूतियाँ कितनी भी गहन क्यों न रही हों, उनका जन्म कितनी भी विषम परिस्थितियों में क्यों न हुआ हो किन्तु यदि वे उसी तरह प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त न की जा सकी हों तो अभिव्यक्ति से पूर्व की उनकी सारी स्थितियों का साहित्यिक कृतित्व की दृष्टि से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। राजनीतिक इतिहास में उनका चाहे जो भी मूल्य हो। द्वितीय यह कि सामान्य-सी परिस्थिति भी समवेदनशील हृदय में असामान्य भाव-संवेग उत्पन्न कर सकती है और असामान्य-से-असामान्य स्थिति भी कभी-कभी कृतिकार के हृदय को अछूता छोड़ जाय तो आश्चर्य नहीं। इसीलिए भारतीय साहित्य शास्त्र ने मूल्यांकन का प्रश्न व्यक्त अनुभूतियों और उनके प्रभाव तक ही सीमित रखा। उसके लिए अभिव्यक्ति से पूर्व अनुभूतियों की सामान्यता-असामान्यता तथा विगत परिस्थितियों के इतिहास की साक्षी को आवश्यक नहीं माना। साहित्य-समीक्षा की आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रणाली में भी कृतित्व से पूर्व की परिस्थितियों का जो विश्लेषण किया जाता है वह साहित्यकार के व्यक्तित्व को अधिक गहनता से समझने के लिए ही किया जाता है, सापेक्षिक मूल्यांकन का उद्देश्य कदाचित् उसमें प्रधान नहीं रहता। जब काव्य की एक विशिष्ट धारा की श्रेष्ठता के लिए 'खतरों' और परिस्थितियों की दुहाई देने की आवश्यकता पड़ जाय तो सचमुच समस्या जटिल और विचारणीय हो जाती है। सम्भव है राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेने वाले सेनानियों के व्यक्तिगत प्रणय-गीतों तथा राष्ट्रीय कविताओं में अन्तर्निहित गुणों और उनके महत्त्वपूर्ण अर्थों की ओर अभी आलोचक-वर्ग का ध्यान समुचित रूप में न गया हो—उनके प्रति अन्याय हुआ हो पर हिन्दी-जगत् ने इन कवियों का कम समादर किया है यह कहना कठिन है। पर जिस व्यथा और आक्रोश-मिश्रित क्षोभ के साथ माखनलाल जी द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है उसे समझने की आवश्यकता है। अपनी कल्पना के अनुसार प्रतिदान न पाने की व्यथा और क्षोभ को तो मैं समझ सकता हूँ—क्योंकि साहित्यिकों में प्रायः इस भाव के दर्शन होते हैं, परन्तु छायावाद के अन्य कवियों के काव्य को जो महत्ता हिन्दी-साहित्य में मिली है उसके प्रति आक्रोश के भाव को—और विशेषकर उनके हृदय में—मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। '**क्वासि की यह टेर मेरी**' शीर्षक से नवीन जी ने भी साहित्य के मूल्यांकन के ही प्रश्न को उठाया है किन्तु दूसरे धरातल पर और भिन्न प्रसंग में। एक प्रगतिशील आलोचक के द्वारा लगाये गए आरोप—'**प्रगतिशील नवीन तो मर गए, अब बच रहे हैं केवल दार्शनिक नवीन**'—का उत्तर देते हुए उन्होंने दार्शनिक आधार पर साहित्य के मूल्यों की व्याख्या की। माखनलाल जी ने छायावादी, प्रगतिशील आदि सभी काव्य-धाराओं को दृष्टि में रखकर अपनी बात कही थी पर नवीन जी ने प्रगतिशील साहित्य के मूल-प्रेरक पदार्थवादी जीवन-दर्शन को ही अपना लक्ष्य बनाया। मार्क्स के पूर्ववर्ती जर्मन दार्शनिक फ्योरबाख (Feuerbach) का उल्लेख करते हुए उसके विचारों से प्रेरित होकर लिखे गए मार्क्स के ही एक सूत्र से उन्होंने दो बातों की निष्पत्ति मानी। प्रथम तो यह कि मार्क्स से पहले पदार्थवाद की धारणा जड़ थी और मार्क्स ने ही उसे 'सेन्द्रिय मानवीय सक्रियता' की ओर उन्मुख किया, दूसरे यह कि जो कुछ यथार्थ है वह केवल-मात्र वह पदार्थ, वह वस्तु है, जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। नवीनजी ने सूत्र की प्रथम निष्पत्ति पर मार्क्स की हार्दिक सराहना करते हुए दूसरी निष्पत्ति से अपनी पूर्ण असहमति प्रकट की। यही नहीं यथार्थ सत्य के ग्रहण को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने भारतीय औपनिषदिक आध्यात्मिक चिन्ता-धारा की तुलना में मार्क्स की पदार्थवादी विचार-धारा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवैज्ञानिक, निर्गतिवादी और प्रतिक्रियावादी तक कह डाला है। दार्शनिक आधार को लेकर कि गए इस विवेचन की परिसमाप्ति पर इसे साहित्य और उसके मूल्यांकन से सम्बद्ध कर दिया— वस्तुतः यही उनका उद्देश्य भी था। निष्कर्ष रूप में उनकी धारणा उल्लेखनीय है :

"इस दर्शन-सिद्धान्त पर जो भी साहित्य-कला-सौन्दर्य-शास्त्र आधारित होगा, व पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता। इस प्रकार का शास्त्र, उस अंश तक जिस तक वह अप को पदार्थवादी दर्शन का अनुगामी बना लेता है, मानव-प्रगति को रोकने वाला, अ मानवोन्नति-बाधक, गति-अवरोधक, अचल तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा। इस प्रक के साहित्य-कला-सौन्दर्य-शास्त्र में केवल उसी सीमा तक गति होगी जिस सीमा तक व जीवन के तथ्य को स्पर्श, विकसित और प्रस्फुटित करेगा। किन्तु जिस समय वह शास्त्र जीवन के तथ्य को केवल भौतिकता में बाँधने का दुराग्रह करने लगेगा, उसी समय व विचार-विकास-विरोधी के रूप में प्रकट हो जायगा।"[1]

इस प्रकार नवीन जी ने इन्द्रियातीत सत्य के प्रति अपनी गम्भीर आन्तरिक आस्थ प्रकट की और आत्मदर्शन, सत्-वरण तथा बन्धन-मोक्ष को ही इस देश की विशेषता बताते हु उसी को भारतीय वाङ्मय की मूल प्रेरणा स्वीकार किया और साथ ही अपनी 'क्वासि' इन्द्रियातीत सत्य से 'आत्मैकता प्रदान करने वाली स्फुरणोदना' तथा उसके प्रति 'शाश्वत टोहभा से अनुप्रेरित एवं विनिर्मित घोषित किया। उनका यह दावा कहाँ तक यथार्थ है इसका विश्लेष और विवेचन 'क्वासि' की कविताओं को लेकर आगे किया जायगा, यहाँ उनकी स्थापनाओं परिचय ही अभीप्सित है। भारतीय परम्परा की जिज्ञासा को नवीन जी ने वर्तमान विज्ञान-जिज्ञा से परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में भिन्न मानते हुए उनमें आन्तरिक और बाह्य भेद प्रदर्शित किया है। क्या वास्तव में ऐसा है ? यह सोचने की बात है। उनकी यह भी धारण है कि श्रेणी-हितों से सम्बद्ध 'मार्क्स-ऐंगल्स-लेनिन का पक्षावलम्बी सिद्धान्त' भारतीय साहित सम्बन्धी स्थापनाओं पर लागू नहीं होता। निष्कर्ष रूप में उनका कथन उन्हींके शब्दों में इ प्रकार है :

"मानव केवल भौतिक उफान की सनसनाहट-मात्र नहीं, वह इसके अतिरिक्त और कुछ है। हमारे साहित्य-मनीषियों और तत्त्वदर्शियों ने मानव को जो परमात्म-अंश रूप में माना है वह कोई योंही उन्माद-प्रलाप-मात्र नहीं है....... ....अपने को, स्वयं को- अपने मानव को सुसंस्कृत करने का प्रयत्न ही भारतीय साहित्य का—हिन्दी-साहित्य का- ध्येय रहा है, और है.........संस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है राग-वशीकरण, संस्कृ है भाव-उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाय, वही सत् साहित्य है।"[2]

नवीन जी के विचारों से बहुत अंशों में सहमत होते भी यह स्वीकार नहीं किया जा सक कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, विशेषकर हिन्दी-साहित्य का ध्येय प्रारम्भ से आज तक सर्वथा ए ही रहा है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि पहले साहित्य का ध्येय मनुष्य को सुसंस्कृत बना था और अब असंस्कृत बनाना हो गया है। वास्तविक सत्य यह है कि वर्तमान युग की नवी प्रगति के साथ संस्कृत होने या बनाने की धारणा में ही मौलिक परिवर्तन उपस्थित हो गया है

१. क्वासि—पृष्ठ १३, भूमिका।
२. वही—पृष्ठ २४-२५, भूमिका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञात की चिन्ता यदि ज्ञात की उपेक्षा बनकर आती है तो नवीन मानवीय चेतना से उसका मेल अब सम्भव नहीं रह गया है। इसी तरह व्यक्तिगत कल्याण-भावना सामाजिक अभ्युत्थान की कामना के समकक्ष कम प्रेरक और कम आकर्षक प्रतीत होने लगी है। प्राचीन सत्यान्वेषण-वृत्ति को नये तथ्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करके नवीन अर्थों में अपने को व्यक्त करना पड़ रहा है। जहाँ तक हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध है ध्येयगत, यह सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भारतेन्दु के पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य के मूल स्वरों की तुलना करने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है। आज 'क्वासि' की टेर लगाने वाले और 'अतीन्द्रिय' प्रिय के विरह में तड़पने वाले व्यक्ति को उसकी 'सेन्द्रियता' से पृथक् करके नहीं वरन् दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण रूप में समझना होगा और उसका मूल्यांकन भी मानवता के नये विकास की पृष्ठभूमि में ही होगा—औपनिषदिक युग के आधार पर नहीं।

सृष्टि का अन्तिम सत्य क्या है इसको पूर्णतया निश्चित समझकर आग्रहपूर्वक किसी विशिष्ट विचार-धारा के पोषक साहित्य को ही श्रेष्ठ कह देना एक प्रकार की बौद्धिक जड़ता को जन्म देता है फिर यह दृष्टिकोण इस भ्रान्ति को भी उत्पन्न करता है कि साहित्य की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता उसके वस्तुपक्ष पर ही आधारित रहती है जब कि साहित्य के मूल्यांकन में कला अथवा अभिव्यक्ति-पक्ष की किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तु, अनुभूति और अभिव्यक्ति को विवेचन की दृष्टि से भले ही हम पृथक् कर लें परन्तु अपने मूल रूप में वे साहित्य-सर्जन की एक ही प्रक्रिया के अभिन्न अंग-मात्र हैं। अतएव वस्तुपक्ष को ही निर्णायक तत्त्व नहीं माना जा सकता। 'भनित भदेस वस्तु भलि बरनी' कहने वाले को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि 'जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।'

जो मन और इन्द्रियों से परे है—इन्द्रियातीत या अव्यक्त है—वह काव्य का विषय हो भी सकता है यह संदिग्ध है, क्योंकि उसकी अनुभूति होना ही असम्भव है। सम्भव है केवल जिज्ञासा भाव, जो किसी भाव-तत्त्व से संयुक्त हुए बिना किसी प्रकार काव्य का प्रेरक नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में मुझे छायावादी कवियों के रहस्यवाद का विवेचन करते हुए जो मत शुक्लजी ने व्यक्त किया वही यथार्थ प्रतीत होता है। उनके कुछ सुनिश्चित विचार द्रष्टव्य हैं :

"व्यक्त और अव्यक्त में कोई पारमार्थिक भेद नहीं। ये दोनों सापेक्ष और व्यावहारिक शब्द हैं और केवल मनुष्य के ज्ञान की परिमिति के द्योतक हैं। अज्ञात की 'जिज्ञासा' ही का कुछ अर्थ होता है उसकी 'लालसा' या प्रेम का नहीं।[१]

"वाद या सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभाव-सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरों के हृदय में इस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, हम सच्चे कवि का काम नहीं मानते; मतवादी का काम मानते हैं।"[२]

छायावादी-युग के काव्य को दृष्टि में रखते हुए रहस्यवादी काव्य में शुक्लजी ने दो बातों को सबसे अधिक विरक्तिजनक बताया है—एक तो भावों में सचाई का अभाव, दूसरे व्यंजना की कृत्रिमता यानी insincerity और artificiality (पृष्ठ १३३)। जहाँ तक नवीन जी का

---

१. चिंतामणि—द्वितीय भाग, पृष्ठ ६२।

२. काव्य में रहस्यवाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध है उनकी ईमानदारी में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। उन्होंने जो भी विचा व्यक्त किये हैं वे अपने अन्दर निहित सचाई को पूरी तरह ध्वनित करते हैं। साहित्यकार स्वाध्याय, कल्पना-शक्ति आदि, जो दस गुण अपनी भूमिका में उन्होंने बताये हैं उनमें अन्ति गुण 'आर्जव—ईमानदारी' भी है, परन्तु ईमानदारी को स्वीकार करने के बाद भी समस्या ज्यों-की त्यों शेष रह जाती है, क्योंकि रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति की चिन्तन-पद्धति एक विशेष प्रका की होती है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपने Mysticism and Logic नामक निबन्ध में रहस्यवादि की चिन्तन एवं विचार-पद्धति की मार्मिक विवेचना की है। उसका कथन है कि भावावेगज प्रतीति की तीव्रता समाप्त हो जाने पर तर्कशील रहस्यवादी उन विश्वासों की पोषक बुद्धि संग भूमिका खोजने लगता है, जो अपने अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं। लेकिन क्योंकि वे विश्वास पहले से ही प्रस्तुत रहते हैं इसलिए वह वैसी किसी भी बौद्धिक व्याख्या को सहज ही स्वीकार कर लेत है जो उनके द्वारा स्वतः उत्पन्न हो जाती है। जिन अन्तर्विरोधों को ऊपरी तौर पर वह बौद्धि व्याख्या द्वारा सिद्ध समझ लेता है वे वस्तुतः उसकी रहस्यानुभूति के अन्तविरोध होते हैं औ यदि उसकी तर्क-बुद्धि को उसकी आत्म-प्रत्यक्ष अनुभूति का साथ देना है तो उन अन्तर्विरोधों बीच की खाई को पाटना ही उसके चिन्तन का चरम लक्ष्य बन जाता है। परिणामस्वरूप तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किये जाते हैं वे अधिकांश दार्शनिकों को विज्ञान द्वारा ज्ञात जगत् औ प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन को समझने में अशक्त बना देते हैं।[1]

निस्सन्देह नवीन जी की कविता में ऐसे अन्तर्विरोध मिलते हैं जिनका निर्देश 'क्वासि' कविताओं पर विचार करते समय आगे किया जायगा।

आध्यात्मिकता का समर्थन तथा वर्तमान जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों के पुनर्संस्थाप का आग्रह कोकिल जी ने भी व्यक्त किया है, किन्तु उनका दृष्टिकोण नवीन जी के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है और यह भिन्नता काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। जहाँ नवीन जी ने आधुनिक पदार्थवा वैज्ञानिक सम्पन्नता और भौतिक प्रगति के विरोध में प्राचीन अध्यात्मवाद का स्वर उठाया वहाँ कोकिल जी ने उस सम्पन्नता और प्रगति को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके नवीन आध्यात्मि चेतना पर बल दिया है। मानव-संस्कृति के क्षेत्र में होने वाले जिस मूलभूत परिवर्तन को नवी जी कदाचित् लक्षित नहीं कर सके उसे कोकिल जी ने स्पष्ट रूप से परिलक्षित कर लिया है औ उसे मानव-विकास के इतिहास में एक नई घटना माना है। उनका कहना है कि—"विज्ञा **काल और दिशा का मापक ही नहीं एक नव्य भव्य रागात्मकता का जनक भी है। इतिहा में यह एक नई घटना है। प्रथम बार समाज में इतने बड़े पैमाने पर मानसिक औ सांस्कृतिक परिवर्तन बिना किसी धार्मिक आन्दोलन के हुआ।"** रागवशीकरण को ही संस्कृ का स्वरूप मानने वाली विचार-पद्धति से भिन्न उन्होंने सांसारिक मनोरागों के बीच ही आध्या त्मिक अर्थों और स्थितियों की उपलब्धि के मार्ग की ओर संकेत किया तथा रागात्मकता के प्र अपनी आस्था व्यक्त की। वे लिखती हैं।

"आज की अभिनव रागात्मकता और नव-प्रसूत श्रद्धा में मेरा पूर्ण विश्वास है बौद्धिकता के साथ रागात्मकता भी समान रूप से विकसित होती है.......विज्ञान के द्वा एक सबसे बड़ा काम इस युग में जो हुआ है वह है सांसारिकता के साथ आध्यात्मिक

१. Mysticism and Logic—Page 25.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का गठबन्धन। आध्यात्मिकता या तो इतनी ऊँची वस्तु थी जो सर्वसाधारण के परे थी, या वह कोरा कर्मकाण्ड मात्र रह गई थी। पर इस नये सम्मिलन से दोनों का स्तर बहुत ऊँचा उठा है। सांसारिकता आध्यात्मिकता के संसर्ग से ऊँची उठी और आध्यात्मिकता सांसारिकता के संसर्ग से व्यापक बनी।"[1]

नवीन जी ही क्या सत्य का यह रूप आध्यात्मिक साधना को प्राचीन अर्थ में ग्रहण करने वाले लोगों में से बहुत कम लोग परख पाए हैं। इसीलिए शायद हजारीप्रसाद जी को 'सुहागिन' के गीत पढ़कर ऐसा लगा जैसे वे कुछ नया सुन रहे हों। कोकिल जी की आध्यात्मिक वृत्ति प्राचीन ऋषियों द्वारा खोजे गए औपनिषदिक सत्यों से उतनी प्रेरणा नहीं पाती जितनी कि आस-पास के साधारण किन्तु चिरन्तन रूप में प्रवाहित जीवन से। साधारण जीवन और असाधारण आध्यात्मिक अनुभूतियों के बीच के सामंजस्य को उन्होंने पा लिया है, ऐसा कहना अनुचित होगा। उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है कि **"इस सामंजस्य का पूर्ण परिपाक अभी हमारी दृष्टि से ओझल है।"** उनकी 'सुहागिन' **'पंक-भरे जीवन पर तैरती हुई दिव्यता'** के दर्शन से सहज रूप में उत्पन्न होने वाला 'आश्चर्यवाक्'-मात्र है। उसको इच्छा-आकांक्षाओं से भरे लोक-जीवन और लौकिक भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति करने वाले लोकगीतों से पोषण मिलता रहा है। तर्क द्वारा उन्होंने अपनी अनुभूतियों के बीच के व्यवधान को भरने का प्रयास नहीं किया है वरन् उनकी सहज अनुभूति की पकड़ में सत्य का जितना अंश आ सका है उसको उन्होंने वैसे ही व्यक्त कर दिया है। कृत्रिमता की छाया उसमें प्रतीत नहीं होती।

'माता', 'क्वासि' और 'सुहागिन' में संग्रहीत कविताएँ समग्र रूप से सन् १९०४ से लेकर १९५२ तक के लम्बे समय के भावात्मक-विकास को व्यक्त करती हैं। लगभग आधी शताब्दी का इतिहास इनमें प्रतिबिम्बित है। 'माता' में १९०४ से '४६ तक की, 'क्वासि' में '३० से '५० तक की और 'सुहागिन' में '४० से '५२ तक की रचनाएँ मिलती हैं जिससे इन कवियों के कृतित्व का पूर्वापर क्रम स्वतः निर्धारित हो जाता है।

परिस्थितिवश संग्रह रूप में माखनलाल जी की रचनाएँ देर से प्रकाश में आईं। 'हिम-किरीटिनी' (१९४२) और 'हिमतरंगिनी' (१९४९) के बाद 'माता' (१९५१) उनका तीसरा काव्य-संग्रह है। इसकी अधिकांश कविताएँ '२० से '४० के बीच की हैं और यही छाया-वाद के आविर्भाव और अभ्युत्थान का समय है। राष्ट्रीय भाव-धारा और छायावादी भावना का विकास लगभग समान सामाजिक पृष्ठभूमि में विभिन्न दिशाओं में एक साथ ही हुआ। स्वदेश में देवत्व की भावना करके तथा उसके चरणों पर अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का उत्सर्ग करके तिलक और माधवराव सप्रे की क्रान्तिकारी देशभक्ति के आवेग में 'एक भारतीय आत्मा' ने बलि-पन्थ स्वीकार किया और वे निसर्गप्रिय आत्मनिष्ठ छायावादी कवियों से पृथक् हो गए। नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान को राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेते हुए काव्य रचने की प्रेरणा बहुत-कुछ माखनलाल जी से ही मिली। राष्ट्रीय जागरण के साथ प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन को नये रूप में ग्रहण करने की भावना उत्पन्न हुई और गांधी-रवीन्द्र के विचारों से प्रभावित होकर युग-चेतना ने आध्यात्मिकता को नये आग्रह से स्वीकार किया। आत्म-समर्पण की वृत्ति वैष्णव परि-वारों में संस्कार रूप में सुरक्षित थी और अब भी है। माखनलाल जी के काव्य में उक्त सभी तत्त्व

१. सुहागिन—आमुख, पृष्ठ २-३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विशिष्ट सामंजस्य के साथ उपलब्ध होते हैं। उनकी आस्तिक वैष्णवता की परिणति भारत-माता की 'हिमकिरीटनी' प्रतिमा के निर्माण में हुई, जिसे वे कभी कौशल्या कभी यशोदा कहते हैं। 'माता' नाम देकर सम्भवतः इसी भाव को व्यक्त किया गया है और राष्ट्र-पूजा का यह प्रतीक उनके सम्पूर्ण साहित्य में सर्वप्रमुख स्थान रखता है। यों 'मुझको कहते हैं माता' शीर्षक एक कविता भी इसमें संग्रहीत है जो न केवल इस संग्रह की वरन् माखनलाल जी की सभी रचनाओं में से चुनी हुई श्रेष्ठतम कृतियों में से एक कही जा सकती है। उनकी अधिकांश कविताएँ जेल जाने की तैयारी में या जेल में लिखी गईं। केवल निम्न लिखित एक पंक्ति उनके संघर्षशील जीवन में पलने वाली आस्तिक राष्ट्रीय भावना का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

'चरण समझते हुए सींखचों पर मैं शीश झुकाता हूँ।'

देश-प्रेम का अर्थ उन दिनों आत्म-बलिदान था, इसीलिए माखनलाल जी की कविताओं में 'बलि' और 'सूली' के प्रतीक स्नेह और पूजा-भावना के साथ संगुफित मिलते हैं। स्थान-स्थान पर वे 'प्रणय' और 'प्रलय' का साथ-साथ प्रयोग करते हैं। राष्ट्रीय संग्राम में उन्हें अपने स्नेह का ही नहीं अपने स्नेहपात्रों का भी बलिदान करना पड़ा। कदाचित् इसीलिए वे अन्य प्रणय-गीतों से अपने और अपने वर्ग के कवियों के प्रणय-गीतों की भिन्नता को परखने का प्रस्ताव करते हैं। उनका यह प्रस्ताव साहित्यिक मूल्यांकन के प्रश्न को उठाने का प्रस्ताव न होकर उस दर्द, उस व्यथा की अभिव्यक्ति-मात्र है जो राजनीतिक संघर्ष में उन्हें आजीवन झेलनी पड़ी और जिसने उन्हें अन्तर-बाह्य सभी रूपों में जर्जर कर दिया। उनकी आस्तिकतापूर्ण आध्यात्मिकता ने ही उनके भावगत और चिन्तनगत ओज को अब तक सुरक्षित रखा है। मूलतः जिस पथ पर उनकी कविता चली है वह सन्तों और भक्तों का उदारता और समर्पण से पूर्ण पथ है—देश-प्रेम-जन्य क्रान्तिमय प्रयत्नों ने उसे 'बलि पन्थ' बना दिया। 'माता' में संग्रहीत 'कविता कल्याणी' नामक रचना की कुछ पंक्तियाँ उनके काव्य-पथ के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होंगी :

कविते ! क्या जाना अपना पथ शत-शत खो-खोकर पाना है।
सम्मानों से बच जाना है, अपमानों को अपनाना है।
उन प्रणय-प्रलय के डोरों का ताना-बाना बुन लेना है।
प्राणों की रेखा, विधि-रेखा को अमर चुनौती देना है।
यह पथ कबीर के साहब का, इस पर मीरा थी दीवानी।
आओ, सूझों के रथ बैठीं मानव की कविता कल्याणी।[1]

'कुंकुम', 'रश्मिरेखा' तथा 'क्वासि' आदि के रचयिता नवीन जी भी माखनलाल जी की परम्परा का संवहन करने वाले राष्ट्रीय-धारा के कवि हैं किन्तु 'एक भारतीय आत्मा'-जैसी अन्तरस्पर्शिनी पूजामिश्रित गहन राष्ट्रीय प्रेम-भावना के स्थान पर उनमें व्यक्तिगत प्रेमोन्माद की मात्रा कहीं अधिक है। प्रारम्भ में जो विद्रोहात्मक स्वर था वह क्रमशः इसी प्रेमोन्माद में पर्यवसित होता गया। 'कुंकुम' में रहस्यवादी शब्दावली में जो कला की परिभाषा उन्होंने प्रस्तुत की है वह इसका प्रमाण है। परिभाषा यों है : **'कला तो एक प्रकार के व्यक्तिगत उन्माद की भावनामूलक कल्पना सहगामिनी सत् चित् आनन्दमयी अभिव्यक्ति है।'** उनकी यह परिभाषा अन्यत्र चाहे चरितार्थ न होती हो पर 'क्वासि' की कविताओं पर तो पूर्णतया घटित होती है।

---

१. माता—पृष्ठ ११८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ REFRENCE BOOK

इससे उनकी काव्य-कला का स्वरूप भी व्यक्त होता है।

नवीन जी की यह 'व्यक्तिगत उन्माद की भावनामूलक कल्पना' कभी उन्हें सूफियों की तरह, 'कूजे' और शराब की ओर खींच ले जाती रही है, और कभी कबीर के 'गगनमंडल' की ओर। प्रिय के औरों की ओर उन्मुख हो उठने की सम्भावना समझकर कभी उपालम्भ देते हुए वे लिखते हैं :

मुसकाकर छोड़ चले मेरी मधु-शाला तुम ?
प्रिय ! अब क्या चक्खोगे औरों की हाला तुम ?[1]

और कभी सान्ध्य नभ में उनका 'मन-विहग' 'अनहद नाद' से स्वनित हो उठता है :

स्वनित उड्डीयन-ध्वनित गति जनित अनहद नाद से यह।
दिग्दिगन्ताकाश वक्षस्थल रहा है गूँज अहरह।
ऊर्ध्व गति ने ध्यानमग्ना गीत-यति को आन घेरा।
उड़ चला इस सान्ध्य नभ में मन-विहग तज निज बसेरा।[2]

'क्वासि' में सन्तों की प्राचीन रहस्यवादी शब्दावली का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है, जैसे स्वर-शर, निरंजन, सुरति-आह्वान, सुरति-क्षेत्र आदि। अव्यक्त सत्ता को 'सजन' या 'साजन' मानकर शृंङ्गारिक रूपकों के आश्रय से भावाभिव्यक्ति भी उसी परम्परा की द्योतक है। जिसका अपने साजन से क्रय-विक्रय पूर्ण हो चुका है ऐसी अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए वे उससे 'हृदय की नीवी' खोलने और आत्म-रमण की तन्मयता में 'सचैल परिरम्भण-परिणय छोड़ने का अनुरोध करने लगते हैं।'[3] कवि का आग्रह है कि यह सब काल्पनिक राग-रंग उसकी उस 'क्वासि' से व्यक्त होने वाली जिज्ञासा के रूप में ही ग्रहण किया जाय—जिसके उत्तर में उसे 'नास्मि की अनुगूँज' सुनाई देती है। कवि 'स्नेह दीक्षा' ले चुका है, वह अब 'कच्चा खिलाड़ी' नहीं रहा। उसे विश्वास है कि उसका प्रिय 'नास्मि' कहकर उसके 'आस्तिक भाव की परीक्षा' लेना चाहता है, इसलिए वह प्रतीक्षा में तत्पर रहने का संकल्प करता है—रात्रि में प्रिय को अंकशायी बनाने की आशा से।[4] कवि के तर्क से इस सबकी व्याख्या भी आध्यात्मिक अर्थ में की जा सकती है, किन्तु निम्नलिखित पंक्तियों से कौनसा आध्यात्मिक अर्थ व्यक्त होता है—यह प्रश्न कवि से किया जा सकता है :

(१) एक चुम्बन ही हुआ यह शाप जीवन का भयंकर।
अधर सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयंकर।
(२) कब तक पहनूँ प्रिय तव कल्पित भुज-माल गले।
(३) नयनों के, अधरों के चुम्बन की चाह लिये।
(४) तुम्हें अग्नि-अर्पण करके भी फटी नहीं यह निष्ठुर छाती।
(५) क्यों न अव्यभिचार की चिर-रीति जीवन में निबाही।

क्या इनसे उष्णतापूर्ण लौकिक वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती ? इसी अन्तर्विरोध

१. क्वासि—पृष्ठ ३१।
२. वही—पृष्ठ १०१।
३. वही—'विदेह' शीर्षक कविता, पृष्ठ ८।
४. वही—पृष्ठ ११८।

यह पुस्तक वितरित न की जाय NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर पूर्व विवेचना के अन्त में संकेत किया गया है। एक ओर तो वे 'अव्यभिचार की चिर रीति' के न निबाहने पर खेद प्रकट करते हैं अर्थात् राग-वशीकरण में असफल होकर दुःख का अनुभव करते हैं और दूसरी ओर वे उसी चिर-प्रतिष्ठित आदर्श के विरुद्ध अपने प्रिय से सविकार एवं साकार बनने की प्रार्थना भी करते हैं :

आओ साकार बनो।
ओ मेरे निर्विकार अब तो सविकार बनो।

निर्विकार को सविकारत्व के साथ देखने की भावना कोकिल जी की कविताओं में मूल-स्वर की तरह मिलती है, पर प्राचीन आदर्शवादी दृष्टिकोण की पुनर्संस्थापना में प्रयत्नशील नवीन जी की कविताओं में यह ऐसा अपवाद लगता है जो गहरे अन्तर्विरोध को व्यक्त करता है। जब वे लिखते हैं कि '**अन्तहीन इस पथ में सान्त ने किया कमाल**' तो भावना के उदात्तीकरण होने के स्थान पर सौन्दर्य-बोध पर आघात लगता है। भाषा में ग्रामीणतायुक्त प्रयोग उनके गीतों की एक विशेषता कही जा सकती है। '**हमरे सजन सुजाना**' '**हमरे ये मेहमाना**' अथवा '**निरखो मम कठिनाई निरखो मम व्यथा नैंक, चले गये पल में तुम बिना दिये पता नैंक**'-जैसी शब्दावली उनकी कविताओं में स्वाभाविक क्रम से गुँथी मिलती है। '**तुम सतचित अवतार रे**' से प्रारम्भ होने वाली तो समूची कविता ग्रामीण बोली में लिखी गई है।

भाषा के प्रयोगों में ग्रामीणता कोकिल जी की कविताओं में भी उपलब्ध होती है परन्तु लोकगीतों-जैसी तरलता, जो उनके गीतों में विशेष रूप से पाई जाती है, के साथ वे प्रयोग इतने पृथक् प्रतीत नहीं होते कि सौन्दर्य-बोध को झकझोरकर रख दें। उदाहरणार्थ **बिसरानी, दुआर, लोटि परी, काची, निहुरते, पियाराई, गझिनझाल** आदि शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कोकिल जी तत्समता के प्रति जरा भी उन्मुख नहीं हैं जब कि नवीन जी में तत्समता की ओर भी काफ़ी झुकाव मिलता है। **निर्विण्ण, स्वनिसृत, उड्डीयन आनद्ध, अकृषचिह्न और वीणा-क्वाण**-जैसे परुष शब्दों का प्रयोग वे सहज ही पाठक को आश्चर्य-चकित करते हुए कर ले जाते हैं। यह प्रवृत्ति माखनलाल जी के काव्य में भी नहीं मिलती। यहाँ सवाल शब्दों के प्रयोग का नहीं, वरन् उनके सहज निर्वाह का है। इस दृष्टि से कोकिल जी हमारी बधाई की पात्री हैं।

भावना के क्षेत्र में 'सुहागिन' के गीत हिन्दी-कविता के विकास में एक निश्चित सीमाचिह्न के रूप में सामने आते हैं। मध्यकालीन वैष्णव-काव्य की तन्मयतापूर्ण आत्मसमर्पण की वृत्ति जितनी गहराई और द्रवणशीलता के साथ उनके गीतों में पुनः दिखाई देती है वह अनुपेक्षणीय एवं महत्त्वपूर्ण है। 'सुहागिन' से पूर्व उनकी दो काव्य-रचनाएँ 'अंकुरिता' (१९४१) और 'माँ' (१९४२) ही प्रकाश में आईं, जिनका काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। उनके 'सुहागिन' से पूर्व के मानसिक विकास को वे अवश्य कुछ दूर तक व्यक्त करती हैं। 'माता' का प्रतीक माखनलाल जी के काव्य के सर्वोत्तम भाव को व्यक्त करता है, किन्तु कोकिल जी के काव्य में वह प्रारम्भिक एवं विचारगत रूप में ही मिलता है। 'माँ' की भूमिका में उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को '**महा प्रजनन की एक प्रक्रिया**' माना है। उनकी सुहाग की भावना का विकास वस्तुतः उसी से होता है। ऐसा उन्होंने स्वीकार भी किया है :

माँ मैं अचल सुहाग भरी
माँ तुमने अपने सपनों को मुझमें सत्य किया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी सत्य से मैंने फिर सपनों को जन्म दिया था।
मेरे सपने महारात्रि से आज जग उठे मानो।
यह सपनों का ज्योति जागरण इसे ताप मत मानो।
वही छटा है जो सुहाग बनकर निखरी-निखरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।[1]

सुहाग की अचलता या अमरता की कल्पना कोकिल जी की सुहाग-भावना की एक विशेषता है। इसका आभास 'अंकुरिता' की 'पुलक' शीर्षक कविता की अन्तिम पंक्ति '**हो जाय अमर मेरा सुहाग**' में ही मिल जाता है, किन्तु 'सुहागिन' में यह परिपक्वावस्था में उपलब्ध होती है। पूर्वोद्धृत कविता की अवशिष्ट अन्तिम पंक्तियों में उसे सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त ज्योति का रूप दिया गया है। यथा :

सूर्य चाँद में अँट न सकी वह ज्योति कहाँ छिटकाऊँ।
सागर में न समा पाई वह धार कहाँ फैलाऊँ।
बिक न सकी जो निधि सम्पति पर कैसे सम्मुख लाऊँ।
वह विभूति माँ हृदय चीरकर कैसे तुझे दिखाऊँ।
आँखों से ओझल होकर बाहर-बाहर बिखरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।

'**एक ही आधार मेरे एक ही आधार है**' पंक्ति से प्रारम्भ होने वाली कविता में भी सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त एक ही ज्योति की बात दोहराई गई है। जीवन की विविध वेदनाओं की परिणति भी इसी सुहाग-भावना के साथ हो गई है, जैसा कि '**पुलक वेदनाओं ने ही अब मेरी माँग भरी**' से प्रकट होता है। खड़ी बोली हिन्दी-काव्य में वेदनाओं से अभिषिक्त अमर सुहाग की परिकल्पना कोई नई वस्तु नहीं है। महादेवी जी के काव्य में कोकिल जी से पूर्व ही इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। कोकिल जी के इस भावना से सम्बद्ध गीतों को पढ़कर 'सान्ध्य-गीत' की सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ '**मैं अखंड सुहागिनी री**' अथवा '**सखि ! मैं हूं अमर सुहाग भरी, प्रिय के अनन्त अनुराग भरी**' स्मृति में सहसा झनकार जाती हैं। अतएव इस भावना की मौलिक उद्भावना का श्रेय कोकिल जी को नहीं दिया जा सकता किन्तु यह सत्य है कि इस सम्बन्ध में उनकी अनुभूति महादेवी जी की अपेक्षा कहीं अधिक तरल और व्यापक है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने रहस्यानुभूति की विवेचना करते हुए उसकी चार विशेषताएँ बताई हैं[2] जिनमें अमरता अथवा काल के नियमों के अतिक्रमण की भावना भी एक है। सुहाग के साथ अखण्डता या अचलता की कल्पना को इस तरह एक प्रकार की रहस्यानुभूति के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

'सुहागिन' के गीतों की निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी उस विचारधारा की परिपोषक हैं जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है !

१. '**सुहागिन', पृष्ठ ४७**
२. (i) Revelation or insight or intuition.
(ii) Belief in unity, refusal to admit opposition.
(iii) Denial of the reality of time.
(iv) All evil is mere appearance, no indignation, no protest.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) ये मेरी पूजा के क्षण हैं।
तर्क विगत मेरे अर्पण हैं।
नास्तिकता भी भक्ति हो गई,
बेबस मेरे आकर्षण हैं।

(२) आज वासना भक्ति हो गई।
क्या बतलाऊँ नश्वरता में अब मेरी आसक्ति हो गई!

(३) वह गंध मेरे मन बस गई रे।
नभ पर जिसकी डालें अटकीं,
थल पर जिसकी कलियाँ चटकीं,
मेरे जीवन के कर्दम में,
वह अनजाने फँस गई रे।

'सखि अब रस बरसे मैं भीजूँ' से प्रारम्भ होने वाली उनकी कविता उनके अन्तर्तम में निहित उस द्रवणशीलता तथा उस भावात्मक तारल्य को व्यक्त करती है जिसका निर्देश मैं कई बार कर चुका हूँ। उसमें प्रयुक्त 'नटवर' और 'वैरागी'-जैसे शब्द यह बताते हैं कि उन्होंने भी माखनलाल जी और नवीन जी की तरह मध्यकालीन प्रेम-भक्ति काव्य और उसके आदर्श से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है और इस क्षेत्र में उनसे विशेष भिन्न नहीं हैं, किन्तु उनकी 'जग लगता है बढ़ी-घटी-सी बस अपनी ही छाया' में व्यक्त अनुभूति उनकी स्वयं की उपलब्धि जान पड़ती है और इससे इनमें तथा अन्य पिछले रहस्यवादियों में कुछ अन्तर लगता है।[१]

डॉक्टर भगवतशरण उपाध्याय

माता भूमि

'माता भूमि' डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के निबन्धों का संग्रह है। निबन्धों की संख्या बड़ी है, ४२; वस्तुतः असाधारण बड़ी। इतने निबन्धों में, जाहिर है, सारा जग-जहान समेटा जा सकता है। इन निबन्धों में कितनी भाव-सम्पदा विद्वान लेखक ने पाठक को दी है यह इन पृष्ठों का आलोच्य विषय है। पर उस ओर बढ़ने के पहले पुस्तक के रूप पर दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। पुस्तक का आवरण अत्यन्त बदसूरत है। आज के पुस्तक-प्रकाशन-क्षेत्र में बढ़ती हुई सुरुचि को देखते हुए लगता है कि इतनी असुन्दर छपाई और कुरुचि-प्रदर्शन के लिए प्रकाशकों को विशेष व्यवस्था करनी पड़ी होगी। वैसे 'चेतना प्रकाशन, लिमिटेड' द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में सुरुचि की कमी नहीं।

---

१. माता : लेखक—माखनलाल चतुर्वेदी; प्रकाशक—पंकज प्रकाशन, खण्डवा।
क्वासि : लेखक—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
सुहागिन : लेखिका—विद्यावती 'कोकिल'; प्रकाशक—ज्योति प्रकाशन, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध-सूची इस प्रकार है—माता-भूमि, मन्त्रों की मधुमती भूमिका में पृथिवी, भारतीय वनश्री का पुष्पहास, क्षीर गंगा, हिमालय और गंगा, हिन्दी की उदार वाणी, शब्दों का देश, तुलसीदास, सूरदास, भारतीय विचारों के मेघजल, ललित कला की परम्पराएँ, भारतीय कला का स्वर्ण-युग, जहाँ नाचते-गाते लोग, राष्ट्रीय उपवन कृष्णगिरी, मुगल चित्रकला, राजस्थानी चित्रशैली, हिमाचल चित्रकला, युगारम्भ, महते जानराज्याय, संविधान की परम्परा, राष्ट्रीय उन्नति का छैरियाचक्र, जन-जीवन के दो सूत्र, उपदेशेन वर्तामि, पाणिवाद, व्यास का मानवीय दृष्टिकोण, चरित्र का मानदण्ड, भारत का विश्व-मानस, प्रियदर्शी अशोक, अशोक का नया उत्थान धर्म, समवाय एव साधु, एशिया की आँख, एशिया और भारत, प्रज्ञावृक्ष, राष्ट्र का धर्म-शरीर, चमकीला सत्य, मैं स्वयं हवि हूँ, दावानल-आचमन, कर्तव्य कर्म की हुण्डी, गांधी पुण्य स्तम्भ, गांधी बुद्धि समवाय, चक्रध्वज, राष्ट्रीय महामुद्रा।

सूची की असाधारणता इस तालिका से सिद्ध है। इतनी भारी-भरकम नाम-शब्दरूप निबन्ध-काया कम-से-कम मेरे देखने में नहीं आई। कहना न होगा कि इस विशद ग्रन्थ-चक्र की परिधि में, इन लाखों शब्दों के परिमाण में कुछ भी ऐसा नहीं जो कहा नहीं जा सकता। इस अनन्त शब्द-सागर (लेखक की बार-बार दुहराई जाने वाली प्रिय शब्दावलि में ही—) के देवासुर मंथन से कितना अमृत, कितना विष, कितने रत्न निकलते हैं यह देखना यहाँ अपेक्षित है। पर उसकी बात फिर। अभी ग्रन्थ की भाषा।

आरम्भ में ही बिना किसी आडम्बर के साफ़-साफ़ कह देना उचित होगा कि भाषा अत्यन्त बर्बर है। यह न तो माँ भारती का मण्डन करती है, न विद्वान् के संचित यश का विस्तार। भाषा सार्थक वाक्यावलि है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भाव, विचार, आवश्यकताएँ प्रकट करता है। भाषा की सार्थकता उसके बोध में है—जिस मात्रा और अर्थ में वक्ता उसे बोले उसी मात्रा और अर्थ में उसका समझा जाना ही उसका लाभ है। दुरूहता और पेंच उसका गला घोंटने का प्रयास है। भाषा का सौन्दर्य, उसकी सफलता उसकी आशुग्राह्यता में है, उसके सहज प्रसाद में है। यों तो पुस्तक भाव को छिपा देने वाले वाक्यों—पैरों—पृष्ठों से भरी है, पर स्थानाभाव से कुछ उदाहरण बोझिल, अप्रयोग्य, असुन्दर भाषा के यहाँ दिये जा रहे हैं :

"लोक-समुद्र के मन्थन से मातृ-भूमि रूपी नये देवता का जन्म हो रहा है।"[1] (मन्थन, अमृत मथकर मक्खन निकालना आदि अनन्त-अनन्त प्रयोग इस ग्रन्थ में अद्भुत रूप से हुए हैं)

"जिस समय युग के देवता का जन्म होता है, राष्ट्रीय किलकारी हर्षित स्वरों से उसकागुण-गान करती है।"[2] ('किलकारी' 'हर्षित स्वरों' से भिन्न नहीं, वाक्य में 'टाटालोजी दोष' है। युग का देवता माताभूमि है!)

"मन के चारों ओर भरा हुआ जो अमृत समुद्र है उसी में सत्य, यज्ञ, त्याग, तप, अहिंसा, सर्वभूतहित, न्याय, धर्म, ज्ञान आदि सुन्दर दिव्य भावों के कमल तैर रहे हैं।"[3] ('मिक्स्ड मेटाफ़र' है जो हिन्दी में भी दोष है—'मन के चारों ओर भरा हुआ जो अमृत

१. पृष्ठ १।
२. पृष्ठ १।
३. पृष्ठ ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुद्र है', भाव-समुद्र कहने से कुछ अभिव्यक्ति हो सकती थी, अमृत समुद्र स्वयं एक अलंकार हो गया और उसका मन से सम्बन्ध किस साधन से होता है, पता नहीं। फिर समुद्र में कमलों का तैरना कैसा ? समुद्र में कमल होते हैं क्या ? हो सकते हैं ?)

"भारत राष्ट्र का लोक-संवादन-चक्र शताब्दियों के बिछे हुए पथ पर चलता ही रहा है। इसमें सन्देह नहीं।"[1]

"नारी, कृषक, अस्पृश्य, शोषित, इनकी प्रतिष्ठा का आश्चर्यजनक मंगल एक शताब्दी के चौथाई चरण में ही कैसे हो गया, इसका उत्तर मातृभूमि के हृदय में लगे हुए पूर्व-नूतन के गठबन्धन से मिलता है"[2] (इसका भाव-तथ्य जाने दीजिए और पच्चीस वर्षों के लिए 'एक शताब्दी के चौथाई चरण' का प्रयोग अर्थ को चाहे जितना अस्पष्ट कर देता हो, उसे भी छोड़िए, और सोचिए 'हृदय में लगे हुए···गठबन्धन' की बात। हृदय में गठबन्धन शायद हो सके पर यह 'लगा हुआ' क्या बला है ?)

निबन्ध विश्लेषण-चिन्तन-सोद्देश्य सुझाव की भूमि है, पर उस विचार से तो सस्ते भावोन्माद, सामान्य को मन्त्र—उधार लिये शब्द-जाल—के बल से असामान्य प्रदर्शित करना, फ़िलिस्टिनिज़्म के अनुपम उदाहरण इस ग्रन्थ के सर्वस्व हैं। लैम्ब, स्टिवेन्सन, अल्फ़ा आफ़ दि प्लाउ, (गार्डनर) आदि की पंक्ति में बैठने का प्रयत्न करने वाले इस प्रशस्तिमना लेखक के पास अपने विचारों की पूँजी विशेष नहीं है। इसीसे माता भूमि, पृथ्वी-पुत्र, अमृत-घट, समुद्र-मन्थन पृष्ठ-पृष्ठ पर लौट पड़ते हैं। वही-वही मन्त्र उन्हीं-उन्हीं प्रतीकों को सभी प्रसंगों में ला उतारते हैं। कई बार तो विचारों की इस दरिद्रता पर बड़ा क्रोध आ जाता है। दुहराना ग्रन्थ की प्रधान निष्ठा है, शब्द शब्द, वाक्य-वाक्य, पृष्ठ-पृष्ठ, अध्याय-अध्याय, भाव-भाव दर्जनों बार दुहराये गए हैं। तीन-तीन, चार-चार लेख समान सामग्री के साथ पुस्तक के पृष्ठों में उतर पड़े हैं। कारण कि एक ही लेख अनेक बार अनेक पत्र-पत्रिकाओं में कुछ हेर-फेर के साथ छप चुका है। पैरे-के-पैरे, पेज-के-पेज बगैर बताये पृथिवी सूक्तादि के अध्यायों में—पहले एक में, फिर दूसरों में—समाहित कर दिये गए हैं। प्राचीन की पूजा इस प्रकार कोई नहीं करता। प्राचीन सभी को प्रिय है, संस्कृति के प्रसार-विकास की वह रीढ़ है, आधार-शिला, उसके प्रति कृतज्ञ ही नहीं जागरूक भी होना है पर आँख खोलकर, बुद्धि-भेद से।

कला-सम्बन्धी पाँच-छः लेखों की भाषा शब्द-जाल वाले दूसरे निबन्धों से सर्वथा भिन्न है। वह इस कारण कि उसमें सामग्री है, सार्थक सामग्री। और उनमें जो वैयक्तिक शैली का अभाव है उसका कारण यह है कि उनकी वह सामग्री अधिकतर दूसरों की प्रकाशित सामग्री है। बताना नहीं होगा कि 'शबीह एकचश्मी,' 'शबीह डेढ़चश्मी' आदि किसके पारिभाषिक शब्द हैं। ऐसे ही 'अपभ्रंश-चित्र' का नामकरण भी।

'भूमिका' ही में लेखक कहता है कि "जिस व्यक्ति में नया कर्म नहीं, नया विचार नहीं, वह इस युग के लिए व्यर्थ है और युग उसके लिए व्यर्थ है।"[3] इस तर्क पर इस पुस्तक की सार्थकता किसी मात्रा में नहीं; यह इसे क्षणमात्र कहीं खोलकर कहा जा सकता है।

१. पृष्ठ ७।
२. पृष्ठ ८।
३. पृष्ठ ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखते हैं : "लोभ-विजय की प्रेरणा से भारत के वणिक्पोत समुद्र पार नहीं गये और न असुर-विजय के लिए यहाँ के सैनिकों ने दूसरों की भूमि को पैरों तले रौंदा।" कितना असत्य है यह, विशेषतः जब कि वक्तव्य इतिहास के जानकार का है! विजय भौगोलिक प्रक्रिया है या राजनीतिक ? यदि भारत की भौगोलिक चौहद्दी से लोग बाहर नहीं गये तो अनेक यूरोपीय विजेता भी तो यूरोप के भीतर के राज्यों को ही लूट-खसोटकर उस तिरस्कार के भागी बने जिसके विपरीत लेखक अपने देश के विजेताओं को सराहता है ? पर प्रश्न तो यह है कि 'समरशतविततविजयी' कहलाने वाले राजाओं ने जब अपने अर्थ-शास्त्रीय 'मण्डलनाभि' वाले पड़ोसी 'प्रकृत्यमित्रों' को उखाड़ 'उत्खाय तरसा' की प्रशस्ति गवाई तब उनमें और असुरविजयी राजाओं में भेद क्या रहा ? जहाँ 'श्रियं जहार' है, सावरेण्टी ले ली गई वहाँ 'न तु मेदिनीम्' का कोई अर्थ नहीं होता। भारत की अनेकानेक प्रशस्तियों, विजय-स्तम्भों, कीर्ति-पदकों के रहते यह वक्तव्य कितना मिथ्या हो जाता है! जहाँ अश्वमेध, दिग्विजय, चक्रवर्ती, विश्वजित् आदि की स्थितियाँ रही हैं, जहाँ सिंहासन-मात्र पर बैठ जाना 'अनधिगतस्य अधिगताय' की अनिवार्य सत्ता में समा जाना रहा है, जहाँ की प्रशस्तियों में :

'युधिपतितगजेन्द्रानीकवीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः'

की गर्वोक्ति है वहाँ अपने को धर्मविजयी कहना सत्य का अपमान करना है। और 'लोभ की प्रेरणा से वणिक्पोत समुद्र पार नहीं गये' कहना उत्तर की कहाँ तक अपेक्षा रखता है यह इतिहास और अर्थशास्त्र का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है। अपने साहित्य में सर्वत्र और हजार हजार इसके प्रमाण हैं जिनकी खोज की आवश्यकता नहीं और जिनके तिजारती हथकण्डों का भोग रोमनों की सिनेट भोगती थी जहाँ सिसेरो दहाड़ता था, इतिहासकार प्लिनी नागरिकों को घर लूट ले जाने वाले भारतीय वणिकों से सावधान करता था, कानून बनवाता था। उन्हीं वणिकों से सावधान करता था जिनके ऋण का जवाब दासत्व था, गुलामी।

"भूतकाल के साथ गाँठ बाँधकर बैठे रहने की प्रवृत्ति हमारे राष्ट्र की आत्मा के विरुद्ध है।"[1] यह वक्तव्य कितना सही है इसका पता तो इस ग्रन्थ से ही लग जाता है जो एक पैरा बगैर भूत के आवाहन के नहीं कह सकता। क्षीर-सागर वाले लेख में तो अकर्मण्यता और फ़िलिस्टिनिज़्म की हद हो गई है, उन्माद जैसे बरस पड़ा है। उसके उद्धरण नहीं दिये जा सकते, वह पढ़ने की ही चीज़ है। दूध की महिमा का गान है, दूध नहीं मिल रहा है इस पर क्रोध है पर न कोई सुझाव है, न विचार-सरणि है। फिर वह सहसा पुकार उठता है—'किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति' और स्थिति दूध की रक्षा के बदले वेदों की रक्षा—'भूत से गठबन्धन'—की आ जाती है।

इसी प्रकार पृष्ठ ६७–६६ में वर्ण-व्यवस्था पर एक नितान्त तर्कहीन प्रवचन है। भला वर्ण-व्यवस्था आज किन उसूलों पर श्लाघ्य हो सकती है ? किसी मानवीय तर्क्य आधार पर उसका पृष्ठपोषण नहीं हो सकता। लेखक कहता है—'कुछ लोग जाति-पाँति को भारत की समाज-व्यवस्था समझते हैं।' इससे भला किसे इन्कार हो सकता है कि भारतीय व्यवस्था की

१. पृष्ठ ७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार-शिला, व्यवहार-सर्वस्व वर्णाश्रम धर्म है, जिसमें आश्रम तो आज सदियों-सहस्राब्दियों से हमारे अध्ययन के विषय हैं (विद्वानों को सन्देह है कि क्या वे कभी भी व्यवहृत हुए), केवल वर्ण-वर्ण को हमने जाना है। कर्म और श्रम के आधार पर वर्ण को पूजना जब हमारे सारे अतीत ने, सारी स्मृतियों ने, उसे जन्मपरक माना है, उसी के आधार पर 'दाय' का विधान किया है, कहाँ तक उचित है ? और उदारता की बात तो यह है कि लेखक स्वयं अपनी उसी अछूत-भाव-पद्धति का प्रदर्शन करता हुआ पृष्ठ ७२ और ७३ पर सेमेटिक परिवार की भाषाओं और अरबी को **'म्लेच्छ भाषा'**, **'म्लेच्छ वंश'** कहता है जो और कुछ नहीं उस प्राचीन लोक की व्यवस्था है जिसमें आर्येतर भाषाएँ (कारण कि उन्हें बोलने वाले विधर्मी—विदेशी थे) म्लेच्छ मानी जाती थीं। यह उदार दृष्टिकोण का स्वरूप है ! एक स्थल पर उल्लेख हुआ है : **"लगभग १००० ई० से १२०० तक मुसलमानों का पहला समागम हुआ।"**[1] यह कोई और कहता तो झल्लाहट की बात न थी पर लेखक इतिहास का पण्डित माना जाता है। १०००–१२०० ई० तक, शायद उसे याद नहीं, सिन्ध पर परमारों-प्रतिहारों-चालुक्यों (राजा भोज आदि के समकालीन) के बीच मुसलमान साढ़े तीन-पौने चार सौ वर्ष राज कर चुके थे। और पहला समागम ? अरबों की बस्तियाँ उससे हजार वर्ष पहले से भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर थीं, इस्लाम के उदय के बाद भी सदियों, और उन्हीं के झगड़ों का अन्त बदले के रूप में हेज्जाज के भतीजे बिनकासिम के सिन्ध पर ७१२ ई० के हमले में हुआ।

इसके बाद तुलसीदास, सूरदास, विविध कलाओं पर ऐसे लेख हैं जो स्कूल के निबन्ध-से लगते हैं, नितान्त घटिया किस्म के। तुलसीदास, सूरदास आदि पर आज अत्यन्त समृद्ध अध्ययन पुस्तक और निबन्ध दोनों रूप में हिन्दी में उपलब्ध हैं ? ये निबन्ध तो उस दिशा में नगण्य-से हैं। और कला-सम्बन्धी लेख ? चर्वित-चर्वण। हजारों पृष्ठ, सोचे-समझे विचारों के, हिन्दी-अंग्रेजी में इस सम्बन्ध में आज उपलब्ध हैं। 'कटेगरी' और निबन्ध की विचार-सरणि में गुणतः अन्तर है, यह लेखक को कौन बताये ? पृष्ठ १०६ पर पुरानी परम्परा से ही फिर सीखने की बात वह कहता है जब सारा संसार कला के नये-नये प्रयोग कर रहा है, जब स्वयं भारतीय कलाकार (रामकिंकर, हुसेन, धारा, बेन्द्रे, यावड़ा, हेबर, धनराज, आदि) उसी दिशा में लंबे डग भर रहे हैं। जैसे जब कवि नई कविताओं का आलोक लिये खड़ा हो कोई उससे उसकी पुरानी चर्वित कविताओं को ही सुनाने का आग्रह करे ! पृष्ठ ११० पर लेखक गुप्तकाल की बुद्धमूर्ति को 'मौलिक' कहता है, भगवान् ही उसका मर्म समझे।

अगले लेख 'पाणिवाद' में तो जैसे उधार लिये हुए माडर्निज़्म के जरिये उन्नीसवीं सदी का प्रयास किया गया है। श्रम की महिमा गाई गई है। और यह श्रमवाद फ्रेञ्च फ़िजियोक्रेट्स की अति तक जा पहुँचा है : **"मनुष्य-समाज की अँधेरी कोठरियाँ श्रम के प्रकाश से भर जायँगी। मानवों के मुरझाये हुए अङ्ग श्रम की गरमी पाकर कर्म के लिए पुनः खुल जायँगे।"**[2] 'महते जानराज्याय' उन्मादग्रसित लेख है। 'संविधान' में बेकार कोई संविधान-सम्बन्धी विचार ढूँढेगा, उसमें चर्वित-चर्वण है। दूसरों का (अस्वीकृत), और हिन्दू 'पालिटी' का विस्फोट। और 'भारत का विश्वमानस' मन्त्र और व्याख्या है।

---

१. पृष्ठ ६४।

२. पृष्ठ ११५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक पढ़ता-पढ़ता, गुनता-गुनता, लिखता-लिखता सीखता है, बढ़ता है; पर जिसने इस विद्वान् लेखक के लेख आज से बीस बरस पहले पढ़े हों वह इस पुस्तक को पढ़कर निराश होगा। ग्रन्थकार जीवन के इन बीस वर्षों के बीच बढ़ा नहीं, विकसित नहीं हुआ, ऐसा जान पड़ता है।[1]

वासुदेव उपाध्याय

सार्थवाह

यद्यपि सार्थवाह शब्द से पाठक-वर्ग को पुस्तक में प्रतिपादित विषय का आभास नहीं मिलता, किन्तु यह नाम अत्यन्त सार्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द का अर्थ उस अगुआ से है, जो पूँजी द्वारा व्यापार करने वाले पान्थों में जाया करता था। सार्थ का अभिप्राय पूँजी वाले व्यापारी-समूह से है। अतः सार्थवाह का नामकरण करके डॉ० मोतीचन्द्र ने पुस्तक में प्राचीन भारतीय व्यापारी, उनकी यात्राएँ, क्रय-विक्रय की वस्तुएँ, व्यापार के नियम तथा पथ-पद्धति का वर्णन किया है।

पहले अध्याय में भारत की प्राचीन पथ-पद्धति के अन्तर्गत दक्षिण भारत तथा उत्तरापथ के व्यापारिक मार्गों का पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है, जिनमें प्राचीन पथ-पद्धतियों का भी उल्लेख है। इनका सुन्दर वर्णन किया गया है। प्राचीन मार्गों के वर्णन के साथ मुग़लकालीन महापथों का भी उल्लेख पाया जाता है जो इस पुस्तक के विषयान्तर्गत रखना उचित नहीं प्रतीत होता।

दूसरे अध्याय में मोहेन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्रियों के आधार पर लेखक ने मार्ग तथा व्यापार के विभिन्न साधनों का वर्णन किया है। उस सम्बन्ध में बैलगाड़ी का उल्लेख करना आवश्यक है, जिसका स्वरूप चार हजार वर्षों के बाद भी वैसा ही मिलता है। मिट्टी के जितने खिलौने खुदाई से निकले हैं उनमें बैलगाड़ी की बनावट एक-सी मिलती है। लेखक ने आर्यों के भारत में प्रवेश-मार्ग का जो विवरण उपस्थित किया है, वह सर्वथा विवादरहित नहीं है। तीसरे अध्याय के पाँच उपविभाग किये गए हैं। पहला सर्वथा राजनीतिक है, जिसमें सोलह गणों तथा राज्यों का वर्णन है। अन्य उपविभागों में सेना के साथ सड़क बनाने वालों का वर्णन, जातकों के आधार पर यात्रा की कठिनाइयाँ और अन्तर्देशीय व्यापार तथा समुद्री बन्दरगाहों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। उसी प्रसंग में बौद्ध-साहित्य में वर्णित समुद्र-यात्रा से हमें ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के भारतीय व्यापार का ज्ञान हो जाता है।

चौथे अध्याय में यूनानी लेखकों तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्य-युग के व्यापार तथा तत्सम्बन्धी नियमों का वर्णन लेखक ने किया है। इसके बाद ही ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी तक भारत में शासन करने वाले यूनानी, शक तथा पह्लव राजाओं की यात्रा का

१. **लेखक—डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक—चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन किया गया है। तत्कालीन विदेशी यात्रियों—पेरिप्लस तथा टालेमी ने भी भारतीय बन्दरगाहों तथा उनके व्यापार का वर्णन किया है। छठे अध्याय में विस्तारपूर्वक रोमन साम्राज्य से भारतीय व्यापार का लेखा मिलता है, जिन बन्दरगाहों पर विदेशी माल उतारा करते थे। विशेषकर पूर्वी समुद्र-तट पर रोमन लोग यात्रा किया करते थे। सातवें अध्याय में संस्कृत तथा बौद्ध-साहित्य के आधार पर महापन्थों तथा यात्रियों का विवरण लेखक ने दिया है और उस साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप देश की पथ-पद्धति और जल तथा थल के अनुभवों की बात अच्छे ढंग से रखी है। आठवाँ अध्याय तमिल साहित्य तथा मणिमेखलै में शादुवन् की कहानी के आधार पर लिखा गया है जिसमें दक्षिण भारत के यात्रियों का वर्णन पाया जाता है। लेखक ने छठे अध्याय में भी भारत से रोमन-व्यापार का विवरण दिया है, जिसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से ही था। अच्छा होता दोनों अध्यायों का वर्णन एक स्थान पर ही किया जाता ताकि दक्षिण भारत का सम्बद्ध वर्णन एक साथ पाठकों के सामने आता। नवें अध्याय में डॉ० मोतीचन्द्र ने जैन-साहित्य का मंथन करके यात्री और सार्थवाह के विषय में प्रचुर सामग्री दी है। साधु तथा व्यापारियों की यात्रा के अतिरिक्त ज्ञाताधर्म की दो कहानियों के आधार पर जहाजरानी का सुन्दर विवरण सामने रखा है। भारतीय इतिहास में गुप्त काल 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारा जाता है। इस युग में राजाओं की विजय-यात्राओं के मार्ग का लेखा तत्कालीन प्रशस्तियों के अध्ययन से मिलता है। समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण विजय-यात्रा में किस मार्ग का अवलम्बन किया था, और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किस पथ-पद्धति से मालवा में विजय-दुन्दुभी बजाई थी, इन सबका विवरण अगले अध्याय में भी मोतीचन्द्र ने किया है। इसी काल में उपनिवेश स्थापित किये गए, जिसका श्रेय हमारे प्राचीन व्यापारियों को है। फाहियान के यात्रा-विवरण से यह जानकारी होती है कि चीन से भारत की सड़कें मध्य एशिया होकर गुजरती थीं। वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य मार्ग हो गया था।

भारतीय इतिहास में सातवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक का काल अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के भारतीय समाज में सर्वत्र उथल-पुथल दिखलाई पड़ती है। मुसलमानों के आक्रमण के कारण जहाजरानी का कार्य वृद्धि पर था। भारत से दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा चीन का सम्बन्ध बढ़ता ही गया। मुसलमानों के आक्रमण से इस युग में भारतीय पण्डितों ने नेपाल, तिब्बत तथा चीन में जाकर धर्म तथा साहित्य का प्रचार किया। उस सम्बन्ध में पूर्वी बन्दरगाह ताम्रलिप्ती का विशेष हाथ रहा। डॉ० मोतीचन्द्र ने अरब साहित्य तथा चीनी इतिहास की छान-बीन करके इस पूर्व-मध्य-युग का सुन्दर वर्णन किया है। यद्यपि अरब ऐतिहासिकों के विवरण तथा 'युक्ति कल्पतरु' पर लेखक ने अपना वर्णन आधारित किया है, किन्तु तत्कालीन प्रशस्तियों का अध्ययन भी आवश्यक था। भारतीय लेख हमारे इतिहास के भाण्डार हैं। पूर्व-मध्यकाल (७वीं से ११वीं सदी) का इतिहास लेखों के अध्ययन के बिना पूरा नहीं माना जा सकता। बारहवें अध्याय में विभिन्न समुद्री भागों में भारतीय बेड़े का वर्णन है जो पूर्वलिखित दक्षिण के चोल राजाओं के जावा विजय तथा शैलेन्द्र शासकों से युद्ध पर आधारित है। इसमें विशेषतया धनपाल-कृत 'तिलक मञ्जरी' के आधार पर सामुद्रिक यात्रा का वर्णन किया गया है। लेखक ने ठीक ही लिखा है कि धनपाल के द्वीपान्तर यात्रा-सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता। किन्तु उसका वर्णन अत्यन्त सजीव है और आँखों-देखी बात ज्ञात होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम अध्याय में लेखक ने कला में जहाज-सम्बन्धी चित्रों का वर्णन किया है, जो लगे हुए फलक पर चित्रित या खचित हैं। इन सजे फलकों से पुस्तक की सुन्दरता बढ़ गई है तथा दो मानचित्रों द्वारा सारे मार्ग तथा पथ-पद्धतियों का ज्ञान हो जाता है। हिन्दी क्या अंग्रेजी में भी इस ढंग की कोई पुस्तक नहीं थी। इसके लिए लेखक बधाई का पात्र है।[1]

गंगाप्रसाद पाण्डेय

जिप्सी

'जिप्सी' श्री इलाचन्द्र जोशी का नवीनतम उपन्यास है, यों लेखक के रचना-क्रम का सातवाँ। जोशी जी की यह कृति उन उपन्यासों में से है, जिन्हें वास्तव में नवीन युग की जागरूक चेतना का प्रतीक कहा जायगा। जब हम युग-चेतना, युग-कला अथवा युग-चिन्तना की बात करते हैं तब हमारा आशय अनिवार्यतः किसी एक देश अथवा दल, एवं समाज या व्यक्ति से नहीं होता। वरन् हम विश्व-व्याप्त जीवन के नाना विरोधी क्षेत्रों के विकासोन्मुख समन्वय से ही युग-संज्ञा को पूरा करते हैं। आज अणुबम की खोज और उसकी विनाशकारी लीला से मानवता त्राहि-त्राहि कर उठी है। सारे संसार में भौतिकता का एक ऐसा आतंक छा गया है कि इधर बीसवीं शती में प्रत्येक व्यक्ति में केवल भय का भाव ही प्रमुख है। हर्ष की बात यह है कि बीसवीं शती के अधिकतर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भाँति चेतन के नाम पर मनोराज्य की एकान्त तथा आबद्ध कारा में कराहती हुई नैतिक पतन की विवशतामयी पीड़ा के प्रदर्शन से यह उपन्यास मुक्त है। उपन्यास की पूरी गतिविधि से अवगत होने के बाद उसे हम 'A story of spiritual progress' ही कह सकते हैं।

उत्तेजना और स्थिर-चेतना जीवन की जुड़वाँ सन्तान हैं। इनका विरोध जीवन का सन्तुलन नष्ट करने वाला और सहयोग उसे सुव्यवस्थित करने वाला होता है। उपन्यास का रंजन उत्तेजना और मनिया स्थिर-चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। उत्तेजना का सबसे बड़ा प्रेरक 'धन' है, शक्ति है और स्थिर-चेतना का आधार 'श्रम' है। रंजन धनी और मनिया श्रमिक है। इस दृष्टि से उपन्यास को सम्पत्ति और श्रम के संघर्ष का महाकाव्य भी कह सकते हैं। कहना न होगा कि भौतिक विज्ञान की प्रगति का आधार भी 'सम्पत्ति' या 'पूँजी' है, किन्तु रंजन के साथ मनिया की भाँति उसमें श्रमिकों का श्रम भी सम्बन्धित है। सच तो यह है कि विज्ञान, राजनीति तथा कला जीवन की व्यापक भाषा की विभिन्न बोलियाँ-मात्र हैं। अलग-अलग सब जीवन को अपूर्णता की ओर ढकेलते हैं और सब मिलकर पूर्णता की ओर चलते हैं।

जोशी जी ने इसी पूर्णता पर बल देकर एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग करने तथा जीवन की विभिन्न स्थितियों और क्षेत्रों के समन्वयात्मक स्वरूप को पहचानने का आग्रह-अनुरोध किया है। तो क्या उपन्यास में सर्वोदय का साधन उपस्थित किया गया है? (स्मरण रहे कि यह सर्वोदय गांधीवाद से संयोजित न होकर भगवान् कृष्ण के अधिकारवाद के अधिक निकट पड़ेगा।)

१. **लेखक डॉक्टर मोतीचन्द्र, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास का कथानक कुछ इस प्रकार है—'जिप्सी' एक जिप्सी लड़की की रोचक त[illegible] विकासशील कथा है, जिसका नाम मनिया है।

जन्म से ही मनिया जीवन के मानसिक उद्वेगों तथा क्षोभों की एक ऐसी गठरी लादे जो असाधारण ही कही जायगी। रंजन से वह मसूरी में एक छोटी दुकान की दुकानदार [illegible] हैसियत में मिलती है। पहले ही दिन रंजन ने एक चाकू खरीदा और मनिया ने बेचा। दू[illegible] दिन से प्रायः रोज ही रंजन उसकी दुकान पर आने-जाने लगा और छोटी-मोटी बेकाम [illegible] चीजें खरीदने लगा। यहाँ तक कि एक दिन उसने सारी दुकान खरीद ली। मनिया को [illegible] खरीद लिया।

इस विचित्र आकर्षण का एक कारण है। मनिया को देखकर रंजन को उसी दुकान [illegible] बैठने वाली उसीकी तरह एक अद्भुत तथा अद्वितीय सुन्दरी स्त्री की याद आती है, जो उसी[illegible] तरह उस दुकान पर बैठती थी। दोनों की विषमता में भी इतना अधिक साम्य था कि वह सुन[illegible] किसी-न-किसी प्रकार मनिया से सम्बन्धित जान पड़ती थी। वस्तुतः मनिया के प्रति रंजन का [illegible] आकर्षण, उस सुन्दरी की याद का, पूर्व-स्मृति का परिणाम था।

मनिया के पहले उसकी माँ उस दुकान पर बैठा करती थी। अपने पति की विलासि[illegible] और अकर्मण्यता से खीझकर उसने एक दिन उसकी हत्या कर डाली और मनिया को निरा[illegible] छोड़कर स्वयं आत्महत्या कर ली। शिशुकालीन उस घटना का प्रभाव मनिया के मन में अमिट [illegible] से अंकित है। इस समय मनिया अपने कर्मठ जीवन की स्वतन्त्र सत्ता—दुकान—को बेचकर [illegible] अनाथ गुलाम की तरह रंजन की शरण में है। अपनी स्थिति के प्रति रंजन को उत्तरदायी सम[illegible] कर मनिया बीच-बीच में ऐसे व्यंग्यों का उस पर प्रहार करती है कि वह तिलमिला उठता है [illegible] उसकी सम्पत्तिशीलता का ऐसा खाका खींचती है कि उसका अधिकारी अपने को शैतान से [illegible] नहीं पाता। फिर भी मनिया अपनी उस विपन्नता की विवशता में उससे ब्याह करने को राजी [illegible] जाती है, किन्तु भीतरी आक्रोश तथा आत्माभिमान के कारण वह विवाह की एक शर्त यह र[illegible] है कि रंजन ईसाई धर्म स्वीकार कर ले। विवाह करने की विलासिता के साथ धर्म-परिवर्तन [illegible] रंजन को एक प्रकार के असमंजस का अनुभव हुआ परन्तु अन्त में उसने अपने मूल-धर्म को पु[illegible] कपड़े की भाँति दूर फेंककर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

मनिया के ईसाई धर्म के आग्रह का आधार भी है। मनिया जब सर्वस्व बे[illegible] रंजन के यहाँ आने-जाने तथा रहने लगी तब रंजन के पड़ोस की एक ईसाई लड़की से उ[illegible] ऐसी घनिष्ठता हो गई कि वह शीघ्र ही ईसाई धर्म तथा ईसा और मेरी के प्रति अनन्य श्र[illegible] वान् एवं विश्वासी बन बैठी। सभी पापियों के प्रति क्षमा, जीव-मात्र के प्रति दया, सहानु[illegible] आदि ईसाई धर्म की विशेषताओं ने मनिया के मन में एक ऐसी आस्था जगा दी, जो उ[illegible] शैशव में घटी माँ-बाप की दुर्घटना के सँभालने का साधन बनकर उसके मन में जम गई। म[illegible] स्वयं उससे अपने को अलग कर सकने में असमर्थ थी। ईसा और मेरी के रूप में जैसे उसे अ[illegible] माँ-बाप पुनः मिल गए। पत्नी होकर भी वह रंजन के लिए ईसा तथा मेरी को छोड़ने के लि[illegible] तैयार नहीं थी।

मनिया के इस दृढ़ विश्वास तथा दृढ़ संकल्प का मुकाबला डरपोक एवं विलासी [illegible] किसी प्रकार भी नहीं कर सका। यद्यपि इसके पहले वह मनिया को हिप्नोटाइज भी कर [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। रंजन जैसे व्यक्तियों के विश्वास तथा सिद्धान्त उसकी बाह्य स्थितियों के साथ निम्नगामी जल-पात की तरह प्रभावित होते चलते हैं। कथानक-भर में मनिया अपने आन्तरिक आग्रहों का चाबुक चलाती जाती है और रंजन तिनगता हुआ आगे बढ़ता जाता है। दूसरी ओर मनिया आश्रम की नहीं तो श्रम की पली हुई बालिका, जीवन की विविध विरोधी परिस्थितियों में भी निरन्तर विकास करती चली जाती है। सहज रूप से जीवन की शक्ति तथा उसके विकास की सर्वतोमुखी सम्भावनाएँ श्रमिक वर्ग में अधिक होती हैं। पता नहीं, जोशी जी द्वारा चित्रित रंजन तथा मनिया के जीवन-व्यापी अन्तरीण तथा बाह्य संघर्ष को पूँजीवादी-प्रोलेतेरियत संघर्ष का स्वरूप देना भी चाहिए या नहीं, परन्तु यह संघर्ष सुविधा-प्राप्त तथा सुविधा-हीनों के बीच का है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। दुनिया के दो शिविरों का यह संघर्ष आज की सबसे ज्वलन्त समस्या है।

मनिया शीघ्र ही मातृत्व-पद लाभ करने वाली थी। उसके तन-मन में एक ऐसा निर्मल निखार झलकने लगा था जो अप्रत्याशित किन्तु उसके जीवन के मूल-संस्कारों के अनुकूल था। रंजन अपने स्वभाव के कारण उसके संस्कृत स्वरूप का भी लाभ न उठा सका। मनिया से उसकी और अधिक खटकने लगी। रंजन-जैसे विलासी व्यक्ति पत्नी को यों भी माँ बनने की अनुमति, अज्ञात रूप से ही सही, देना नहीं चाहते। मनिया का दिन-रात पूजा-पाठ में व्यस्त रहना रंजन को और भी उत्तेजित करने में सफल रहा। स्थल-स्थल पर लेखक ने रंजन की सारी बूजुंआ अहं की मानसिकता एवं उसके वर्ग की व्यापक हीनता का स्पष्ट, स्वाभाविक तथा सजीव चित्र खींचा है। फिर भी कथा की मूल प्रेरणा मनिया का विकास है न कि रंजन का ह्रास!

मसूरी की टण्ड से बचने के लिए दोनों कुछ दिनों को कलकत्ता चले जाते हैं। वहाँ रंजन के एक बाल-सहपाठी वीरेन्द्र से सहसा भेंट हो जाने के कारण उसीके यहाँ ठहर जाते हैं। वीरेन्द्र, स्वभाव से भिन्न, पर सम्पन्नता में रंजन के समान है। एक ही चेतना के दो स्तरों का रहस्योद्घाटन करने के लिए ही जैसे वीरेन्द्र की सृष्टि की गई हो। वीरेन्द्र का बढ़िया मकान और उसकी सुन्दर सौम्य पत्नी शोभना का आतिथ्य दोनों को भा गया तो आश्चर्य की बात नहीं। मनिया का प्रवेश उस घर में बहू के रूप में हुआ और शोभना उसकी दीदी बनी। उठना-बैठना, घूमना-फिरना प्रारम्भ हुआ नहीं कि रंजन शोभना पर लट्टू हो गए। स्वयं शोभना एक ऐसी विचित्र नारी है कि न केवल निकम्मे रंजन के लिए वरन् कर्मठ वीरेन्द्र के लिए भी उसको समझना सम्भव नहीं था। वीरेन्द्र अपनी संस्था की धुन में मस्त था। उसे शोभना और रंजन की लगा-लगी देखने-समझने का अवकाश ही नहीं था, किन्तु मनिया को रंजन की नई गति-विधि समझने में देर नहीं लगी।

दैवयोग से इसी बीच मनिया का मुँह तेजाब से खराब हो गया और उसका नवजात शिशु भी अचानक मर गया। एक तो बच्चे की मृत्यु से मनिया की आस्था पर यों ही बड़ा भारी आघात लग चुका था, दूसरे रंजन और शोभना की नवीन प्रेम-लीला ने उसको और भी अधिक अनास्थावान बना दिया।

उसने अपने रूखे व्यवहार तथा वचन-संकेतों से रंजन को आगाह तो किया, पर प्रत्यक्ष रूप से मौन ही रही। इस समय वह एक ऐसी मानसिक स्थिति में थी जिसका उद्धार न तो वह अपनी आस्था में खोज पाती थी और न अपने कर्मगत जीवन में। ठीक उसी समय उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय वीरेन्द्र की संस्था के एक अधिकारी से हुआ। संस्था के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों को समझकर मनिया उसके प्रति इतनी आकर्षित हो उठी जितनी एक दिन वह ईसाई-धर्म के प्रति हो उठी थी। आश्चर्य नहीं कि रंजन इस आकर्षण का कारण अपना विलास और दुराचरण न मानकर मनिया पर ही दोषारोपण करने लगा। परिणामस्वरूप मनिया संस्था के प्रति और अधिक आवेग के साथ आकुल हो उठी।

संस्था तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों के प्रति शोभना के द्वारा जगाये गए विरोधी-भाव अपना सन्देहात्मक विकराल रूप लेकर रंजन के सामने खड़े हो गए। उसने मान लिया कि मनिया को संस्था वालों ने बहका लिया है और बहुत सम्भव है कि संस्था बालिका-व्यवसाय ही करती हो। रंजन का यह विलासी, निकम्मा और भीरु-रूप मनिया के लिए इतना अग्राह्य हो उठा कि वह एक दिन रंजन से विदा लेकर, बल्कि उसे धक्का देकर उस घर से निकल गई और चुपचाप उसी संस्था में सम्मिलित हो गई। इसी बीच एक और उल्लेखनीय घटना घटी—वीरेन्द्र का वध। उधर मनिया संस्था में कार्य करती हुई शीघ्र ही सबकी प्रिय और सच्ची सेविका बन गई, क्योंकि उसके जीवन के मूलगत संस्कारों का आधार ही ऐसा कार्य-कलाप था। संस्था से सम्बन्धित एक सज्जन के साथ अमेरिका जाकर प्लास्टिक सर्जरी से अपना मुँह ही नहीं वरन् सारा शरीर सुडौल कराकर मनिया वापस आ जाती है और संस्था में एक नर्स के रूप में सच्ची सेवा-भावना से काम करने लगती है। यहाँ वह उसी तरह सुखी तथा निर्द्वन्द्व है जिस तरह कि रंजन से मिलने के पहले अपने कर्ममय सहज जीवन में थी।

इधर कलकत्ता से कुछ दूर नदी के किनारे की कोठी में रंजन और शोभना एक बहुत बड़ी युवा-युवतियों की मण्डली के साथ केलि-क्रीड़ा के लिए गये कि वहाँ बहुत बड़ी महामारी तथा अकाल का भयानक आतंक आ उपस्थित हुआ और इन विलासियों का वहाँ ठहरना तक कठिन हो गया। बुझा उपकार की भावना ने रंजन को उकसाया और वह एक मौजी बूढ़े बंगाली के साथ सबको कलकत्ता में भेजकर वहाँ ठहर गया। मनिया वाली संस्था से कुछ डॉक्टर और कुछ नर्सें वहाँ सेवा के लिए पहुँची नहीं कि रंजन का मन उछल पड़ा। उसने सभी नर्सों के प्रति आत्मीयता का हाथ बढ़ाया किन्तु नवीन मनिया की ओर स्वाभाविक रूप से वह अधिक आकर्षित हुआ।

मनिया अपने व्यंग-बाणों से रंजन के मर्म को बराबर बेधती रहती है पर उसकी जड़ता और कामुकता उसे सहज तथा सावधान नहीं होने देती। नर्स की घनिष्ठता के बाद जब रंजन को पता चलता है कि यह प्रबन्ध उसी वीरेन्द्र तथा मनिया वाली संस्था की ओर से हुआ है तब उसके आश्चर्य और आतंक की सीमा नहीं रही। रंजन सहसा संस्था के प्रति बहुत अधिक सहानुभूतिशील हो उठा। नर्स, रंजन से परिचित होने के कारण अपनी चातुरी से उसे अपनी सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग संस्था को दान के रूप में देने को विवश कर देती है।

लिखा-पढ़ी के बाद कलकत्ता वापस आने पर रंजन को संस्था के अन्य अधिकारी व्यक्तियों के साथ मनिया का भी परिचय दे दिया जाता है। रंजन लज्जा से गड़ जाता है, पर कुछ बोल नहीं पाता, क्षमा भी नहीं माँग पाता। मनिया उसका धर्म तथा धन दोनों लेने के बाद भी उसे स्वीकार नहीं करती, क्योंकि वह उसके मूल भावों से परिचित है। इसीलिए सामूहिक सेवा द्वारा अपना संस्कार-परिष्कार करने के लिए वह रंजन को पुनः पहाड़ वापस भेज देती है। वह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुपचाप अपने पापों का फल भोगने के लिए वापस चला जाता है और सम्भवतः परीक्षोत्तीर्ण होने के लिए जीवन का नया अध्याय खोलता है। यही उपन्यास का अन्त है।

नारी-सुलभ कोमलता तथा पूर्व-संसर्ग की मोहान्धता को बरबस दबाकर मनिया रंजन को स्वार्जित मुक्ति के लिए मुक्त कर देती है। रचनात्मक कार्य द्वारा स्वयं अपने जीवन को विश्व-जीवन से नियोजित करने का सफल विधान करती है। यही मनिया की विजय और विकासशील चेतना का अभ्युदय है।

जीवन के इस तुमुल कोलाहल में ऐसे सन्तुलित दृष्टिकोण के साथ जीवन-विकास की सम्भावनाओं का स्पष्ट चित्रण करने वाली कृति जोशी जी की हिन्दी के लिए स्थायी देन है, इसमें सन्देह नहीं।[1]

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

माताबदल जायसवाल

दखिनी हिन्दी का उद्भव और विकास

'दक्खिनी' (दकनी, दखिनी) खड़ी हिन्दी (स्टैण्डर्ड हिन्दी) के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। खेद है कि पिछले खेवे के किसी भी हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक की दृष्टि विन्ध्याटवी के पार हैदराबाद-राज्य में बिखरी हुई इस सामग्री की ओर नहीं गई। डॉ० ग्रियर्सन ने अपने 'भारतीय भाषा पर्यवेक्षण' में भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण से 'दक्खिनी' पर विचार किया है। उनका मत है कि, **"दक्खिनी भ्रष्ट हिन्दुस्तानी नहीं, बल्कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी ही भ्रष्ट दक्खिनी का रूप है"**[2] जब से दक्खिनी साहित्य प्रकाश में आया है, उर्दू के हिमायती डॉ० मुहीउद्दीन क़ादिरी[3], प्रो० शेरानी[4], नासिरुद्दीन हाशिमी[5] तथा शम्सुल्ला साहब क़ादिरी[6] आदि विद्वान् 'दक्खिनी' को 'क़दीम उर्दू' या 'दखनी उर्दू' कहते हैं। रामबाबू सक्सेना भी अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं, **"दकनी भाषा हिन्दुस्तानी की एक शाखा है.......उसको उर्दू की एक भाषा समझना चाहिए।"**[7] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी यही माना है कि **"ये सब (रेख्ता, रेख्ती और दक्खिनी) उर्दू के रूप-रूपान्तर हैं।"**[8] इस भूल के

---

1. लेखक—इलाचन्द्र जोशी, प्रकाशक—सेण्ट्रल बुक डिपो, प्रयाग।
2. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया—जिल्द ६, भाग १।
3. उर्दू शहपारे—हिन्दुस्तानी लिसानियात।
4. पंजाब में उर्दू।
5. दकन में उर्दू।
6. क़दीम उर्दू।
7. उर्दू साहित्य का इतिहास—रामबाबू सक्सेना।
8. हिन्दी भाषा का इतिहास—पृष्ठ ६२।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ विशेष कारण भी थे। एक तो यह समूचा साहित्य फारसी लिपि में है। दूसरे प्राचीन सभी ज्ञात लेखक मुसलमान हैं। तीसरे यह साहित्य दक्षिण के मुसलमानी राज्यों में ही पोषित हुआ। चौथे किसी हिन्दी के विद्वान् द्वारा इसका सम्यक् अध्ययन नहीं हुआ। अतएव इसे 'प्राचीन उर्दू' समझ बैठने की भूल सहज सम्भाव्य है।

'दक्खिनी हिन्दी' में डॉ० बाबूराम सकसेना के दक्खिनी भाषा और साहित्य-सम्बन्धी तीन व्याख्यान संग्रहीत हैं। ये व्याख्यान हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद के निमन्त्रण पर सन् १९४५ में तैयार किये गए और १६ दिसम्बर सन् १९५१ में पुस्तकाकार रूप में एकेडेमी से ही प्रकाशित हुए। इन व्याख्यानों द्वारा डॉ० सकसेना ने प्रथम बार दक्खिनी साहित्य के गम्भीर अध्ययन और विवेचन का श्रीगणेश किया। अध्ययन के आधार पर 'दक्खिनी' के विषय में प्रचलित भूल का निवारण करते हुए इस मत के प्रतिपादन का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है कि 'दखिनी' उर्दू-ए-मुअल्ला की भाषा नहीं, वह 'दक्खिनी उर्दू' नहीं, बल्कि 'दक्खिनी हिन्दी' है।

पुस्तक तीन अध्यायों में विभाजित है: १. 'प्रवेशक', २. 'भाषा', ३. 'शैली'। 'परिशेष' में दक्खिनी हिन्दी-साहित्य के कुछ नमूने और अंत में 'अनुक्रमणिका' दी गई है। प्रथम अध्याय को पुस्तक की भूमिका कहा जा सकता है। इसमें 'दक्खिनी' के भिन्न-भिन्न नामों—'हिन्दी', 'हिन्दवी' और 'दक्खिनी'—की व्याख्या; दक्खिनी हिन्दी की चारों सीमाओं पर बोली जाने वाली भाषाओं—मराठी, कन्नड़, तेलुगु और तमिल—के साहित्य का अति संक्षिप्त परिचय तथा तत्कालीन भारत में उत्तरी भाषाओं की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए खड़ी हिन्दी (स्टैण्डर्ड हिन्दी) की जन्मभूमि, उसके दक्षिण प्रवेश तथा दक्षिणी राज्यों में साहित्य-निर्माण आदि विषयों पर विचार किया गया है। 'दक्खिनी हिन्दी' के कवियों की रचनाओं से हिन्दवी[1], हिन्दी[2], हिन्दी जबान[3] तथा दखिनी[4] शब्दों के प्रयोगों के उद्धरण देकर लेखक ने 'हिन्दी' नाम की प्राचीनता भली भाँति प्रमाणित की है। विद्वान् लेखक का वक्तव्य है कि 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'भारत की' के अर्थ में किया गया है।[5] यह सत्य है कि तत्कालीन भारत में 'हिन्दी' से 'भारत की' भी तथा 'हिन्दी जबान', 'हिन्दी बोल' और 'हिन्दवी' से भारत की देशी भाषा का अर्थ लिया जाता था; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि तब तक 'हिन्दवी' शब्द केवल यौगिक था, जिससे भारत की सभी आर्य तथा आर्येतर भाषाओं का बोध होता था। कई सौ वर्ष पूर्व अवश्य 'हिन्दी' शब्द से यही यौगिक अर्थ 'भारत की' ही लिया जाता था और उसका प्रयोग भारत की किसी भी भाषा के लिए किसी भी वस्तु के लिए होता था। 'कलेला दमनः' के रचयिता तथा अल्बेरुनी ने भारत की भाषाओं को 'अलहिन्दय' कहकर इसी अर्थ की ओर संकेत किया है; किन्तु प्राचीन 'दक्खिनी हिन्दी' काल में 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' का प्रयोग एक विशिष्ट भाषा

---

१. शेख़ अशरफ़—नौसाहार (१५०३), पृष्ठ १८।
२. बुरहानुद्दीन आनम—'इर्शादनामा' (१५८२), पृष्ठ १६।
३. मुल्लावरूही—'सब रस' (१६३५), पृष्ठ ११।
४. वजही—उतुबमुश्तरी, पृष्ठ १६।
   इब्नविशाती—फ़लबन।
   रुस्तमी—ख़ाविरनामा।
५. दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ १५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए होने लगा था जो उस समय भारत के विराट् जन-समुदाय की एक-मात्र अन्तरप्रान्तीय जन-भाषा थी। लेखक द्वारा उद्धृत इन सब लेखकों के पूर्व शाह मीराँ जी (१५वीं सदी) ने फारसी और अरबी के मुक़ाबले में इस 'हिन्दी' या 'भाका' (भाखा) की उसी प्रकार प्रशंसा की है जिस प्रकार उनके समसामयिक संत कबीर ने 'कूपजल' रूपी संस्कृत के मुक़ाबले में 'बहता नीर' रूपी 'भाखा' की प्रशंसा की है :

जे कोई अच्छे खासे। इस बयान केरे प्यासे॥
वे अरबी बोल न जाने। ना फारसी पिछाने॥
तै अरबी बोल केरे। और फारसी भी तेरे॥
यह हिन्दी बोलो सब। इस अरतों के सबब॥

शाह मीरां जी का मत है कि जैसे मिट्टी छानकर सोना निकालते हैं 'भाका' (भाखा) के मग़ज़ (अर्थ) को लो और शब्दों पर ध्यान न दो।

त्यों 'भाका' माटी जानो। ज़र माने दिल में आनो॥[1]

'दक्खिनी' के उद्गम के विषय में प्रायः विद्वानों में मतभेद रहा है। मालाबार दकन, सिन्ध, गुजरात तथा उत्तरी-पश्चिमी मध्यदेश को इसकी जन्म-भूमि बताया गया है। लेखक के मतानुसार खड़ी बोली क्षेत्र ही दक्खिनी की जन्म-भूमि है। 'खड़ी बोली' की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए लेखक का कथन है : "अपभ्रंश उत्तर भारत में सिन्ध से लेकर बंगाल तक और दक्षिण में गुजरात और महाराष्ट्र तक फैली थीं। इनका जो रूप सर्वमान्य हुआ वह उसी प्रदेश का था जो आज मोटे तौर पर खड़ी बोली का क्षेत्र है।"[2] कितना अच्छा होता यदि कोई ऐसा अपभ्रंश-ग्रंथ खोज में मिलता जो केवल 'गुरु जनपद' की बोली में ही लिखा होता। अब्दुर-रहमान (१२वीं सदी उत्तरार्ध) के 'सनेह रासअ' (संदेश रासक) अथवा 'भविसत कल' आदि अपभ्रंश-ग्रंथों में राजस्थानी, गुजराती, खड़ी (कौरवी), ब्रज के प्राचीन रूप मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्टैण्डर्ड अपभ्रंश का मूलाधार 'कुरु-जनपद' ही चाहे रहा हो; किन्तु उसमें मत्स्य, पांचाल तथा सूरसेन जनपद की बोलियों के रूप भी सम्मिलित थे। कुछ इसी प्रकार की स्थिति 'खड़ी हिन्दी' की भी है। खड़ी हिन्दी या दक्खिनी हिन्दी के विकास में लेखक ने निष्पक्षता और ईमानदारी के साथ मुसलमानों का आभार स्वीकार किया है : "इस बात को स्वीकार करने में कोई लज्जा की बात नहीं कि हमारी भारतीय बोली 'हिन्दी' को नये आये हुए विदेशियों ने साहित्य का माध्यम बनाया।"[3] लेखक उन विद्वानों के मत का खंडन करता है जो पुष्पदन्त आदि अपभ्रंश के कवियों और बौद्धगान और दोहा आदि के रचयिताओं को आदि हिन्दी का पद देते हैं।"[4] लेखक के अनुसार 'खड़ी हिन्दी' का प्रथम लेखक कोई मुसलमान ही होगा। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सदैव से भारतीय आर्य-भाषा की धारा धार्मिक आन्दोलनों या विदेशियों के कारण ही दूसरी दिशा की ओर मुड़ी है। आरम्भ में अपभ्रंश को भी नवागत आभीरों की बोली कहा गया था। आश्चर्य नहीं यदि यही स्थिति उस खड़ी हिन्दी की

१. शहादतुल हक़ीक़त से 'उर्दू' (१८३४) पत्रिका में उद्धृत।
२. दक्खिनी हिन्दी—पृष्ठ २५।
३. वही—पृष्ठ ३२।
४. वही—पृष्ठ ३२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हो जिसका मूलाधार 'कौरवी' है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि निर्गुण संत और जैन श्रावक भी इस भाषा के अन्तर्प्रान्तीय रूप को व्यापक बनाने में सहायक हुए।

अच्छा होता यदि प्रथम अध्याय के अन्त में लेखक 'दक्खिनी में साहित्य-निर्माण' नामक शीर्षक को साहित्य और शैली नामक अध्याय में सम्मिलित करता और इसी अध्याय में उर्दू के उद्गम के विषय में भी अपना वह विद्वत्तापूर्ण मत प्रकट करता, जिसे उसने द्वितीय अध्याय के आरम्भ में दिया है। लेखक इस बात से सहमत नहीं कि, "उर्दू मुसलमानों और हिन्दुओं के मेल-जोल से बनी है अथवा उर्दू शैली को हिन्दू-मुसलमान दोनों वर्गों के कलाकारों ने मिलकर बनाया।"[1] यह अवश्य है कि मुसलमानों के प्रभाव से 'कौरवी' (कुरु जनपद की बोली) तथा पूर्वी पंजाब की बोली में ध्वनि, व्याकरण-सम्बन्धी कुछ हल्के परिवर्तन हुए, किन्तु उससे 'कौरवी' या खड़ी हिन्दी 'हिन्दी' ही बनी रही, उर्दू नहीं बनी। टी० ग्रेहिम बेली तथा प्रो० शेरानी[2] के विरुद्ध लेखक ने 'हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी और उर्दू' का मूलाधार कुरु जनपद की बोली 'खड़ी बोली' को ही माना है। किन्तु चारों को समानार्थी मान लेना कुछ भ्रामक है। यह अवश्य है कि व्याकरण का सामान्य ढाँचा सबका कुछ समान है, किन्तु उर्दू प्रधानतया 'हिन्दी' या हिन्दवी' की एक शैली है जो शाहजहाँ के समय में कुछ विशिष्ट जनों के आन्दोलन का फल है। उसी समय से फारसी व्याकरण, वाक्य-रचना आदि में फारसी नियमों को स्वीकार करके हिन्दवी का पल्ला छोड़कर 'उर्दू' की शैली सचेत और सचेष्ट रूप में गढ़ी गई। 'उर्दू' का जन्म उर्दू-ए-मुअल्ला अर्थात् शाही क़िला या दरबार में ही हुआ—कुरु जनपद में नहीं। अच्छा होता यदि विद्वान् लेखक इस विवादास्पद विषय पर अपना निश्चित मत प्रकट करता।

दूसरे अध्याय में दक्खिनी हिन्दी के ध्वनि-विधान और रूप-विधान का थोड़ा विवरण दिया गया है। क़ादिरी साहब की 'हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स' के आधार पर प्राचीन 'दक्खिनी हिन्दी' साहित्य के ध्वनि-विधान पर प्रकाश डाला गया है, किन्तु लगभग ३०० वर्षों के काल में होने वाले ध्वनि-विकारों के कारणों पर सम्यक् प्रकाश नहीं डाला गया है। सम्भवतः स्थानाभाव के कारण ही ऐसा नहीं किया जा सका। अच्छा होता यदि खड़ी हिन्दी की ध्वनियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए कौरवी या खड़ी हिन्दी के बोल-चाल वाले रूप भी दिये जाते, जिससे दक्खिनी की ध्वनियों के आदि स्रोत और उस पर अन्य बोलियों के प्रभाव पर विशेष प्रकाश पड़ता।

रूप-रचना (संज्ञा, सर्वनाम, संख्यावाचक विशेषण, अव्यय, क्रिया, कृदन्त, परसर्ग आदि) का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दक्खिनी साहित्य के मौलिक अध्ययन के आधार पर ही लेखक ने प्राचीन दक्खिनी हिन्दी का एक साधारण व्याकरणात्मक ढाँचा दे दिया है। सम्भवतः अपने ढंग का यह प्रथम अध्ययन है, किन्तु यहाँ भी तुलनात्मक अध्ययन के अभाव के कारण शब्द-रूपों के परिवर्तन, परिवर्धन के आदि स्रोतों तथा उनके निकास के कारणों को समझने का भार लेखक पाठकों पर ही छोड़ देता है। ३०० वर्षों के काल में दक्खिनी हिन्दी की रूप-रचना में स्वयं क्या परिवर्तन हुआ, क्या धरोहर के रूप में वह उत्तर से लाई थी—उसका क्या मराठी, गुजराती तथा द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव पड़ा, इन बातों का सम्यक् निरूपण नहीं हो सका। सम्भ-

१. दक्खिनी हिन्दी—पृष्ठ ४१, ४२।
२. दोनों पंजाब को उर्दू की जन्म-भूमि मानते हैं—'पंजाब में उर्दू'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वतः विद्वान् लेखक पुस्तक के आकार-विस्तार को बढ़ाना नहीं चाहता था। लेखक ने स्वयं इसका संकेत किया है। व्याकरण-रूपों की समानता के आधार पर ही प्रो० शेरानी दक्खिनी को पंजाबी के अधिक निकट मानते हैं। लेखक भी—"सी वाले भविष्यत्काल के रूप पंजाबी से लगते हैं" यह कहकर पंजाबी प्रभाव को स्वीकार करता दिखाई पड़ता है; किन्तु बाद में यह कहकर कि "इनकी निस्बत 'गा, गे' रूप ही अधिक हैं जो खड़ी बोली के ही निजी हैं"—वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि "दक्खिनी खड़ी बोली का ही पूर्वकालीन रूप है।" खड़ी बोली (कौरवी) के रूप देकर लेखक अपने मत को अधिक प्रामाणिक कर सकता था। वास्तव में लेखक का मत युक्तियुक्त है, यदि खड़ी बोली में हरियाना प्रान्त की बाँगरू या सरहिन्दी को भी सम्मिलित कर लिया जाय; क्योंकि दक्खिनी हिन्दी में रोहतक, करनाल, हिसार, सिन्ध, अम्बाला, सरहिन्द की बोली के रूप भी अधिक मात्रा में मिलते हैं।

तीसरे अध्याय में दक्खिनी साहित्य और शैली का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दक्खिनी के शब्द-कोष में फारसी और अरबी के रूप कम हैं। जो हैं भी उन्हें लेखकों और कवियों ने तद्भव रूप में ही स्वीकार किया है। अनेक ऐसे तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है जो उर्दू वालों को अज्ञात हैं। शब्दकोष में लेखक ने कुछ आर्येतर भाषाओं का प्रभाव स्वीकार किया है, किन्तु कितने अंश में इसका स्पष्ट विवेचन नहीं किया। लेखक ने अधिक बल देकर यह लिखा है कि उच्चारण, बहुवचन तथा फारसी से संज्ञा, विशेषण लेकर क्रिया बनाने में 'दक्खिनी हिन्दी' हिन्दी के ही नियमों का पालन करती है, फारसी और अरबी का नहीं। अतएव व्याकरण को देखते हुए भी दक्खिनी हिन्दी को उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट सिद्ध किया गया है।

शैली के विवेचन में लेखक ने भली भाँति प्रतिष्ठित कर दिया है कि शैली के बाह्य उपकरणों को छोड़कर परम्परा-निर्वाह में, प्रेम-पद्धति के चित्रण में जिन्हें हम शैली की आत्मा कह सकते हैं—दक्खिनी लेखक भारतीय परम्परा या हिन्दी-परम्परा के अधिक निकट है। वली की दिल्ली-यात्रा के बाद शैली-सम्बन्धी जो परिवर्तन हुए, प्राचीन दक्खिनी अर्थात् १५वीं, १६वीं, १७वीं सदी में नहीं मिलते।

इस प्रकार व्याकरण, साहित्य, शैली आदि पर विचार करके लेखक यह प्रतिष्ठित करने में पूर्णतया सफल हुआ है कि 'दक्खिनी' को 'दक्खिनी हिन्दी' ही कहना अधिक न्यायसंगत है, दक्खिनी उर्दू नहीं। परोक्ष रूप से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'क़दीम उर्दू' या 'प्राचीन उर्दू' जैसे नामों में विशेष बल नहीं है। लेखक के मत से ही सहमत होकर हम आशा करते हैं कि यह साहित्य शीघ्र ही नागरी अक्षरों में कर लिया जायगा।[1]

---

1. **लेखक—डॉक्टर बाबूराम सक्सेना। प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परशुराम चतुर्वेदी

साहित्य-शास्त्र की तुलनात्मक विवेचना और इतिहास

हिन्दी में आलोचना-साहित्य के सृजन की ओर किये गए विविध प्रयत्नों के इधर अनेक उदाहरण मिलने लगे हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी एवं निबन्ध से लेकर साधारण वाङ्मय के अन्य अंगों की भी आलोचनाएँ होती जा रही हैं। किन्तु इस विषय की जो पुस्तकें लिखी जाती हैं वे अधिकतर विद्यार्थियों के ही काम की होती हैं और उनमें उच्च स्तर की बातों का समावेश प्रायः नहीं रहा करता। जिस किसी ऐसी पुस्तक में विभिन्न कवियों अथवा लेखकों की कृतियों की चर्चा की गई मिलती है उसमें मानो उनका ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक परिचय रहा करता है अथवा उसमें परम्परागत साहित्य-पद्धति के नियमानुसार किये गए मूल्यांकन का एक प्रयत्न-मात्र दीख पड़ता है। इसके सिवाय जो पुस्तकें आजकल आलोचना के विषय का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करती हुई जान पड़ती हैं उनमें भी अभी तक प्राचीन भारतीय अथवा आधुनिक यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के अंगों का केवल परिशीलन-मात्र ही लक्षित होता है—उनके तुलनात्मक अध्ययन अथवा साहित्य-सम्बन्धी मौलिक प्रश्नों पर किये गए सुलझे विचारों का प्रायः अभाव-सा ही दीख पड़ता है। इस उद्देश्य से लिखे गए कतिपय निबन्ध अवश्य प्रकाशित होते रहे हैं, किन्तु अभी तक उनकी भी संख्या पर्याप्त नहीं कही जा सकती। फलतः आलोचना के सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक पक्षों में से अभी तक किसी एक पर भी हिन्दी में गवेषणापूर्ण एवं मौलिक कृतियों की रचना होती नहीं दीख पड़ती। श्री एस० पी० खत्री की आलोच्य पुस्तक आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष-विषयक हमारे साहित्य की इस कमी को दूर करने के ही प्रयत्न में लिखी जान पड़ती है।

प्रस्तुत पुस्तक को इसके नामानुसार दो खण्डों में विभाजित करके लिखा गया है और इन में से पहले का सम्बन्ध आलोचना के सिद्धान्तों के आरम्भ एवं क्रमिक विकास से है और दूसरे के अन्तर्गत उनके शास्त्रीय निरूपण तथा प्रतिपादन की चेष्टा की गई है। प्रथम खण्ड में ९ प्रकरण हैं और द्वितीय खण्ड में केवल ५ हैं। प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण का आरम्भ प्राचीन आलोचना के समय को तीन कालों में विभाजित करके किया गया है जिनमें से पहले का सम्बन्ध ईसा के पूर्व वाली पाँचवीं एवं चौथी शताब्दियों से है, दूसरे में तीसरी एवं दूसरी शताब्दियों की बातें आती हैं और, इसी प्रकार, तीसरा इसके आगे वाले उन दो सौ वर्षों तक चला जाता है जब कि यूनान एवं रोम के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का आरम्भ होने लगा था। इनमें से प्रथम काल में ही हमें यूनानियों की आलोचना-विषयक प्रतिभा के प्रथम दर्शन हुए और तीसरे काल तक इस प्रकार के साहित्य-सृजन में रोम वालों ने भी अपना हाथ बटाया। लेखक ने प्रथम खण्ड के द्वितीय प्रकरण में काव्यादर्श एवं काव्य-शैली की तत्कालीन प्रेरणाओं तथा प्रवृत्तियों की चर्चा की है और ऐसा करते समय उसने उक्त समय की प्रचलित निर्णयात्मक आलोचना की एक संक्षिप्त कहानी भी दे दी है। इसके तीसरे प्रकरण में अफलातून तथा अरस्तू के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का परिचय किंचित् विस्तार के साथ दिया गया है और फिर, इसी प्रकार, चौथे एवं पाँचवें प्रकरणों तक भाषण-कला, नाट्य-कला एवं गद्य-शैली के विकास तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्दों एवं अलंकारों के प्रारम्भिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया गया है। पाँचवें प्रकरण में लेखक ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि ईसा के प्राविर्भाव-काल से पीछे तक वस्तुतः यूनानी दार्शनिकों के ही सिद्धान्तों का अधिक प्रचार होता रहा। रोम वालों की देन उतनी बड़ी नहीं रही।

इस खण्ड के छठे प्रकरण के अन्तर्गत लेखक ने भारतीय आलोचना-विषयक सिद्धान्तों के भी आरम्भ एवं विकास की चर्चा की है, किन्तु यह उतनी विस्तृत नहीं है। यहाँ की प्राचीन-कालीन विचार-धारा के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में निश्चित संकेतों के न रहने के कारण, स्वभावतः, भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से ही इस विषय के वर्णन का प्रयत्न लेखक ने किया है और फिर इसके आगे क्रमशः रस-शास्त्र, अलंकार, परम्परा, रीति एवं ध्वनि का प्रसंग छेड़ा है। लेखक ने इन सम्प्रदायों की स्थापनाओं का केवल सांकेतिक परिचय ही दिया है और सबके अंत में वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रायः सहस्रवर्षीय साधना का भी स्वरूप प्रधानतः वही रहा जिस पर पश्चिमी साहित्यिकों ने भी विचार किया था।

प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत लेखक ने सोलहवीं शताब्दी तथा सत्रहवीं के प्रथम चरण तक दीख पड़ने वाले साहित्यिक नवोत्साह और तज्जन्य आलोचना के विकास का वर्णन यूरोप की तत्कालीन सामाजिक स्थिति के ही आधार पर किया है। उसने, इसी प्रकार, आठवें प्रकरण में भी सत्रहवीं शताब्दी के शेष अंश एवं अठारहवीं के भीतर पाई जाने वाली नवीन साहित्यिक प्रेरणाओं का उल्लेख किया है। इस युग में वीर-काव्य, उपहास-काव्य, गीति-काव्य तथा प्राचीन एवं नवीन नाटक-रचना-शैलियों का विशेष प्रचार था और प्राचीन आलोचना-शैली अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी, निर्णयात्मक समालोचना के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति भी इस युग में विशेष रूप से लक्षित हुई। उन्नीसवीं शताब्दी तथा उसके आगे की प्रवृत्तियों की चर्चा इस खण्ड के नवें प्रकरण में की गई है और इसीमें पत्रकार-कला के उदय तथा विभिन्न आलोचना-पद्धतियों का भी वर्णन है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में जो पाँच प्रकरण हैं उनमें से पहले में लेखक ने आलोचना-सम्बन्धी सिद्धान्तों के निर्माण का आधार निरूपित किया है। इस सम्बन्ध में उसने आलोचना की प्रवृत्ति की व्यापकता की ओर संकेत किया है, उसके साहित्यिक रूप के क्षेत्र का परिचय दिया है और इसके साथ ही आलोचक एवं साहित्यकार के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में निर्णय करते हुए कला के लक्ष्य, भाषा, छंद एवं अलंकार के प्रयोग तथा सौन्दर्यानुभूति की क्षमता आदि का भी विवेचन किया है। इस खण्ड के दूसरे प्रकरण में लेखक ने आलोचना-प्रणालियों के वर्गीकरण का प्रश्न उठाया है और इसी प्रसंग में 'आलोचना' शब्द के विभिन्न अर्थों की भी चर्चा की है। तृतीय प्रकरण में आलोचना के वर्गीकरण का प्रयत्न भी किया गया है और इस सम्बन्ध में प्रायः उन सभी वादों के नाम लिये गए हैं जो आजकल प्रचलित दीखते हैं। प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति का वर्णन लेखक ने कुछ विस्तार के साथ इस खण्ड के चतुर्थ प्रकरण में किया है। इसमें मार्क्सवादी आदर्श का परिचय देते हुए उसके अनुकूल साहित्य की रचना एवं तत्सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख किया गया है और उसके उपयुक्त मानदण्ड की भी कल्पना की गई है। इस खण्ड के अन्तिम अर्थात् पांचवें प्रकरण का शीर्षक 'उपसंहार तथा परिभाषाएँ' दिया गया है और इसके अन्तर्गत लेखक ने आलोचकों के लिए वस्तुतः पथनिर्देश किया है। इसके पूर्वार्द्ध में उसने आलोचकों की योग्यता, उनकी कार्य-प्रणाली एवं उत्तरदायित्व आदि के सम्बन्ध में कतिपय संकेत किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और इसके उत्तरार्द्ध वाले अंश में यूरोप के प्रमुख कवियों और आलोचकों द्वारा दी गई आलोचना की परिभाषाओं को उद्धृत करके उनकी व्याख्या भी कर देने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक के दोनों खण्डों के विस्तार का अनुपात प्रायः दो तिहाई एवं एक तिहाई का है, जिससे स्पष्ट है कि लेखक ने आलोचना के ऐतिहासिक परिचय को अधिक महत्त्व दिया है और इसके सिद्धान्त एवं कार्य-प्रणाली को इसकी प्रवृत्ति के उद्गम एवं विकास के ही वर्णन द्वारा स्पष्ट करने की उसने अधिक चेष्टा की है, फिर भी इसके ऐतिहासिक परिचय के अन्तर्गत उसने जितना ध्यान यूरोपीय आलोचना-पद्धति की ओर दिया है उतना भारतीय आलोचनात्मक सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया है और न उसके विभिन्न सम्प्रदायों के विकास का कोई संक्षिप्त उल्लेख भी किया है। पुस्तक के प्रथम खण्ड के छठे प्रकरण में जहाँ इस विषय की चर्चा आई है, वहाँ लेखक ने इसके प्रायः सभी उल्लेखनीय प्रश्नों को छोड़कर उन्हें चलता कर दिया है। यहाँ पर यदि भारतीय काव्यादर्श तथा रस जैसे विषयों का विस्तृत परिचय उनके विकास-क्रमानुसार दे दिया गया होता तो अधिक अच्छा था। यूरोपीय एवं भारतीय आलोचना-सिद्धान्तों के कई विषय यहाँ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भी स्पष्ट किये जा सकते थे। इह खण्ड में लेखक ने उन सभी प्रमुख आलोचकों के भी नाम नहीं लिये हैं जिनके सिद्धान्तों का उसने विवेचन किया है। अच्छा होता यदि आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास पर पृथक्-पृथक् तथा अधिक स्पष्ट शब्दों में विचार किया गया होता, जिससे उनके उद्देश्य-विशेष, निर्दिष्ट सीमा तथा वास्तविक देन पर पूरा प्रकाश पड़ता और उनकी पारस्परिक तुलना में पर्याप्त सहायता भी मिलती।

लेखक ने सिद्धान्त वाले द्वितीय खण्ड में जो आलोचना के वर्गीकरण-सम्बन्धी प्रश्न उठाये हैं उनका भी उसने कोई सन्तोषप्रद समाधान नहीं किया है और इस प्रक्रिया का आधार केवल प्रचलित प्रणालियों के अस्तित्व को ही मानकर उनका समाधान कर लिया है। इस प्रकार की समस्या को उठाते समय लेखक का ध्यान आलोचना की दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि की ओर जाना चाहता था। साहित्य यदि सचमुच मानव-जीवन-सम्बन्धी तत्त्वों की अभिव्यक्ति है तो उसकी आलोचना को भी उसका रूप अनिवार्यतः ग्रहण करना पड़ेगा और उन दोनों की सजातीयता ही हमें उनके लिए दार्शनिक आधारों को ढूँढ़ निकालने के लिए भी प्रेरित करेगी। इसके सिवाय आलोचना की विविध प्रणालियों के स्वाभाविक वर्गीकरण की समस्या को इस एक साधारण संकेत के आधार पर भी हल कर सकते हैं कि आलोचक की वास्तविक मनःस्थिति क्या है और किस आदर्श-विशेष को अपने सामने रखकर वह इस कार्य में प्रवृत्त होता है। जिन आलोचना-प्रणालियों के नाम लेखक ने इस खण्ड के तृतीय प्रकरण में गिनाये हैं उनमें से प्रायः सभी पर विचार केवल इस एक आधार पर भी किया जा सकता है और उसकी संख्या को इस प्रकार बहुत-कुछ कम भी किया जा सकता है। इन प्रणालियों में से एकाध अन्य पर भी प्रगतिवादी आलोचना की भाँति, अधिक विस्तृत विचार किया जा सकता था। फिर भी जिन दो-चार बातों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उनके कारण आलोच्य पुस्तक की उपयोगिता में कमी नहीं आती। हिन्दी की वर्तमान आलोचना-पद्धति यूरोपीय आलोचना-सिद्धान्तों द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होती जा रही है और दोनों परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन एवं विवेचना पर ही हमारे भावी आलोचना-सम्बन्धी आदर्शों के निर्मित होने की सम्भावना है। ऐसी दशा में भी खत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी द्वारा इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया अध्ययन अवश्य उपादेय कहा जा सकता है।[1]

डॉक्टर शैलकुमारी

मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ

यद्यपि 'स्त्री-कवि-कौमुदी', 'हिन्दी की कलामयी तारिकाएँ', 'हिन्दी काव्य की कोकिलाएँ' आदि के रूप में कवयित्रियों के अध्ययन पहले भी किये गए हैं, किन्तु डॉ० सावित्री सिनहा द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। विदुषी लेखिका के प्रयास से न केवल कुछ अज्ञात कवयित्रियों के नाम सामने आये हैं वरन् कुछ नवीन तथ्य भी प्रकाश में आये हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि '**नारी द्वारा प्रबन्ध-काव्य-रचना का अपवाद प्राचीन काल की नारी की अचेतनावस्था के साहित्य से लेकर वर्तमान युग की जाग्रति तक नहीं मिलता। काव्य की रचना स्त्री ने आत्माभिव्यक्ति के लिए ही अधिक की है, अतः कहानी इत्यादि कहने के लिए उसने काव्य-रचना नहीं की।**' इससे एक शाश्वत सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक सत्य की पुष्टि तो होती ही है, साथ ही प्रसंगवश हम यह भी अनुभव करते हैं कि हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मुक्तक तथा गीति-काव्यों के क्षेत्र में स्त्री कवियों की कितनी प्रचुर देन रही है।

प्रस्तुत पुस्तक बाह्य तथा अन्तर में यद्यपि बहुत आकर्षक है, फिर भी कई स्थलों पर हमारी आशा को पूर्ण करने में असमर्थ रही है। पहली बात तो यह है कि लेखिका ने कहीं भी अपने अध्ययन की काल-सीमा का निर्देश नहीं किया है। यद्यपि शुक्लजी के काल-विभाजन के पश्चात् मध्यकाल की सीमाएँ सर्वथा अज्ञात नहीं रह गई हैं (और मेरा खयाल है लेखिका भी उन्हीं शताब्दियों को लेकर चली हैं) तो भी खोज की वैज्ञानिकता की दृष्टि से तथा स्त्री-कवियों के मध्य-भाव, भाषा तथा शैली के परिवर्तन तथा विकास की दृष्टि से काल-निर्देश का अभाव खटकता है। इसी से मिली-जुली एक कठिनाई और भी है। लेखिका ने मध्य-युग की कवयित्रियों को छः वर्गों में विभाजित किया है। किन्तु वर्गीकरण बहुत स्पष्ट नहीं है। पहला वर्ग भाषा के अनुसार बनाया गया है, बीच के चार विचार-धारा के अनुसार हैं और अन्तिम वर्ग शैली के आधार से है। इसमें बहुत-कुछ पारस्परिक सीमातिक्रमण की सम्भावना है। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि डिंगल-काव्य की रचयिताओं में एक ओर नाथ-भक्त कवयित्रियाँ दिखाई पड़ती हैं जो सम्भवतः कृष्ण-काव्य-धारा की कवयित्रियों के साथ आसानी से बैठाई जा सकती थीं, तथा दूसरी ओर चम्पादे रानी तथा हरिजी वानी, चावड़ो जी आदि को, यद्यपि रीतिकाल के शास्त्रीय शृङ्गार-काव्य के अन्तर्गत नहीं, तो भी, शृङ्गार-काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता था। आगे चलकर हम देखते हैं कि निर्गुणोपासक प्राणनाथ की पत्नी इन्द्रामती अपने पति के सम्प्रदाय

---

१. **आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, लेखक—डॉ० एस० पी० खत्री, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में दीक्षित होते हुए भी 'किताब जबूर' में वैष्णव मत की विवेचना करती हैं तथा 'श्री भाग[वत]सार' और 'रामत रहस्य' नामक 'वैष्णव' भक्ति-भावनापूर्ण ग्रन्थों की रचना करती हैं, [फि]र भी उन्हें निर्गुण धारा की कवयित्रियों के साथ रखा गया है। हम यह नहीं कह सकते [कि] इन्द्रामन्ती ने अपनी साम्प्रदायिक हठ को तोड़कर कोई ग़लत काम किया। इसके विप[रीत] सांस्कृतिक दृष्टि से तो इसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानना चाहिए। इन्द्रामती ने स[गुण] और निर्गुण सम्प्रदायों की दीवार को ही नहीं वरन् हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच के [भेद] को भी दूर करने का प्रयास किया। जिस प्रकार दाराशिकोह ने 'मजमा-उल-बहरैं' में हि[न्दू] धर्म तथा इस्लाम की तुलना करते हुए तथा दोनों के साम्य को प्रकाश में लाते हुए दो विरो[धी] दलों के विद्वेष को मिटाने की कोशिश की थी, वैसे ही इन्द्रामती ने भी 'सनंधे', 'खुला[सा] फुरमान', 'खिलवत', 'परिक्रमा' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना करके अभूतपूर्व विद्व[त्ता] का तो परिचय किया ही, साथ ही एक महान् सन्देश को भी समाज के सामने रखा। किन्तु इनकी इस प्रवृत्ति के पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ थीं, किस भूमि में यह वृक्ष पल्लवित हुआ था—इसे लेखिका ने स्पष्ट नहीं किया। यों इस्लाम के सिद्धान्तों का विवेचन निर्गुण सन्तों के लिए इत[ना] अनोखा नहीं है, किन्तु वैष्णव रागात्मिका भक्ति तथा अनन्य समर्पण की भावना को अपना[ते] भी अन्य निर्गुण सन्तों ने कृष्ण या राम की लीलाओं का वर्णन अथवा, राधा-कृष्ण के शृङ्[गार] का चित्रण सर्वथा त्याज्य समझा था। देखना था कि सन्तों की यह प्रवृत्ति पुरुष निर्गुणोपास[कों] तक ही सीमित है अथवा स्त्री कवियों में भी पाई जाती है, यदि नहीं (जैसा कि हम प्रस्तुत उदाहर[ण] में देखते हैं), तो क्यों? साथ ही लेखिका ने यदि सम्प्रदायों के आधार पर मध्ययुगीन स[न्त] कवियों का विभाजन किया होता, उनकी दार्शनिक भावभूमि को स्पष्ट किया होता, तथा पु[रुष] कवियों की तुलना में उनके अन्तर तथा मौलिकता को स्पष्ट शब्दों में सामने रखा होता तो स[ारी] चीज अधिक सुन्दर और विश्लेषणात्मक होकर हमारे सामने आती, और हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्त्रियों की विशिष्ट देन का मूल्यांकन ठीक-ठीक कर पाते। जब पार्वती कहती है "वि[...] न राखै कामिनी पास" तो हम स्वभावतः जानना चाहते हैं कि क्या पुरुष कवियों और स्[त्री] कवियों की धारणाओं में कोई भेद नहीं था, क्या स्त्रियों ने धार्मिक काव्य के क्षेत्र में कोई न[या] परिच्छेद नहीं जोड़ा?

एक बात सामग्री के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यद्यपि इस विषय की विशेषज्ञ[ता] के अभाव में बहुत अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका ने समस्त सामग्री का उपयोग नहीं कर पाया है। कबीर पंथी माई शाखा में, बाव[री] सम्प्रदाय में तथा उदासी सम्प्रदाय में कुछ संत कवयित्रियाँ अवश्य रही होंगी। उदासी सम्प्रदा[य] की सुवचना दासी का नाम तो प्रसिद्ध ही है और दादू की भी एक शिष्या का उल्लेख कि[या] जाता है। इसी प्रकार सम्भवतः वृन्दावन के कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों में भी दीक्षित कुछ भक्[त] कवयित्रियाँ अवश्य रही होंगी। इस सम्बन्ध में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता जा[न] पड़ती है।

अन्त में एक शब्द 'नारी कवि', 'नारी की सामाजिक स्थिति' तथा 'नारी भावना'—इन तीन वाक्यांशों के भेद को स्पष्ट करने के लिए कहना है। वास्तव में ये तीन अलग-अलग अर्थ-व्यंजक अभिव्यक्तियाँ हैं; किन्तु अक्सर होता यह है लोग 'नारी' शब्द-मात्र को इन तीनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रयुक्त पाकर उन्हें एक ही अर्थ का द्योतक समझ बैठते हैं और प्रायः एक आयतन से दूसरे में संक्रमण कर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यदि हमें 'नारी कवियों' अथवा 'नारी भावना' को देखना है तो उसकी भूमिका रूप में 'नारी की सामाजिक स्थिति' को नहीं देखेंगे। यह तो आवश्यक ही होगा; किन्तु 'नारी कवियों' पर विचार करते हुए साहित्यगत 'नारी-भावना' पर प्रकाश डालना असंगत-सा है। प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे परिच्छेद का शीर्षक है 'हिन्दी पूर्वकाल में नारी'। प्रसंगानुसार हम इस शीर्षक से यही अनुमान लगाते हैं कि हिन्दी में साहित्य-सृजन प्रारम्भ होने से पूर्व साहित्य-रचना के क्षेत्र में नारी का क्या और कैसा हाथ था, इस परम्परा को लेखिका ने देखा होगा। किन्तु जब हम परिच्छेद के अन्तरंग में प्रवेश करते हैं तो लगता है कि लेखिका अपने विषय को भूलकर 'नारी-भावना' के आयतन में फिसल गई हैं और साथ ही ऋग्वेद के समय से लेकर हर्ष के समय तक की नारी की सामाजिक स्थिति के ऊहापोह पर प्रकाश डालने लगी हैं। यह एक प्रकार से अप्रासंगिक ही है। अच्छा होता यदि लेखिका मीरा, सहजो, इन्द्रामती, ताज और प्रवीणराय की परम्परा को अपाला, घोषा, शीला, विज्जा, इन्दुलेखा, थेरियो आदि की शृङ्खला से सूत्रबद्ध करने का प्रयास करतीं। मध्ययुगीन कवयित्रियों का अध्ययन होने के नाते समाज में नारी की स्थिति, उसके अधिकार तथा शिक्षा के अवकाश आदि पर प्रकाश डालना आवश्यक है। लेखिका ने इस विषय को तीन स्थलों पर उठाया है—प्रथम, तीसरे परिच्छेद के आरम्भ में, दूसरी बार तीसरे परिच्छेद के अन्त में और तीसरी बार सातवें परिच्छेद के आरम्भ में (यद्यपि अन्य स्थलों के समान यहाँ शीर्षक द्वारा निर्देश नहीं है)। कहना अत्युक्ति न होगी कि इन परिचयों में वाञ्छनीय गहराई तथा प्रमाणों की कमी है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उससे कृति का महत्त्व घटा हो ऐसी बात नहीं है। अत्यन्त रोचक ढंग से आलोचनात्मक दृष्टिकोण की सजगता के साथ रची गई यह कृति कठिन परिश्रम का फल होगी, इसमें सन्देह नहीं। इसके सभी अध्याय खोजपूर्ण हैं तथा मर्मज्ञता के परिचायक हैं। लेखिका ने इस क्षेत्र को अपनी खोज का विषय बनाकर हिन्दी-साहित्य-संसार के एक अभाव की पूर्ति की है।[1]

राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश

निराशावादी यथार्थ और कल की आशा

"यह परेड ग्राउण्ड", अब्दुल समद ने होंठ भींचकर और धरती पर ज़ोर से हाथ पटकते हुए कहा—"मुहताजों और दुखियों की पनाहगाह है।"

---

१. लेखिका—डॉक्टर सावित्री सिनहा, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच पूछा जाय तो यह एक वाक्य ही उपन्यास की कथा है, विषय है तथा समस्या है। देहली की जामा मस्जिद और किले के बीच में, अन्य आबाद इमारतों से घिरा यह मैदान भी उतना ही अपाहिज और फकीर है जितने इसमें रहने वाले; और इन दोनों को पहेली, प्रश्न और समस्या का रूप देकर लेखक ने इस उपन्यास की सृष्टि की है। उपन्यास न कहकर इसे कुछ फ़क़ीरों के संस्मरण, भेंटें, प्रभाव और वर्णन कहा जाय, जो एक जगह इकट्ठे हो गए हैं—उधर यही सब परेड ग्राउण्ड के भौतिक रूप को बनाते हैं—यहाँ उसके साहित्यिक रूप को। यह साहित्यिक रूप समस्या और वस्तु-स्थिति की सत्यता के बावजूद भी उतना ही अनगढ़, असमतल और अनफिनिश है और किसी अच्छे उपन्यास के लिए 'कच्चा माल'-सा लगता है। वह उपन्यास न होकर एक अच्छा रिपोर्ताज ही अधिक है।

परेड ग्राउण्ड में अपनी-अपनी झोंपड़ियों, खाटों या यों ही खुले आसमान के नीचे बसे मुसलमान फ़क़ीरों के विभिन्न परिवारों—अब्दुल समद, जमाल, मरियम, इब्राहीम, झुनियाँ—में कौशल घुलता-मिलता है—उनसे बातें करता है और सहानुभूति रखता है। वह सभी जगह इतना निर्बाध और निर्विरोध घूमता है; जिससे चाहे उससे ऐसे मिलता है जैसे वह सशरीर व्यक्ति न होकर एक छाया-मात्र है (उपन्यास से ही कोई नाम लेना हो तो कहा जा सकता है, प्रेत है)। बहुत सम्भव है उसे इब्राहीम-जैसे किसी 'पीर' से ऐसी 'सिद्धि' मिल गई हो। **"झुनियाँ, अब्दुल समद, उसका साथी और बड़ी बी सब बुझारतें हैं। समय उनकी उपेक्षा करता है..... कोई उन्हें समझने-बूझने की कोशिश नहीं करता।"** और कौशल वह दिमाग है जो इन्हें समझने के लिए मँडराता है।

समाज के कुछ अंगों ने काम करना बन्द कर दिया है, उनमें से एक अंग यह भी है—वह पक्षाघात-ग्रस्त अंग है। वह करता कुछ नहीं है—लेकिन इस परोपजीविता के अस्तित्व को दुआओं और चमत्कारों से बनाये रखना चाहता है—'परेड ग्राउण्ड' इस समस्या की ओर बौद्धिक एप्रोच है, निष्क्रिय सहानुभूति अर्थात् उत्तरहीन प्रश्न है, जो दृश्य का चिन्तन बनकर रह गया है। फलस्वरूप फ़क़ीर कैसे खाते, रहते, बातें करते या लड़ते हैं—इन सभी के अच्छे, सच्चे और ईमानदार 'स्टिल' के अतिरिक्त जो भी कुछ है वह ऊपर से लपेटे हुए डोरे या गिलाफ की तरह ही है। हो सकता है दोनों ही एक ही समस्या के दो रूप हों और दोनों अपनी-अपनी जगह सच हों—लेकिन एक-दूसरे के बीच में इतना अन्तराल है कि बहुत से लोगों को तो शायद यह विश्वास ही न आए कि वे सगे भाई भी हैं। यह कलाहीनता जितनी रहबर की असफलता है—उतनी ही आज के समाजद्रष्टा लेखक की विवशता भी। वह ईमानदार भी है और आशावादी भी, लेकिन ईमानदारी उसे प्रकृतिवादी बना देती है, वह दृश्यों का फ़ोटोग्राफ़र बनकर रह जाता है; दूसरी ओर आशावाद उसे उपदेशक और 'प्रोफ़ेट' बना डालता है। यह 'गैप' या अन्तराल आज के हर लेखक में प्रायः मिल जाता है—उस समय लगता है कि क्या सचमुच आज के उपन्यासकार की दृष्टि और सृष्टि प्रेमचन्द की 'आश्रयवादी' रचनाओं से आगे नहीं बढ़ी! उपन्यासकार का 'शिवनेत्र' केवल भविष्य को ही देख पाता है—भूत, भविष्य और वर्तमान के स्वाभाविक, वैज्ञानिक क्रम को क्यों नहीं अपनी तीव्र किरणों से प्रकाश में ला पाता! शिवनेत्र की मर्मभेदी दृष्टि, तीव्रता और शक्ति में हमें अविश्वास नहीं है—लेकिन उसकी व्यापकता अभी पकड़ में नहीं आ पाई है। वह एक निगाह में वर्तमान को देखती है और उसके सूक्ष्म-से-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूक्ष्म रगरेशों को 'एनलार्ज' कर देती है; दूसरी निगाह में भविष्य पर जा पड़ती है।

कलावादियों को छोड़ दिया जाय तो ऐसा लगता है कि नागार्जुन को छोड़कर परेड ग्राउण्ड की असफलता आज के हर लेखक की सीमा है।

भाषा के मामले में श्री रहबर प्रशंसा और छूट दोनों के इसलिए अधिकारी हैं कि उर्दू से हिन्दी में आये हैं।[1]

यह हरिशंकर पारसाई का पहला कहानी-संग्रह है। संग्रह की अधिकांश कहानियाँ निम्न मध्यवर्ग के जीवन को लेकर लिखी गई हैं। कुछ कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं। भूमिका में लेखक ने कहा है कि उसने मनुष्य को जैसे हँसते और रोते देखा है, वैसे ही अपनी कहानियों में चित्रित किया है। परन्तु कहानियों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उसने मनुष्य को केवल रोते देखा है, हँसते नहीं देखा। हाँ, मनुष्य की परिस्थितियों के वैषम्य में उसने पशु को हँसते देखा है। उसे उसने अपने वर्ग के मनुष्य से अधिक सशक्त और प्रसन्न पाया है—यहाँ तक कि उसके प्रति वह उस वर्ग के मनुष्य की स्पर्द्धा जगाना चाहता है। 'मैं नरक से बोल रहा हूँ' शीर्षक कहानी में इस भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु न जाने क्यों लेखक ने जगह-जगह इस भाव को दोहराना उचित समझा है। इसमें जहाँ पुनरुक्ति दोष दिखाई देता है, वहाँ साथ ही लेखक की अपरिपक्वता का आभास भी मिलता है।

प्रभाव की दृष्टि से इस संग्रह की सबसे सफल कहानी है: 'सेवा का शौक'। इस कहानी का मुख्य पात्र है एक सोलह-सत्रह वर्ष का बाल-नवयुवक, जिसे मैट्रिक करते ही एक गांव के स्कूल की मास्टरी करनी पड़ती है। अपनी निर्धनता और उससे उत्पन्न हीनमन्यता से दबा यह अकालप्रौढ़ शिक्षक, अपने वय की अपेक्षाओं को दबाये हुए, किसी तरह इस कार्य का निर्वहण किये जाता है। पारिवारिक परिस्थितियाँ उसकी विवशता बनकर उसे घेरे हुए हैं। ऐसे में एक शिक्षा-शास्त्री, जो उस स्कूल के संचालक के सम्बन्धी हैं, वहाँ आते हैं और स्कूल का निरीक्षण करते हैं। उन्हें उसकी पढ़ाने की शैली पसन्द नहीं आती। वे चाहते हैं कि वह शिक्षा-शास्त्र की अपेक्षाओं के अनुसार प्रसन्न भाव से बच्चों को पढ़ाया करे। और जब इस दृष्टि से उसकी परीक्षा होने लगती है, तो वह पढ़ाते-पढ़ाते रो देता है····। कहानी की अन्तिम तीन पंक्तियों में प्रकट की गई भावुकता कहानी के प्रभाव में कुछ बाधा डालती है। अच्छा होता यदि लेखक इन पंक्तियों को लिखने के मोह का संवरण कर सका होता।

इस संग्रह की दूसरी सफल कहानी है—'भीतर का घाव', यद्यपि कहानी के वस्तु-संघटन में कुछ शिथिलता आ गई है। कहानी का केन्द्रबिन्दु वही है जो अश्क के एकांकी नाटक 'लक्ष्मी का स्वागत' का है। फिर भी कहानी हृदय-स्पर्शी है और कहानी की अन्तिम पंक्ति में एक आवेश है, जो हृदय पर चोट करता है। निम्न मध्यवर्गीय नैतिकता का जो कुरूप चित्र इस कहानी में दिया गया है, वह इतना परिचित है कि उसके पुनः सामने आने पर 'पुनः' का भाव गौण हो जाता है और उसकी कुरूपता की ही छाप मस्तिष्क पर रह जाती है।

कुछ कहानियों में लेखक ने शैली के नये प्रयोग किये हैं। इन कहानियों में शैली का

१. 'परेड ग्राउण्ड,' लेखक—हंसराज 'रहबर', प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग ही उसका उद्देश्य जान पड़ता है। वस्तु के गौण हो जाने और प्रयोग की अपरिपक्वता के उभर आने से ये कहानियाँ बहुत हल्की पड़ गई हैं। 'रमता जोगी हूँ', 'सुधार', और 'जीवन की कहानी' इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं। 'क्या कहा' और 'साड़ी का रंग' ये अन्त को दृष्टि में रखकर लिखी गई कहानियाँ हैं। ऐसी कहानियों में शिल्प पर जिस अधिकार की अपेक्षा होती है, उसके अभाव में ये कहानियाँ अपेक्षित चमत्कार की सृष्टि तो कर नहीं पातीं, और अन्य किसी वस्तु या निरीक्षणगत विशेषता के अभाव में कोरा प्रयास ही होती हैं। 'क्या कहा' शीर्षक कहानी की संघटन-शिथिलता इस बात में भी है कि लेखक ने पाँच पात्रों को एक कमरे में बैठाया है, जिनकी संख्या कहानी का अन्त आने तक अनजाने ही छः हो जाती है। वहाँ उसने निर्मला और शीला के अतिरिक्त चार नाम और गिनाए हैं। ऐसी कहानियों से, निःसन्देह, एक संग्रह का मूल्य बहुत कम हो जाता है।

साधारणतया संग्रह की सभी कहानियों में पराजित मनोवृत्ति की छाप स्पष्ट झलकती है। 'मैं', जो संग्रह की अधिकांश कहानियों का मुख्य पात्र है, एक ऐसा व्यक्ति प्रतीत होता है, जो अपने चारों ओर के वातावरण से निराश होकर हर ओर नकारात्मक भाव से सिर हिला रहा हो। भिन्न-भिन्न नाम और छद्म होते हुए भी उसका अन्तर्व्यक्तित्व एक है। वह मनुष्य में साहस के संचार की कामना करता है, पर मनुष्य को देने के लिए कोई संकेत उसके पास नहीं है। विश्वास भी उसके पास नहीं है। इस तरह, संग्रह की भूमिका को पढ़कर लेखक के जिस दृष्टिकोण की कल्पना मस्तिष्क में बन आती है, वह दृष्टिकोण कहानियों में व्याप्त नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने भूमिका के रूप में जो कुछ लिखा है, वह वाक्य-रचना के मोह में पड़कर ही—अनुभूति के आधार पर नहीं। अन्यथा, 'पड़ोसी के बच्चे' और 'भूख का स्वर' जैसी कहानियों में जो चेहरे उसने देखे हैं, उसके अतिरिक्त मनुष्यों की भीड़ में उसे कुछ और भी चेहरे दिखाई देते—अबोध, चंचल, स्मयमान या आवेशयुक्त चेहरे। वह मनुष्य को अवसाद और प्रतारणा के अतिरिक्त और भी स्थितियों में देख पाता।

कहानियों की भाषा के विषय में भी कुछ कहना अपेक्षित है। लेखक ने कहा है कि उसने कहानियों में अपने बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से या स्थानीय रंग लाने के लिए क्षेत्र-विशेष के मुहाविरे का प्रयोग करना एक बात है। परन्तु बिना ऐसे किसी उद्देश्य के जब बोलचाल की भाषा के नाम पर कोई भाषा में अनगढ़ वाक्यों की भरमार कर देता है तो उसे केवल प्रयोग की दृष्टि से भी स्वीकार्य नहीं समझा जा सकता। "उन्हें क्या मालूम कि दवा अलमारी में पड़े-पड़े असर थोड़े ही कर सकती है," ऐसे-ऐसे वाक्य लेखक के भाषा पर ठीक अधिकार न रखने का ही परिचय देते हैं।[1]

---

१. 'हँसते हैं-रोते हैं', लेखक—हरिशंकर पारसाई, प्रकाशक—सुषमा साहित्य-मन्दिर, जबलपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षित

सन्त-काव्य का अध्ययन

सन्त-साहित्य की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग को है। इस प्रेस से सन् १९१५ में सर्वप्रथम 'सन्तबानी संग्रह' का प्रकाशन हुआ था। इन संग्रहों के द्वारा सन्तों के सन्देश और हृदयानुभूति को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया गया था। कालान्तर साहित्य की दृष्टि से भी इनका मूल्यांकन होना प्रारम्भ हुआ। सन्तों की बानियों के साहित्यिक महत्त्व और साहित्य को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करने की परम्परा का प्रारम्भ 'निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री,' से प्रारम्भ होता है। डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने अपनी सूझ और खोज के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि साहित्य के अन्य अंगों के सदृश सन्त-साहित्य का भी अपना महत्त्व और अपनी विशेषताएँ हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के इस प्रयास को सफल और सम्पन्न बनाने में महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया है। इन विद्वानों के चरण-चिह्नों को अपने मार्ग-प्रदर्शन का माध्यम मानकर अनेक व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। दरिया साहब, मलूकदास, सुन्दर दर्शन, चरनदास, रैदास, जगजीवन साहब और शिवनारायण साहब का अध्ययन इसी परम्परा में हुआ है। सन्तों के सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्त्व ने हिन्दी के विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।

'सन्त-काव्य' का स्मरण करते ही हमें 'सन्त-जीवन', सन्तों की 'रहनी', करनी, 'कथनी और करनी' का ध्यान होता है। यह सन्त-काव्य सन्त-जीवन का स्पष्ट और उपयोगी शब्द-चित्र है। सन्त-काव्य के अन्तर्गत सरल भाषा, सहज अनुभूतिपूर्ण उद्गाराभिव्यक्ति और जन-कल्याण की तीन विभिन्न धाराओं का सुन्दर समन्वय है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह विशाल, गौरव-सम्पन्न और प्रभावशाली है। सन्त-काव्य प्राणवान्, सबल और निर्दोष जीवन-दर्शन का प्रकाश-पुञ्ज है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'सन्त-काव्य' में इन्हीं विशेषताओं को प्रामाणिक रूप से जनता के समक्ष रखने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन और रचना का लक्ष्य श्री चतुर्वेदीजी से ही सुनिए : **"अपनी पुस्तक 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' की प्रस्तावना में मैंने कहा था कि उसका सम्बन्ध प्रधानतः सन्तों की परम्परा के ही परिचय से है, उनके मत एवं साहित्य का परिचय देने के लिए अन्य दो पुस्तकों की आवश्यकता होगी। इस विचार से मैं 'सन्त-साहित्य की रूपरेखा' नाम से एक पुस्तक लिखने की सामग्री एकत्र करने लगा था। सन्त-साहित्य में····हस्तलिखित पुस्तकों में से भी अनेक का दुष्प्राप्य होना तथा उपलब्ध प्रतियों का भी अधिकतर संदिग्ध पाठों के ही साथ मिलना इस प्रकार की बाधाएँ हैं, जिनके कारण विलम्ब होना अनिवार्य था।·······मुझे यह उपयोगी जान पड़ा कि सन्तों की काव्य-रचना-शैली का भी एक परिचय दे दिया जाय और इसके लिए उनकी पद्यात्मक रचनाओं में से कुछ को चुनकर तब एक छोटा-सा संग्रह प्रकाशित कर दिया जाय। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से किये गए प्रयत्न का फल है·········।"**

'सन्त-काव्य' के विषय का प्रसार और प्रतिपादन पाँच सौ अस्सी पृष्ठों में हुआ है। इस ग्रन्थ का विषय दो भागों में विभाजित है। प्रथम भूमिका-खण्ड और द्वितीय भाग संग्रह-कोष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जिसमें सन्तों की बानियों और विचार-रत्नों को बहुत ही सँजोकर रखा गया है। भूमिका में सन्त-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। विद्वान् आलोचक ने इस खण्ड में अपने विचारों का प्रकाशन 'काव्य-परिचय', 'हिन्दी-काव्य-धारा', 'सन्त-परम्परा', 'सन्त-मत', 'सन्त-साहित्य', 'सन्त-काव्य','काव्य का आदर्श', 'रहस्यवाद', 'दाम्पत्य-भाव', 'रस', 'अलंकार' 'उलटबासी', 'प्रकृति-चित्रण', 'संगीत-प्रेम', 'छन्द-प्रयोग', 'भाषा' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत किया है। इन शीर्षकों के अन्तर्गत आलोचक ने सन्त-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। लेखक का विशेष ध्यान संगृहीत पद्यों के सौन्दर्य और रचना-पद्धति पर केन्द्रित है। इस प्रसंग में ऐसे उदाहरणों के द्वारा स्वमत का समर्थन भी किया गया है, जिनका साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाता है। इस विवेचन से आलोचक का एक ही मत प्रतिभासित होता है कि **"सन्तों के अनुसार निश्चित काव्य के आदर्श, उनके संगीत-प्रेम, उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों की विविधता तथा उनकी भाषा के बहुरंगे प्रेमपन की भी चर्चा की गई है और यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार से वे इन सभी बातों के प्रति प्रायः उदासीन-से रहते आए हैं। काव्य के स्वरूप से कहीं अधिक ध्यान उन्होंने उसके विषय की ओर ही दिया था और उसे भी सदा अपने व्यक्तिगत रंग में ही रँगकर दिखलाया।"** इस प्रसंग के अन्तर्गत सन्त कवियों के काव्य-बहिरंग पर भी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। लेखक ने इन बानियों में सन्निहित सौन्दर्य, माधुर्य और मर्म-स्पर्शी उक्तियों को अनुभूति की कसौटी पर कसकर उन्हें समाज और धर्म के लिए समान रूप से उपयोगी प्रमाणित किया है। इस विषय में आलोचक का मत निष्कर्ष के रूप में पठनीय होगा। **"वास्तव में सन्त लोग साहित्यिक नहीं थे और न उनकी रचनाओं को साहित्यिक मानदण्ड के अनुसार परखना ही उचित है। उनकी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अनेक दोष मिल सकते हैं और उनके पद्यों में छन्दोनियम का पालन बहुत कम पाया जा सकता है। उनके साधना-सम्बन्धी विवरणों में नीरस पंक्तियों की ही भरमार दीख पड़ेगी और उनके उपदेशों में भी कोई आकर्षण नहीं जान पड़ेगा।"** इन पंक्तियों को पढ़ जाने के बाद पाठकों को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह स्थिति सभी सन्तों के साहित्य की नहीं है। सुन्दरदास सन्त-काव्य के श्रेष्ठ कवि हैं, गरीबदास और चरनदास के विषय में यही कह सकते हैं। दादू को भी सरलता के साथ इसी श्रेणी में गिना जा सकता है। इनके काव्य में दोष नहीं के बराबर हैं। सन्तों में बहुत-से ऐसे कवि हैं जिनका साहित्य श्रद्धालु भक्तों की स्मरण-शक्ति पर ही जीवन प्राप्त करता रहा है। इस दशा में छन्दोभंग, भाषा की अनेकरूपता और व्याकरण-विषयक भूलों के लिए ये सन्त कवि ही पूर्णतया उत्तरदायी नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्होंने काव्य की रचना सन्देश-प्रसार के लिए की थी, **'यशसेऽर्थकृते'** आदि लक्ष्यों से प्रेरित होकर नहीं। संगीत-प्रेम आदि की दृष्टि से सन्तों के साहित्य का अध्ययन शायद हिन्दी में सर्वप्रथम चतुर्वेदी जी द्वारा सम्पन्न हुआ है। सन्तों का रहस्यवाद बड़ा दुरूह विषय बना दिया गया है, यद्यपि वह था नहीं। रहस्यवाद की परिभाषाओं को आलोचकों ने और भी दुरूह और रहस्यपूर्ण बना दिया है। चतुर्वेदीजी ने अपनी सुलझी हुई विचार-धारा और सुसंस्कृत चिन्तन के कारण इसे बहुत सरल स्वरूप प्रदान किया है। मेरी दृष्टि से इस भूमिका-खण्ड का सबसे रोचक और महत्त्व-पूर्ण परिच्छेद है सन्तों की 'दाम्पत्य-भावना'। दाम्पत्य-भाव सन्तों का सबसे प्रिय प्रतीक था। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक का प्रयोग बड़ा प्राचीन है। उपनिषदों में भी इसके उदाहरणों का उल्लेख मिलता है। सन्तों में इसका प्रयोग सूफी प्रभाव का द्योतक है। प्रभावित होते हुए भी उनमें अपनी मौलिकता थी और उनमें भेद था। इस भेद को चतुर्वेदीजी ने बड़े स्पष्ट रूप से पृष्ठ उनसठ पर अंकित किया है। इसी प्रकार का सूक्ष्म चिन्तन 'रस' उपशीर्षक के अन्तर्गत उपलब्ध होता है।

भूमिका-खण्ड से आलोचक की सुस्पष्ट चिन्तन-धारा, सूक्ष्म पर्यालोचन और बात की तह तक पहुँचने की प्रवृत्ति का ज्ञान हो जाता है। भाषा प्रसंगों और विषयों के उपयुक्त है। सन्तों की पद्धति एवं सन्त-काव्य को समझने में प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका सहायक होगी। सन्तों की भाषा पर आलोचक ने बहुत संक्षेप में अपने मत को प्रकट किया है। कहना न होगा कि यह विषय विस्तार की अपेक्षा रखता है।

संग्रह-खण्ड में सन्त-काव्य के सड़सठ कवियों की बानियाँ और पद संग्रहीत हैं। इस संग्रह का काल-विभाजन चार युगों में किया गया है। प्रथम युग सं० १२०० से १५५० तक माना गया है। इसका नामकरण प्रारम्भिक युग है। इसके प्रमुख कवि हैं नामदेव, पीपा, रामानन्द, कबीर, रैदास, कमाल, धन्ना, त्रिलोचन, सेन आदि। उल्लेखनीय बात इस प्रसंग में यह है कि कमाल, धन्ना, वेणी, रामानन्द तथा सेन नाई आदि की रचनाएँ सामान्यतया कहीं उपलब्ध नहीं होती हैं। रामानन्द के सम्बन्ध में अयोध्या और फैजाबाद जिलों के अनेक भक्तों से कुछ छन्द सुने और पाये जाते हैं। पर उनकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध की जाय? रामानन्द की रचनाओं के सदृश ही वेणी, सेन, धन्ना आदि की रचनाएँ हैं जिन पर हमारा मन जमकर नहीं बैठता है। लेकिन प्रसन्नता की बात है कि चतुर्वेदीजी ने बड़े परिश्रम से उक्त कवियों की रचनाएँ संग्रहीत की हैं। यदि 'भूमिका' में इन कवियों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर भी विचार हो जाता तो और अच्छा होता। संग्रह का द्वितीय युग है संवत् १५५० से १७०० तक, जिसका नामकरण मध्ययुग (पूर्वार्द्ध) हुआ है। शेख फरीद, गुरु अङ्गद, अमरदास जी, रामदास जी, बावरीसाहिबा, आनन्दघन, गुरु तेगबहादुर, हरिदास, अर्जुनदेव, मलूकदास इस युग के उज्ज्वल रत्न हैं। इन सभी कवियों की रचनाएँ अन्यत्र प्रकाशित और संग्रहीत हैं। पर चतुर्वेदी जी को इस बात का श्रेय है कि इसमें उन्होंने प्रत्येक कवि की श्रेष्ठ साखियों का संकलन कर दिया है जो कवियों की आत्मा पहचानने में सहायक होती हैं। साथ ही विषय की दृष्टि से संकलन वैज्ञानिक और प्रत्येक दिशा में प्रकाश फैलाने वाला है। मध्ययुग का उत्तरार्द्ध सं० १७००-१८५० तक है। यह सन्त-काव्य का तृतीय युग है जिसके बाबालाल, तुरसीदास, रज्जबदास, गुरु गोविन्दसिंह, किनाराम, रामचरन, आदि कवियों की रचनाएँ बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होती हैं। चतुर्वेदीजी ने इनका संकलन मौलिक आधारों से किया है। इसके लिए उन्हें कितना भटकना पड़ा होगा यह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है। इन कवियों को सामने लाने का आवश्यक कार्य इस ग्रन्थ द्वारा सम्पन्न हुआ। ग्रन्थ का अन्तिम और चतुर्थ काल है आधुनिक युग; जिसका प्रारम्भ सं० १८५० से होता है। इसमें भी कुछ ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पहली बार हमारे सामने प्रामाणिक रूप से आ रही हैं; उदाहरणार्थ रामरटसदास, निश्चलदास तथा सन्त सालिगराम आदि। इस युग की सूची अत्यन्त संक्षिप्त है। आशा है भविष्य में यह संकलन और भी अधिक धनी बनेगा। इस संग्रह के विषय में चतुर्वेदीजी का कथन है कि **"सन्त-परम्परा के अन्तर्गत साधारणतः वे ही सन्त सम्मिलित किये जाते हैं, जिन्होंने कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पथ-प्रदर्शक माना है और उनमें ऐसे अन्य सन्तों की भी गणना कर ली जाती है जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों को किसी-न-किसी रूप में अपनाया। इसके सिवाय उसमें कभी-कभी ऐसे महात्माओं को भी स्थान दिया जाता है जो सूफी, वेदान्ती, सगुणोपासक, जैन वा नाथपन्थी समझे जाते हुए भी, अपने विचार-स्वातन्त्र्य एवं निरपेक्ष व्यवहार के कारण सन्तवत् माने जाते हैं। इस संग्रह में ऐसे सभी प्रकार के सन्तों की कुछ-न-कुछ बानियाँ संग्रहीत हैं। इनका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न युगों के आधार पर किया गया है और प्रत्येक युग की प्रवृत्ति-विशेष का परिचय देने के लिए उसके पहले सामान्य परिचय जोड़ दिया गया है।" इसमें सन्देह नहीं है कि संग्रह बड़े परिश्रम के साथ किया गया है और इतना सुन्दर सन्त-काव्य-संग्रह अभी तक हिन्दी में सम्पादित नहीं हुआ। एतदर्थ चतुर्वेदीजी धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं।[1]

मोतीसिंह

शिक्षा, साहित्य और जीवन

विनोबा का जीवन-दर्शन आज के विभिन्न संघर्षों और विकृतियों से आक्रान्त मनुष्य के लिए एक नया सन्देश है। उस सन्देश में अपूर्व स्फूर्ति और प्रेरणा है जो केवल कोरे उपदेशक में नहीं होती, क्योंकि विनोबा ने जिस सत्य और दर्शन की स्थापना की है उसे उन्होंने जीवन से, उसके अनुभूत प्रत्यक्ष ज्ञान और चिन्तन से पाया है। इसीसे उनकी वाणी और लेखनी में आस्था, विश्वास (conviction) और अधिकार (authority) ध्वनित होती हैं। उनका जीवन-दर्शन है—मनुष्य में पुरुषार्थ का तेज जगाना, व्यक्ति में समष्टि की चेतना पैदा करना और जीवन से बढ़ते हुए पार्थक्य को समाप्त करके उसके प्रति सच्ची निष्ठा और प्रेम पैदा करना। शिक्षा, समाज-दर्शन, काव्य, अर्थ-शास्त्र सभी की परीक्षा करते हुए वे मूल रूप से इन्हीं सिद्धान्तों को लागू करते हैं। **"ज़िन्दगी की ज़िम्मेदारी कोई डरावनी चीज़ नहीं है। वह आनन्द से ओत-प्रोत है"।"** **"ज़िन्दगी की ज़िम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है।"** इसी आधार पर शिक्षण-व्यवस्था या दूसरी प्रकार की योजना बनाने की सलाह वे देते हैं। **"शिक्षा कर्तव्य कर्म का आनुषंगिक फल है।"** ऐसी ही शिक्षा से आज के जीवन में व्याप्त असन्तुलन, एकांगिता और व्यवहारहीनता दूर हो सकती है। इसी को वे कहते हैं : **"अविरोध वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है।"** अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इसीलिए वे कहते हैं कि घर, पाठशाला और समाज तीनों को आधार बनाकर बालकों के चरित्र और विचार का निर्माण होना चाहिए। **"मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओर से**

---

१. लेखक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—किताब महल, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे।" ऐसे ही शिक्षा हमारे देश की बेकारी, असंगति और बनावट को दूर कर सकती है। गांधीजी की शिक्षा-पद्धति ने इसी का निर्देश किया था जो बेसिक-शिक्षा, वर्धा-योजना आदि भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित हुई। रूसो, स्पेन्सर, हरबर्ट, पास्टेलाजी, माण्टेसरी और डिवी आदि ने बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ की हैं और वे उपयोगी भी हैं किन्तु उसमें इस देश के काल, परिस्थिति और आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया जा सका है। शिक्षा 'कर्त्तव्य कर्म का आनुषंगिक है' इसका सीधा तात्पर्य यही है कि देश और समाज की आवश्यकता को देखते हुए जो कारणीय है, उसी दिशा में शिक्षा की नियोजना होनी चाहिए। शिक्षण का कार्य 'तेजस्वी विद्या' का अर्जन करना है। उस तेजस्वी विद्या से "आप निजाधार बनें, निराधार न रहें।" जो हमारे पुरुषार्थ को उद्दीप्त करे, वही विद्या अपेक्षित है। "बाल तो वह होता है जो बलवान है, जो मानता है कि यह सारी दुनिया मेरे हाथ में मिट्टी-जैसी है, उसकी जो भी चीज मैं बनाना चाहूँगा, बना लूँगा।" इसीलिए शिक्षा और जीवन से परिश्रम की उपादेयता पर बराबर ही विनोबाजी ने जोर दिया है। परिश्रम में उत्साह और लगन रखना ही पुरुषार्थ और तेजस्विता है। इससे भागना कायरता है। प्रतिभा का बीज, व्यक्तित्व का प्रस्फुरण ऐसे ही स्वेच्छा श्रम से होता है। "श्रीकृष्ण बचपन में हाथों से काम करता था, मेहनत-मज़दूरी करता था, इसीलिए गीता में इतनी स्वतन्त्र प्रतिभा का दर्शन हमें होता है। हमें ढेर-की-ढेर विद्या हासिल नहीं करनी है, तेजस्वी विद्या हासिल करनी है।"

शिक्षा विनोबाजी के लिए एक सामाजिक समस्या है और उसीके अनुबन्ध में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका सामाजिक दर्शन श्रम की समानता और परिणामस्वरूप व्यक्ति की समता पर आधारित है। "मतलब यह कि हर एक उपयुक्त परिश्रम का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्राचीन धर्म का आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़े भारी शूद्र-वर्ग का निर्माण कर दिया।" इस प्रकार सामाजिक तथा आर्थिक समता पर आधारित समाज-रचना ही उनका जीवन-दर्शन है।

विनोबाजी की विचार-सरणी जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से प्रादुर्भूत है। वह सभी सन्तों की तरह पुस्तकीय ज्ञान को अनावश्यक मानते हैं और ज्ञान को जीवन में ढूँढने का बराबर उपदेश देते हैं। "पुस्तक में अर्थ नहीं रहता, अर्थ सृष्टि में रहता है।" जीवन से ही सत्य को ग्रहण करने का आग्रह इतना प्रबल है कि कभी-कभी आक्रोश के स्वर में विनोबाजी इसकी महत्ता समझाते हैं। "....जहाँ सम्भव हो, पोथी में आँखें न गड़ाना, या कहिए आँखों में पोथी न गड़ाना, यह सयानेपन की पहली धारा है। शीशी को हम रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो, चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।"

साहित्य और कला के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार विनोबाजी के विचार स्पष्ट और प्रखर हैं। साहित्य का उद्देश्य सत्य की अभिव्यक्ति और समाज तथा राष्ट्र की मंगल-साधना है। इसी से साहित्य में शैली-साधना और अलंकरण-विधान के वे विरोधी हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि "इन शैली-भक्तों ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग शुरू किया है।" उनकी दृष्टि में सच्चा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि और कलाकार वही हो सकता है जो 'मन का मालिक' है। "जिसने मन नहीं जीता वह ईश्वर की सृष्टि का रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टि का ही नाम काव्य है।" "कवि में 'लोक-हृदय को यथावत् संप्रकाशित' करने का सामर्थ्य होना चाहिए।" इसके लिए उसे सत्य-द्रष्टा होना पड़ेगा। उस सत्य को पाने के लिए उसे जीवन पर दृष्टि डालनी होगी, उसे 'अध्यक्ष' बनना पड़ेगा अर्थात् उसकी दृष्टि समग्र विश्व पर होनी चाहिए, तब वह अपने साहित्य में अन्तः और बाह्य जगत् में पूर्ण संगति ला सकेगा। सुकरात की तरह इन्होंने भी काव्य को अपने में कोई महत्त्व नहीं दिया है। वह उसी अनुपात से महत्त्वपूर्ण है जिसमें वह जीवन के सत्य का उद्घाटन करता है। यह सत्य ही विश्व-मंगल का पर्याय है।

विनोबाजी के विचारों को थोड़े में व्यक्त करने और कहने में कठिनाई है, क्योंकि उनकी अन्तर्दृष्टि इतनी पैनी और सत्य की पकड़ ऐसी अचूक है जो उनके प्रत्येक वाक्य और शब्द को आवृत किये है। शब्द की मितव्ययता और अर्थ की गहनता का अपूर्व संयोग विनोबाजी की शैली में है। नित्य जीवन के व्यापार में ही उन्होंने बड़े-से-बड़े सत्य को देखा है और इसी से उनके कथन में चमत्कार के साथ ही प्रभावोत्पादन की अपूर्व क्षमता है।

विनोबाजी मूलतः अन्तःशुद्धि और बहिष्कार पर जोर देते हैं। नये समाज की रचना में इसकी उपयोगिता सर्वमान्य है। किन्तु भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के परस्परावलम्बन की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। नये समाज की भौतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ ही हमारे संस्कारों और विचारों को उन्नत बनाने का प्रयास किया जायगा तो सफलता शीघ्र और असंदिग्ध होगी, अन्यथा विनोबाजी का दर्शन सत्य और तपःपूत रहते हुए भी व्यावहारिक नहीं बन पायगा। विनोबाजी के प्रयास की सराहना और उनके दर्शन को स्वीकार करते हुए भी इतना नम्र निवेदन आवश्यक है।[1]

प्रभुदयाल मीतल

भूषण का जीवन-वृत्त और साहित्य

हिन्दी-क्षेत्र के विस्तार और हिन्दी-छात्रों की संख्या-वृद्धि के साथ-ही-साथ हिन्दी-कवियों के जीवन-वृत्तान्त और उनकी कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही है। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से प्रकाशित की गई है। इसके लेखक हिन्दी के पुराने साहित्यकार श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित हैं, जो पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से भूषण-सम्बन्धी शोध कर रहे हैं। उन्होंने भूषण-सम्बन्धी प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध कई नवीन तथ्य प्रमाणित किये हैं और भूषण के काव्य का नये दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया है। प्रस्तुत पुस्तक एक अधिकारी विद्वान् की कृति है। इसमें जीवनी, रचना, आलोचना और संग्रह नामक चार खण्ड हैं। पुस्तक की आरम्भिक 'अवतरणिका' में प्राचीन साहित्य में वीर-काव्य का अभाव, वीरगाथा-काव्य की

१. **लेखक—विनोबा भावे, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरर्थकता और भूषण के काव्य की पृष्ठभूमि पर ऐतिहासिक विवेचन द्वारा विचार किया गया है।

पुस्तक का प्रथम 'जीवनी खण्ड' लेखक-कृत अनेक वर्षों की शोध-पर आधारित होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक के अधिकतर वे ही विचार हैं, जिन्हें वे अपने कई लेखों और 'भूषण-विमर्श' नामक ग्रन्थ में अब से कम-से-कम पन्द्रह वर्ष पूर्व प्रकट कर चुके थे। यद्यपि ये विचार पुराने हैं, तथापि उनके द्वारा भूषण-सम्बन्धी कई प्रचलित किंवदन्तियों का ठोस प्रमाणों द्वारा खण्डन होने के कारण उनका अब भी उतना ही महत्त्व है, जितना पन्द्रह वर्ष पूर्व था। भूषण के विषय में यह किंवदन्ती बड़ी प्रसिद्ध है कि वे औरंगज़ेब की हिन्दू-विरोधी नीति के प्रतिकार के लिए शिवाजी महाराज के पास गये थे और उनको अपना सुप्रसिद्ध कवित्त—'इन्द्र जिमि जंभ पर···त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है'—सुनाया था। इस कवित्त के कारण वे शिवाजी से पुरस्कृत हुए थे और उनके दरबार में रहकर उन्होंने अपने विख्यात ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' की रचना की थी। दीक्षितजी का मत है कि भूषण का जन्म शिवाजी की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् सं० १७३८ में हुआ था, अतः उनका शिवाजी से भेंट करना और उनके आश्रय में रहना भ्रमपूर्ण कथन है। भूषण शिवाजी के पौत्र शाहू महाराज के समकालीन थे और उनको ही उन्होंने अपना वह कवित्त सुनाया था। वे शाहू महाराज से ही पुरस्कृत हुए थे और उन्हींके आश्रय में उन्होंने सितारा नगर में 'शिवराज भूषण' की रचना सं० १७७३ में की थी। अपने इस क्रान्तिकारी मत के समर्थन में दीक्षितजी का सबसे बड़ा तर्क यह है कि भूषण के जितने आश्रयदाताओं के नाम प्रसिद्ध हैं, उनमें से छत्रसाल के अतिरिक्त अन्य सभी शिवाजी महाराज के परवर्ती थे। उन्होंने सन्त तुकाराम के एक पत्र का भी हवाला दिया है, जिसमें भूषण को शाहूजी का आश्रित कवि लिखा गया है। 'शिवराज भूषण' के छन्द सं० २८ से ज्ञात होता है कि चित्रकूट-नरेश हृदयराम ने उनको 'भूषण' की उपाधि दी थी। इससे यह प्रकट है कि भूषण उनका नाम नहीं था। उनका वास्तविक नाम क्या था, इसके उत्तर में कई विद्वानों ने अपने अनुमान उपस्थित किए हैं। पं० बदरीदत्त पांडे-कृत कुमायूँ के इतिहास में वर्णित एक प्रसंग के आधार पर दीक्षित जी का मत है कि भूषण का मूल नाम 'मनिराम' था। प्रचलित मान्यता के अनुसार भूषण के तीन भाई थे—चिन्तामणि, मतिराम और नीलकण्ठ; किन्तु दीक्षितजी का मत है कि चिन्तामणि ही भूषण के सहोदर भाई थे, मतिराम और नीलकण्ठ नहीं। मतिराम तो उनके सहगोत्री भी नहीं थे, किन्तु वे उनके समकालीन और घनिष्ठ मित्र अवश्य थे। सम्भव है, मामा-फूफा के नाते भाई भी हों। दीक्षित जी के मतानुसार भूषण का जन्म-स्थान बनपुर था, जहाँ पर वे सं० १७५८ तक—अपनी २० वर्ष की अवस्था तक—रहे थे। इसके पश्चात् वे त्रिविक्रमपुर (तिकमापुर, जिला कानपुर जाकर बस गए थे। भूषण के जीवन-वृत्तान्त की इस शोध के कार्य से दीक्षित जी को कई लम्बी यात्राएँ करनी पड़ी थीं, इन यात्राओं में उन्होंने जिन प्राचीन प्रमाणों का संग्रह किया था, उनके अध्ययन और अनुसन्धान के अनन्तर उन्होंने अपना मत निश्चित किया है; अतः इस खण्ड की सामग्री महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं।

द्वितीय रचना-खण्ड पहले खण्ड की अपेक्षा बहुत छोटा है। इसमें केवल दो परिच्छेद हैं, जिनके शीर्षक हैं रचनाओं की विचार-धारा और फुटकर कविताएँ। भूषण-कृत दो ग्रन्थ 'शिवाबावनी' और 'शिवराज भूषण' प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'भूषण हजारा', 'भूषण उल्लास' और 'दूषण उल्लास' भी उनके ग्रन्थ कहे जाते हैं, किन्तु वे अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। भूषण के दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध ग्रन्थ वीर-रस के हैं, किन्तु उनके रचे हुए शृङ्गार-रस के कुछ छन्द भी प्राप्त हुए हैं। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने भूषण-कृत शृङ्गार-रस के अनेक छन्द खोजकर प्रकाशित कराये थे। इन छन्दों में अधिकांश नायिका-भेद से सम्बन्धित हैं। ऐसा अनुमान होता है कि अपने अग्रज चिन्तामणि के अनुकरण पर उन्होंने आरम्भ में शृङ्गार-रस के छन्दों की रचना की थी, बाद में औरंगजेब के अत्याचारों से उनको वीर-रस के छन्द रचने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इस खण्ड में दीक्षित जी ने भूषण के काव्य की आलोचना ही की है, जो वस्तुतः तृतीय खण्ड का विषय है। इस खण्ड को पृथक् रखने की आवश्यकता नहीं थी। इसकी सामग्री सरलतापूर्वक तृतीय खण्ड में मिलाई जा सकती थी।

तृतीय आलोचना-खण्ड सबसे बड़ा है। इसमें भूषण के काव्य की विस्तृत आलोचना की गई है। 'शिवराज भूषण' का निर्माण-काल अधिकांश लेखकों ने सं० १७३० वि० माना है, किन्तु दीक्षितजी ने इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से ही यह सिद्ध किया है कि इसमें वर्णित अधिकांश घटनाएँ सं० १७३० के पश्चात् की हैं, अतः इसका निर्माण-काल उक्त संवत् के बाद का होना चाहिए। दीक्षितजी के मतानुसार इसकी रचना सं० १७७३ वि० में हुई थी। 'शिवा बावनी' की रचना 'शिवराज भूषण' से पूर्व की है, इसमें मतभेद नहीं है। इस खण्ड में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत भूषण के काव्य की विस्तृत आलोचना की गई है।

भूषण कवि उस काल में हुए, जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'रीति काल' के नाम से प्रसिद्ध है। उस काल के कवियों ने शृङ्गार-रस की रचनाएँ रीतिबद्ध मुक्तक काव्य के रूप में की हैं। भूषण ने अपने काल की धारा के विरुद्ध अपना काव्य वीर-रस में तो लिखा, किन्तु उसका स्वरूप उन्होंने भी रीतिबद्ध मुक्तक काव्य ही रखा। उन्होंने 'शिवराज भूषण' के आरम्भ में लिखा है :

सिव-चरित्र लखि यों भयौ, कवि भूषन के चित्त।
भाँति-भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त॥

उन्होंने शिवाजी के चरित्र का कथन अवश्य किया है, किन्तु उनका लक्ष्य अलंकारों का वर्णन करना भी रहा है। सच बात तो यह है कि 'शिवराज भूषण' वीर-रस का अलंकार-ग्रन्थ पहले है, और शिवाजी का चरित्र बाद में। ऐसी स्थिति में भूषण के काव्य की आलोचना करते समय आलोचक को यह बतलाना चाहिए कि कवि अपनी रचनाओं में वीर-रस की निष्पत्ति करने में कहाँ तक सफल हुआ है और उसका अलंकार-वर्णन किस कोटि का है। दीक्षितजी ने वीर-रस के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखा भी है, यद्यपि इसका और भी विस्तृत विवेचन होना आवश्यक था, किन्तु उनका अलंकार-वर्णन तो बहुत ही संक्षिप्त—केवल साढ़े तीन पृष्ठों का ही है।

चतुर्थ संग्रह-खण्ड में भूषण-कृत कतिपय छन्दों का संकलन है। यह संग्रह अधूरा और छोटा है। इसमें संकलित छन्द इस कोटि के नहीं हैं, जिनसे भूषण के काव्य का यथार्थ महत्त्व ज्ञात हो सके। इन छन्दों को पढ़कर पाठक के मन पर भूषण के काव्य की वैसी छाप नहीं पड़ती, जैसी लेखक ने आलोचना-खण्ड में डालने की चेष्टा की है।

भूषण हमारे राष्ट्रीय कवि थे। उनका काव्य कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है, किन्तु दीक्षितजी ने उसके महत्त्व का मूल्यांकन करने में कुछ अतिशयोक्ति से काम किया है। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि भूषण ने राष्ट्र-निर्माण के उद्देश्य से समस्त भारत में भ्रमण किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अपने समय के समस्त हिन्दू राजाओं को संगठित किया। उन्होंने अपने ओजस्वी काव्य से हिन्दू-नरेशों में नई जान डाल दी और उनके द्वारा शक्तिशाली मुगल-शासन का अन्त करा दिया। यह कथन कुछ अंश में सत्य भी है, किन्तु दीक्षितजी ने इसका जिस प्रकार वर्णन किया है, उसमें अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है।

भूषण के काव्य का महत्त्व बतलाते हुए दीक्षितजी ने संस्कृत और हिन्दी के शृङ्गारी कवियों के साथ-ही-साथ हमारे सन्त और भक्त-कवियों के साथ बड़ा अन्याय किया है। उनका कहना है कि भास, कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष आदि ने तो देश में स्त्रैणता का प्रसार किया ही, तुलसी और सूर आदि ने भी उसी भावना को बल दिया। उनका यह भी मत है कि सन्त-कवियों ने वैराग्य का महत्त्व बढ़ाकर हमारे उत्साह को मन्द कर दिया!! दीक्षितजी का यह कथन कितना लचर है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। तुलसी-सूर का काव्य स्त्रैणता को बल देने वाला और सन्त-कवियों का काव्य उत्साह को मन्द करने वाला बतलाना सरासर भ्रमात्मक है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी कमी है—भाषा और छापे की अशुद्धियाँ, इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों उत्तरदायी हैं। यदि प्रकाशक पुस्तक को शुद्ध रूप में प्रकाशित करने की अपनी जिम्मेदारी समझता है, तो उसके द्वारा लेखक की साधारण अशुद्धियाँ भी दूर हो जाती हैं। इस पुस्तक का प्रकाशक शायद इस प्रकार की अपनी जिम्मेदारी का अनुभव नहीं करता है। इसीलिए इस पुस्तक में लेखक और प्रकाशक दोनों की अगणित अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। पुस्तक के पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि इसके लेखक शुद्ध भाषा लिखने के अभ्यासी नहीं हैं और विरामादि चिह्नों को यथास्थान लगाना तो शायद उन्होंने सीखा ही नहीं। पुस्तक की आरम्भिक अवतरणिका से अन्त तक का कोई पृष्ठ नहीं जिसमें भाषा और छापे की भूलें न हों। दीक्षितजी-जैसे पुराने लेखक की ऐसी भद्दी भाषा देखकर आश्चर्यपूर्ण खेद होता है। इस पुस्तक की ऊबड़-खाबड़ और अस्तव्यस्त भाषा के कुछ उदाहरण हम आरम्भिक पृष्ठों से ही देते हैं :

"यह चन्दबरदाई का रचा एक बहुत बड़ा ग्रन्थ माना जाता है जो कि पृथ्वीराज का दरबारी कवि और मन्त्री था।"[1]

"अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में औरंगजेबी शासन देश में प्रतिष्ठित होता है इसकी शासन-प्रणाली अपने पूर्वजों से भिन्न थी अतः हिन्दुओं, शिया मुसलमानों और परिवार वालों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये थे।"[2]

"इसीलिये हम इस महाकवि की रचना का गम्भीर अध्ययन करना चाहिये तभी हमें आगे बढ़ने के लिये पथ पा सकते हैं।"[3]

"इनके पिता रत्नाकर बड़े ही सात्विक ब्राह्मण और तपस्वी वृत्ति से समय यापन करते थे।"[4]

"अन्त में जब कोई उपाय चलता न देखकर भूषण महाकवि से सहायता की

---

१. अवतरणिका, पृष्ठ ४।
२. अवतरणिका, पृष्ठ ८।
३. विषय-प्रवेश, पृष्ठ ९।
४. पृष्ठ १२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याचना की।"[१]

"परन्तु अब तक इनके संबंध के कोई छन्द प्राप्त नहीं हो सका है और न उक्त सुरकी विषयक छन्दाँशाही पूरा हो पाया है।"[२]

"कवि ने देह के नाशवान की चर्चा करते हुए पुनर्जन्म में किस रूप में रहें इसकी चिन्ता त्यागकर इससे उत्कृष्ट रूप और परोपकार में संलग्न रहने की शिक्षा दी है।"[३]

"कुछ तथ्य निर्णयात्मक रूप में पाठकों एवं साहित्यिकों के सन्मुख रखी जा सकी हैं।"[४]

पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों के उपर्युक्त नमूनों से यह सिद्ध है कि इस पुस्तक की भाषा कितनी अनगढ़, व्याकरण-विरुद्ध और विरामादि चिह्नों से रहित है। इसमें अनेक शब्दों का किस प्रकार अशुद्ध प्रयोग हुआ है, इसके उदाहरण के लिए आरम्भिक 'विषय-प्रवेश' के पृष्ठ १ में 'कलुषितपूर्ण' शब्द द्रष्टव्य है। इसमें छापे की अशुद्धियों के कारण अनेक शब्द किस प्रकार भ्रष्ट हो गए हैं, इसके उदाहरण के लिए केवल दो शब्द दिये जाते हैं। पृष्ठ ३ में 'संस्करण' के स्थान पर 'संस्करक्ष' और पृष्ठ ३५ में 'पेशवा' के स्थान पर 'पेशाव' छपा है!

पुस्तक के अन्तिम खण्ड में दिये हुए काव्य-संकलन में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। इसका पाठ अशुद्ध है और इसमें सुसम्पादन का अभाव है। इसकी अपेक्षा 'भूषण-ग्रन्थावली' का पाठ अधिक शुद्ध और सुसम्पादित है। उक्त पुस्तक को श्री व्रजरत्नदास जी ने प्रस्तुत पुस्तक से प्रायः तेईस वर्ष पूर्व प्रकाशित कराया था। श्री दीक्षितजी व्रजभाषा के विद्वान और भूषण के विशेषज्ञ हैं। यदि वे चाहते तो थोड़े परिश्रम से ही भूषण के काव्य को सुसम्पादित रूप में प्रकाशित करा सकते थे। हमको खेदपूर्वक लिखना पड़ता है कि इस पुस्तक की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों और छापे की अशुद्धियों ने दीक्षितजी की पुस्तक के महत्त्व को मिट्टी में मिला दिया है। हम चाहते हैं कि इसके आगामी संस्करण में ये त्रुटियाँ दूर की जायँ, ताकि यह पुस्तक अपना उचित महत्त्व प्राप्त कर सके।[५]

डॉक्टर आद्याप्रसाद मिश्र

विश्वधर्म-दर्शन पर एक दृष्टि

इस अत्यन्त उपादेय विषय पर हिन्दी में अभी बहुत कम ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ मूल्यवान है और एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है। सुन्दर तथा उपादेय होने के साथ ही

१. पृष्ठ २६।
२. पृष्ठ ४१।
३. पृष्ठ ६६।
४. पृष्ठ ७२।
५. 'महाकवि भूषण', लेखक—डॉ० भगीरथप्रसाद दीक्षित, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय के अत्यन्त व्यापक होने के कारण यह भय भी था कि कहीं इसका कोई उपादेय अंग छूट न जाय। मेरा निष्पक्ष मत है कि विद्यानुरागी लेखक के महान् अध्यवसाय एवं उन्हींके शब्दों में उनकी 'मधुमक्षिका वृत्ति' ने प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में उस भय को सत्य नहीं होने दिया। धर्म युगयुगान्तर में बदलते हुए स्वरूपों में समन्वय स्थापित करने के लिए समय-समय पर उसके अभिनव व्याख्यान के जितने भी प्रयास विभिन्न वादों, मतों एवं विचार-धाराओं के आरम्भ के रूप में प्राचीन काल से लेकर अब तक हुए हैं, उन सबका इतिहास इसमें प्रस्तुत है। आठवें खण्ड के 'भारतीय संस्कृति के उन्नायक' नामक तीसरे परिच्छेद में योगी अरविन्द तथा महर्षि रमण इत्यादि के विचारों का, जिनसे अभी तक बहुत कम लोग परिचित हैं, सङ्कलन करने के लिए लेखक महोदय हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

पर इन गुणों एवं विशेषताओं के होते हुए भी इस ग्रन्थ में अनेक दोष हैं जिनको दूर किये बिना यह उतना आकर्षक और मनोहारी नहीं होगा जितना अन्यथा इसे होना चाहिए। हम नीचे कुछ मुख्य दोषों का दिग्दर्शन-मात्र कराएंगे क्योंकि समस्त दोषों का सविस्तर वर्णन न तो सम्भव ही है और न अपेक्षित ही। यह दिग्दर्शन भी दोषोद्भावना की दृष्टि से नहीं, अपितु इस अन्यथा उपादेय ग्रन्थ के दोषों के परिहार द्वारा इसे और भी उपादेय एवं लोकोपयोगी बनाने में सहायक होने की भावना से किया जा रहा है। इन पंक्तियों के लेखक की यह प्रिय अभिलाषा है कि यह आलोचना इसी रूप में ग्रहण की जाय, आक्षेपोक्ति के रूप में नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'विश्वधर्म-दर्शन' है और इसमें धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त अर्थ-शास्त्र, संगीत-शास्त्र, गणित-शास्त्र, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद इत्यादि से सम्बद्ध साहित्यों की भी चर्चा की गई है। परन्तु इनका प्रस्तुत ग्रन्थ से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। फिर यह विषयान्तर लगता है, यद्यपि बात वस्तुतः ऐसी है नहीं। अतएव ग्रन्थारम्भ में 'धर्म' की वह व्यापक व्याख्या प्रस्तुत होनी चाहिए थी जिसको मन में रखकर लेखक ने उनका यहाँ समावेश किया है और ठीक ही किया है। वैसे, इन विषयान्तर लगने वाले विषयों का समावेश न होने पर भी 'धर्म-दर्शन' की पुस्तक में 'धर्म' के विषय में बिना कुछ कहे 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' से ग्रन्थ का आरम्भ न जाने कैसा अजीब-सा लगता है।

ग्रन्थ की विषय-सूची तो बड़ी ही आकर्षक और सुन्दर है पर ग्रन्थ पढ़ जाने पर अनेक स्थलों में ऐसा लगा जैसे विषय का यथेष्ठ—यद्यपि संक्षिप्त और निश्चयात्मक—वर्णन करना उतना अभीष्ट नहीं है जितना खानापूरी करना। प्रायः ग्रन्थ सूच्यात्मक ज्ञान देने तक ही सीमित रहा है। इसके कारण कहीं-कहीं भाव स्पष्ट होने के बदले और भी उलझ गए हैं। माना कि विषय की व्यापकता और विविधता तथा स्थानाभाव के कारण बहुत-सी बातें सविस्तर नहीं दी जा सकतीं पर हमारी दृढ़ धारणा है कि ग्रन्थ का आकार बिना बढ़ाये हुए भी बहुत सी मोटी-मोटी बातें स्पष्ट ढंग से कही जा सकती थीं; पर अनवधानवश अथवा आवश्यक-अनावश्यक का पूर्ण तथा स्पष्ट विचार न होने से नहीं कही जा सकीं। हम दो ही तीन स्थल दिखाकर सन्तोष करेंगे।

उपनिषदों के वर्णन में ईशोपनिषद् के अत्यन्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण होने पर भी उसका जितना विस्तार दूसरों की उपेक्षा करके किया गया है, वह उचित नहीं जान पड़ता। प्रश्नोपनिषद् के प्रश्नों को दुहराने में आधा पृष्ठ लगा दिया गया है पर उनके उत्तर में—जिनके कारण ही उन प्रश्नों की भी सार्थकता होती—चार पंक्तियाँ भी नहीं लिखी गईं। प्रश्नों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने-भर से पाठक का क्या लाभ हुआ ? तैत्तिरीय-जैसे महत्त्वपूर्ण उपनिषद् के सम्बन्ध में कुल चार पंक्तियाँ लिखी गईं और उनमें भी दिये गए तथ्य गलत हैं, जैसे उसके शिक्षावल्ली और ब्रह्मानन्द बल्ली नामक दो ही भाग बताये गए हैं, पर उसका भृगुवल्ली नामक एक तीसरा भी भाग है। जितने स्थान में केन, तैत्तिरीय, ऐतरेय तथा माण्डूक्य—चारों का वर्णन समाप्त कर दिया गया है, उतने में प्रश्न के प्रश्नों-भर का उल्लेख किया गया है। उपनिषद्-जैसे संस्कृतवाङ्मय के अद्भुत साहित्य और विश्व के सर्वोच्च दर्शन-ग्रन्थों का प्रायेण नामोल्लेखात्मक विवरण छिछला और हल्का प्रतीत होता है। इसी प्रकार जैन-दर्शन की जीव-विषयक सबसे मोटी बात है उसका जीव को शरीर-परिणामी अर्थात् प्रदीपवत् संकोच-विकासशील बताना; जहाँ शाङ्करमत में जीव विभु तथा वैष्णवमतों में अणु है, वहाँ जैनों का जीव मध्यम परिमाण वाला है। पर इतनी मोटी तथा प्रधान बात का उल्लेख तक नहीं किया गया, जब कि जीव ही समस्त दर्शनों के विचार का मूलाधार है। आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल, अस्तिकाय और अनस्तिकाय-जैसे विशिष्ट अर्थ वाले शब्दों को तो बिना कुछ समझाए छोड़ ही दिया गया है जब कि जैनों की आकाश, धर्म इत्यादि की कल्पना एतद्विषयक अन्य मतों की सामान्य कल्पना से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के वर्णन में जहाँ कणाद के अनुसार अन्तःकरण की शुद्धि के लिए धार्मिक बनना आवश्यक बताया गया, वहाँ उनके द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा—जो सम्भवतः 'धर्म' की भारतीय व्याख्याओं में सर्वव्यापक अतश्च सर्वश्रेष्ठ है—देने का कष्ट ही नहीं किया गया। इन वर्णनों में कई स्थलों में कोई विशेष संख्या और क्रम भी नहीं दीख पड़ता। जैसे इस वैशेषिक के ही वर्णन में संयोग के बाद बुद्धि के दो भेद दिये गए हैं। इन दोनों में क्या पौर्वापर्य है, यह समझ में न आया। फिर ये दो ही विषय उल्लेख के लिए क्यों चुने गए ? इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण बातें कहने को थीं।

इस सूच्यात्मक वर्णन से जो मन को परितोष नहीं होता वह तो अलग, इन गूढ़ विषयों के अपर्याप्त या अधूरे उल्लेखों से भ्रम भी पैदा होते हैं। जैसे पृष्ठ २८४ पर आचार्य रामानन्द के मत का जो वर्णन दिया गया है, वह जितना है उतना तो ठीक है पर पर्याप्त नहीं, क्योंकि उससे भ्रम को आश्रय मिलता है। रामानुजी वैष्णवों की भाँति रामानन्द को भी तुलसी शालग्राम आदि पर श्रद्धा तथा पृथक् अथवा युगल मूर्ति की आराधना इत्यादि करने वाला कहा गया है। पढ़कर कुछ इस प्रकार की धारणा होती है कि दोनों सम्प्रदायों में कोई भेद नहीं है, और है भी तो महत्त्वपूर्ण नहीं; पर बात ऐसी नहीं है। रामानन्द ने निर्गुण और सगुण दोनों ही पक्ष माने हैं। सरल तथा सर्वसाधारण के लिए सुगम होने से सगुण को प्रधानता अवश्य दी है पर निर्गुण का निराकरण या प्रत्याख्यान नहीं किया है। इसीलिए जहाँ उनके अनुयायी कबीर-जैसे 'निगुनी' सन्त हैं, वहाँ सम्पूर्ण रामानन्दी सम्प्रदाय सगुणवादी है। इस प्रकार उनके मत में निर्गुण और सगुण अथवा ज्ञान और भक्ति का भागवत-जैसा समन्वय मिलता है। इसीलिए एकमात्र गोस्वामी तुलसीदास ही रामानन्दी विचारधारा के सच्चे प्रतिनिधि हैं। इसके विपरीत रामानुज कट्टर सगुणवादी हैं। उनकी विचार-धारा में निर्गुण को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, उनका निर्गुण भी सविशेष और शरीरी है। इसी प्रकार पृष्ठ १५८ पर बौद्ध-दर्शन के निर्वाण को नित्यानन्द रूप कहा है और आगे पृष्ठ १५६ पर माध्यमिक बौद्धों के वर्णन में निर्वाण को शून्यरूप कहा है। इस प्रकार एक ही निर्वाण के सम्बन्ध में दो विरोधी बातों का उल्लेख भर-करके छोड़ दिया गया है। फिर पृष्ठ २१५ तथा २१६ पर तन्त्रों के पञ्चमकारों के विषय में दो विरोधी विचार उल्लिखित हैं। पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मद्यादि को बाह्य माना है पर इनके प्रयोग का लक्ष्य भौतिक तथा लौकिक आनन्द न मानकर परमानन्द माना है, और दूसरे में इन्हें बाह्य न मानकर प्रतीकात्मक माना है। सामान्य पाठक ऐसे विरोधी विचारों में उलझकर निश्चय नहीं कर पाता कि दोनों में कौनसा सत्य है और किसमें आस्था दृढ़ की जाय। दो विभिन्न तथा विरोधी विचारों अथवा मतों को एकत्र रख देने-भर से किसी समन्वयात्मक दृढ़ सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती जो इस जैसे ग्रन्थों का प्रायः लक्ष्य होता है और होना भी चाहिए।

कहीं-कहीं तो लेखक ने ऐसी बातें लिखी हैं जो सर्वथा अपार्थक और भ्रममूलक ही कही जायँगी, जैसे सांख्य के वर्णन में पृष्ठ १६६ पर तत्त्वों की संख्या पचीस बताई गई है और ये तत्त्व प्रकृति, पुरुष, महत् इत्यादि क्रम से कहे गए हैं। यह सर्वथा असत्य है। सांख्य वस्तुतः दो ही तत्त्व मानता है, पचीस नहीं। पचीस संख्या तो उसने 'तत्त्व' की थोड़ी व्यापक दृष्टि रखकर कही है क्योंकि इन दोनों के अतिरिक्त जो तेईस अवान्तर तत्त्व हैं, वे वस्तुतः प्रकृति के ही विकार हैं, उनसे पृथक् नहीं। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के वर्णन से ये पचीसों सर्वथा स्वतन्त्र लगते हैं जो स्पष्ट ही भ्रम है। फिर प्रकृति के अनन्तर महत्, अहङ्कार इत्यादि को न देकर पुरुष को और उसके बाद महदादि को देने से यह भ्रम और भी दृढ़ होता है। यद्यपि पृष्ठ १६८ पर अन्त में "यह दर्शन द्वैतमत का प्रतिपादन करता है। प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं जिनके परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है"—ऐसा लिखा है, पर यह वाक्य पूर्वकथन से बहुत दूर तथा पृथक् आने से उपर्युक्त भ्रम को दूर करने में विशेष समर्थ नहीं है और फिर 'एक तो तितलौकी दूजे नीम चढ़ी' उक्ति के अनुसार इस वाक्य के आगे ही पृष्ठ १६६ पर 'योगदर्शन' के वर्णन में "पतञ्जलि ने भी कपिल के समान ही पचीस 'मूल तत्त्व' स्वीकार किये हैं"—ऐसा लिखा है। इससे यह भ्रम दूर होने के बदले और भी दृढ़ हो जाता है। उपर्युक्त वाक्य में 'मूल' शब्द नहीं आना चाहिए था। यह बड़ा अनर्थकारी है।

सिद्धान्त-विषयक उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे दोष हैं जो दृष्टि-भेद या विचार-वैषम्य के कारण हुए हैं। वस्तुतः इन्हें दोष न कहकर मत-वैषम्य ही कहना चाहिए, पर दोष कहने के लिए हम बाध्य इसलिए हैं कि किसी भी विवादास्पद महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में एकदेशीय या एकाङ्गीय मत देकर अन्य समानरूपेण महत्त्वपूर्ण मतों की उपेक्षा करना—उल्लेख तक न करना—लेखक को पाठक की दृष्टि में पक्षपातपूर्ण और सदोष ठहराता है। पृष्ठ ४३ पर व्याकरण के विषय में लिखते हुए लिखा गया है कि **"पाणिनि के आरम्भ के पहले चौदह सूत्र माहेश्वर सूत्र कहे गए हैं। इससे सहज ही यह अनुमान होता है कि माहेश्वर सूत्र भी किसी और व्याकरण के ही सूत्र होंगे।"** पर क्या इन सूत्रों के माहेश्वर सूत्र होने से यह भी अनुमान उतनी ही सहज रीति से नहीं होता कि ये सूत्र पाणिनि को भगवान् महेश्वर (शिवजी) की कृपा से प्राप्त हुए थे जैसी कि वैयाकरणों में पूर्व-प्रचलित परम्परा भी है। क्या कात्यायन, पतञ्जलि, कैय्यट, वामन, जयादित्य आदि किसीको भी उपर्युक्त परम्परा की असत्यता ज्ञात न हो सकी जो अब आविष्कार की जा रही है ? इस प्रकार परम्परा परिपुष्ट होने से तो दूसरा ही अनुमान प्रबलतर जान पड़ता है। पर इसका उल्लेख तक भी नहीं किया गया। यही बात पृष्ठ १६ तथा २८ पर वैदिक देववाद, पृष्ठ ३३४ पर वर्ण तथा अस्पृश्यता आदि, एवं अन्यत्र राम और कृष्ण के ऐतिहासिकत्व और उनके विष्णुत्व आदि के विषय में प्रकट किये गए विचारों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि लेखक अपने स्वतन्त्र विचार न प्रस्तुत करे। इसके विपरीत हमारा तो दृढ़ मत है कि जो स्वतन्त्र विचारक नहीं, वह उत्कृष्ट लेखक ही नहीं, पर ये स्वतन्त्र विचार समस्त युक्तियों के साथ दिये जाने चाहिएं और साथ ही यदि अन्य सभी विरोधी मत नहीं तो कम-से-कम एक-दो मुख्य मतों को भी, विशेषकर जो परम्परा से प्रचलित हैं, देना चाहिए और थोड़ा साहस करके उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों तथा युक्तियों को भी काटना चाहिए।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त भाषा-सम्बन्धी भी कई दोष यत्र-तत्र हो गए हैं। वाक्य कई स्थलों पर लद्धड़ तथा शिथिल और कहीं-कहीं पर अशुद्ध भी आये हैं। शब्द भी अशुद्ध हैं, जो सम्भवतः छपाई की अशुद्धि के कारण हैं। गृहासक्ति के लिए गृहाशक्ति (पृष्ठ ३००), श्वेताश्वतर के लिए श्वेताश्वेत (हो सकता हो यह ठीक हो पर ऐसा नाम कहीं देखा हो, ऐसा स्मरण मुझे नहीं है पर ठीक भी हो तो जो अधिक प्रचलित शब्द हैं, उनका प्रयोग ही अधिक उचित होता है) तथा चरित के अर्थ में 'चरित्र' इत्यादि अशुद्ध हैं।

यदि विचारपूर्वक पढ़कर इनमें कुछ उचित लगने वाले दोषों का परिहार किया जा सका तो अपने अगले संस्करण के अनन्तर यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में अमूल्य कृति होगा। ऐसे ग्रन्थ की रचना के लिए हम लेखक को पुनः धन्यवाद देते हैं।[1]

केशवचन्द्र वर्मा

हमारे साहित्य में हास्यरस

हिन्दी में हास्यरस पर अब तक एक परिचयात्मक पुस्तक की जो कमी अनुभव की जा रही थी, किसी सीमा तक प्रस्तुत रचना उस अभाव को दूर कर सकने में समर्थ सिद्ध हुई है। इस दृष्टिकोण से पुस्तक न केवल अन्यतम है, वरन् उपयोगी भी है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि, चूँकि आलोचक स्वयं हास्यरस के कवि हैं, (जैसा कि परिशिष्ट के उनके अपने संकलन से स्पष्ट होता है) सारी आलोचना बातचीत के लहजे में लिखी गई है और उसकी जटिलता एवं हास्य-सिद्धान्तों का दुरूह प्रतिपादन हास्ययुक्त भाषा और छोटे-छोटे चुटकुलों के माध्यम से सहज ही ग्राह्य बना दिया गया है।

पूरी पुस्तक का विभाजन सात फाटकों के अन्तर्गत हुआ है जिनमें भाषा की उत्पत्ति, साहित्य, काव्य और रस आदि के निरूपण, हास्य और उसका प्रयोग, हास्य के रूप, हास्य में भ्रम या धोखा, हिन्दी में हास्य का विकास आदि का संक्षिप्त उल्लेख है। आलोचक ने उर्दू के हास्य-व्यंग को हिन्दी-साहित्य का अविच्छिन्न अंग मानते हुए उसका भी विशद विवेचन किया है और उर्दू तथा हिन्दी के गद्य व पद्य लेखकों का जीवन-परिचय तथा उनकी व्यंग कृतियों के विषय में चर्चा की है।

इस ग्रन्थ की उपयोगिता इस दृष्टि से अधिक है कि जिन लेखकों की चर्चा की गई है,

१. **लेखक—श्री सांवलिया बिहारीलाल वर्मा, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी प्रायः एकाध संक्षिप्त कृतियों का भी उदाहरण प्रस्तुत कर दिया गया है जो कि पाठकों को न सिर्फ आलोचना की बोझिल एकरसता से बचाती हैं बल्कि उन्हें आलोचक के वक्तव्य को कसने वाली कसौटी भी साथ ही मिल जाती है। उर्दू और हिन्दी के तमाम हास्य-व्यंग लिखने वाले लेखकों का पूरा ब्यौरा एक साथ उपस्थित करने का यह निश्चित ही स्तुत्य प्रयास है।

दो-एक शब्द इसके बारे में और। पुस्तक में हिन्दी की आधुनिकतम हास्य-व्यंग की प्रवृत्तियों का उल्लेख नहीं के बराबर है। इसके अतिरिक्त आलोचक की सूची से कई प्रमुख हास्य-लेखक छूट भी गए हैं जिनमें बिहार के श्री राधाकृष्ण का नाम उल्लेखनीय है। भाषा की दृष्टि से भी कहीं-कहीं चूक हो गई है जिसे यदि सँवार लिया गया होता तो अच्छा होता। पुस्तक साफ़ छपी है, फिर भी टाइप सुथरे नहीं हैं और कहीं-कहीं तो प्रूफ की बड़ी भ्रष्ट ग़लती भी हो गई है। पुस्तक के अन्त में यदि लेखक अपनी कृतियों का संकलन न देता, तो भी कोई विशेष हानि नहीं थी। वैसे मुखपृष्ठ की कवर डिज़ाइन का परिवर्तन यदि होता तो सम्भव है इस पुस्तक का 'गेट-अप' भी अधिक सुरुचिपूर्ण हो जाता।

पुस्तक के अन्त में तीन-चार पृष्ठों का एक शब्दकोष भी दिया हुआ है जो उर्दू न जानने वाले पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[1]

माया भटनागर

कवि आरसी की काव्य-साधना

'कवि आरसी की काव्य-साधना' के लेखक० श्री प्रताप साहित्यालंकार ने पुस्तक में कवि की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्यात्मक आलोचना की है। इसके अतिरिक्त कवि के विचार-सौन्दर्य, कला-नैपुण्य और कवि द्वारा रचित बाल-साहित्य की विशिष्टताओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। कवि की प्रगतिवादी रचनाओं के महत्त्व का निरूपण पूर्ण तत्परता से किया गया है, अतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस आलोचनात्मक कृति से कवि आरसी की विविध काव्य-कृतियों और विचार-सरणियों का ज्ञान पाठक को प्राप्त हो जाता है।

नवीन कवियों की कृतियों की आलोचना प्रायः दो उद्देश्यों से की जाती है—प्रथम सहानुभूतिपूर्ण आलोचना द्वारा कवियों को प्रोत्साहित करना, द्वितीय उसकी रचनाओं में पाठकों की अभिरुचि जाग्रत करना। कवि आरसी के सहानुभूतिशील आलोचक का उद्देश्य इससे इतर प्रतीत नहीं होता। प्रथम उद्देश्य की सफलता के सम्बन्ध में तो कवि ही बता सकता है कि उसे अपनी इस आलोचना से कितना प्रोत्साहन और सन्तोष प्राप्त हुआ है। पुस्तक के दूसरे उद्देश्य की सफलता में कुछ बाधाएँ स्पष्ट हैं।

कवि की काव्य-प्रवृत्तियों और विचारशीलता की जैसी व्याख्या की गई है, उससे पाठक के मन में कवि के प्रति भ्रामक धारणा उपजने की बहुत सम्भावना है। पुस्तक पढ़कर यही लगता है कि कवि, जैसे युग के सभी प्रवाहों में बहकर, सभी स्वरों में स्वर मिलाकर अथवा सामयिक

---

१. **लेखक—कृष्णकुमार श्रीवास्तव, प्रकाशक—कृष्णकुन्ज, फ़ैज़ाबाद।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबल स्वर का सहयोगी बनकर अपना कवि-धर्म निभा रहा है। जैसे उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में निजत्व की कहीं कोई स्पष्ट छाप ही न हो। मानो उसकी सम्पूर्ण साधना का यही रूप है—यही विशिष्टता। आलोचक, कवि की स्वानुभूति से अनुप्राणित अभिव्यंजना की विशिष्टता को बहुत कम स्पष्ट कर सका है। कवि के विचार-सौन्दर्य और प्रगतिवादिता के महत्त्व का प्रतिपादन जितनी तत्परता से किया गया है, उतनी तत्परता से कवि की अनुभूति-प्रवणता का निरूपण नहीं हो सका है। इसके अतिरिक्त कवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण धारणा बनने का एक और भी कारण है। विज्ञ आलोचक ने कवि के नितान्त विरोधी विचारों की व्याख्या तो की है किन्तु इसके कारण का विश्लेषण करके किसी प्रकार का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। किसी कवि की रचनाओं में दो नितान्त विरोधी विचारों का समर्थन न तो अस्वाभाविक ही होता है, न एकदम अनुचित ही। यह तो ठीक है कि कवि की कृतियों में इसी रूप में दोनों विरोधी बातों को स्थान मिला है। किन्तु क्या यही बात कवि की अस्थिर विचार-वृत्ति—अथवा निजत्वहीन—प्रभावशील प्रकृति की सूचक नहीं, जो सामान्य पाठक की दृष्टि में अश्रद्धा का कारण बन सकती है ? इसीलिए कवि के ऐसे विरोधी विचारों का व्याख्यात्मक परिचय देना ही पर्याप्त नहीं होता; इस विरोध के अन्तर्भूत कारण को भी समझना-समझाना चाहिए। यदि कवि आरसी के आलोचक ने कवि की इस विरोधात्मक विचारशीलता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके विचारों के विकास-क्रम का निरूपण किया होता तो पाठक के हृदय से कवि के प्रति उठने वाली अश्रद्धा का निराकरण होना सहज होता। कवि की रचनाओं में पाठकों की रुचि को सजग बनाये रखने के लिए, कवि की विचारशीलता और विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या से अधिक उसकी भाव-प्रवणता और अनुभूति-सजगता का विशदीकरण आवश्यक होता है, जिसका 'कवि आरसी की काव्य-साधना' में अभाव तो नहीं, पर कमी अवश्य है। कवि की अनुभूति-प्रवणता में यदि स्वानुभूति का बल है तो, चाहे शुद्ध अध्यात्मवादी तथ्य से अनुप्राणित हो, या घोर भौतिकतावादी सत्य से, वह सहृदय को सहज ही प्रभावित करेगी। स्वानुभूति सफल काव्य की अमर चेतना है जिसकी कुशल अभिव्यंजना में अनुरंजनकारी गुण स्वतः विराजता है। अतः आलोचक को कवि की रचनाओं के ऐसे स्थलों को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए। आलोचक ने कवि के इस पक्ष के स्पष्टीकरण की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है। फलस्वरूप पाठक की अभिरुचि कवि की विभिन्न कृतियों की सतह पर उतरकर भटक-सी जाती है। अतः अभिप्रेत उद्देश्य की सिद्धि कठिन-सी हो गई है। फिर भी कवि की प्रमुख प्रवृत्तियों के सामान्य परिचय की दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है। लेखक की भाषा सरल तथा शैली सुबोध है।[1]

---

१. लेखक—प्रताप साहित्यालंकार, प्रकाशक—तारा मण्डल, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय

देश की हत्या

लेखक — गुरुदत्त, प्रकाशक — भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली।

इस उपन्यास का कथानक १९४७ के देश-विभाजन पर आधारित है। लेखक ने उस समय की अनेक घटनाओं को लेकर उनकी विवेचना तथा विश्लेषण किया है। वह पहले गांधीवाद का प्रशंसक था। किन्तु पिछले लगभग तीस वर्षों का राजनीतिक इतिहास, लेखक की दृष्टि में, इस बात का साक्षी है कि गांधीजी तथा उनके नेतृत्व में काँग्रेस की सभी नीतियाँ देश के लिए हितकर सिद्ध नहीं हुईं। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-सम्बन्धी नीति ऐसी ही है जिसके बारे में देश के विद्वानों में काफ़ी मत-भेद है। पिछले लगभग पचास वर्षों का इतिहास यह बतलाता है कि किसी-न-किसी प्रकार अल्प-संख्यकों के साथ रियायत करके देश में स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया जाता था। इस नीति के फलस्वरूप बहुसंख्यकों के हितों को आघात भी पहुँचा। यही दृष्टिकोण देश के विभाजन के समय था और इसी दृष्टिकोण ने वह विभ्रम और दूषित वातावरण उत्पन्न किया जिसमें गांधीजी की हत्या का जघन्य कार्य किया गया। श्री गुरुदत्त ने अपने इस उपन्यास के 'पाप का प्रायश्चित', 'डायरेक्ट एक्शन लाहौर में', 'जौहर', 'प्रतिकार', 'भारत की ओर प्रयाण' और 'हत्या' नामक परिच्छेदों में मुस्लिम लीगी और काँग्रेसी नीति के फलस्वरूप उत्पन्न भीषण आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों तथा घटनाओं का विवरण प्रस्तुत किया है और अपनी दृष्टि से उनकी समीक्षा की है। हम उनके मत और निष्कर्षों से असहमत हैं, किन्तु उपन्यास भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रेरणा देता है। इस समस्या से बचने या उसे टाल देने से काम नहीं चल सकता। प्रस्तुत उपन्यास भविष्य के इतिहास-लेखकों के लिए बहुमूल्य सामग्री संकलित करता है। भले ही हम लेखक के दृष्टिकोण और समस्या के विश्लेषण से सहमत न हों, उसका यह उपन्यास आधुनिक काल के इतिहास के लिए निश्चित रूप से उपयोगी सिद्ध होगा।

पंजाब के भीषण नर-हत्या-काण्ड के बीच चेतनानन्द, महेश, पार्वती, रामचन्द्र राव, नीना, राधा, जगदेवसिंह आदि वे आदर्श स्त्री-पुरुष हैं जिन्होंने अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर पीड़ित मानवता की सहायता की थी। काँग्रेस की 'दब्बू नीति' की परवाह न करते हुए उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया। उपन्यास में वर्णित प्रेम लोक-सेवा के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। चेतनानन्द तथा उसके साथियों को इतिहास स्मरण करेगा। प्रस्तुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास का निस्सन्देह ऐतिहासिक महत्त्व है। लेखक ने उसके कलात्मक पक्ष की ओर और ध्यान दिया होता तो अच्छा था। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है, किन्तु, 'मैंने जाना है' जैसे प्रयोग हिन्दी की दृष्टि से अशुद्ध हैं।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

राधा और राजन

लेखक—बलभद्र ठाकुर, प्रकाशक—ग्रामोत्थान द्यापीठ, संगरिया।

इस उपन्यास का राजनीतिक के साथ सांस्कृतिक महत्त्व भी है। राजन विदेशी शासन-सत्ता को मिटाने के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाला देश-भक्त है। उपन्यास-घटना-काल सन् १९२६ से सन् १९४० के बीच का है। राजन कुरूप है, किन्तु वह मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति है। राजनीतिक दृष्टि से गान्धीजी के आन्दोलन में भाग लेने पर भी वह अहिंसावादी नहीं है। सांस्कृतिक दृष्टि से वह भारतीय रीति-नीति, आचरण, सहज सरलता आदि का पक्षपाती है, किन्तु वह पोंगा-पन्थी नहीं है और हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव का हामी नहीं है। काशीनाथ और राधा के साथ उसकी घनिष्टता है, तो रहीमखाँ तथा उसके परिवार को वह अपना ही परिवार समझता है। आगे चलकर राजन एक समाज की स्थापना करता है। समाज में **'पोंगापन्थी के लिए गुन्जाइश नहीं। न वह आर्य-समाज है, न देव-समाज और न अग्नि-समाज। वह तो केवल 'समाज' है—मानव-मात्र का समाज। जाति-धर्म की सीमाओं से परे भावी समाज का एक आदर्श-मात्र।'** समाज का आदर्श है—**'अपने-अपने व्यक्तित्व में बँधे रह कर भी अपने समस्त स्वार्थ को समाज के हित पर उत्सर्ग कर देना।'** यह आदर्श कम्युनिस्ट लेखकों के लिए सोचने की प्रेरणा दे सकता है। राज-सत्ता का प्रहार सहन करके वह फाँसी के तख्ते पर झूल जाता है। वह मनुष्य की तरह जिया और मनुष्य की तरह मरा।

लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी है—सभी विचारधाराएँ अन्तिम परिणाम की दृष्टि से आदर्शवादी होती हैं। किन्तु उसने समाज का जो आदर्श पाठकों के सामने रखा है वह आज की दो विचारधाराओं के संघर्षपूर्ण वातावरण में विचारणीय है। सांस्कृतिक दृष्टि से लेखक ने यूरोपीय रहन-सहन, रीति-रस्म और आचार-विचारों का खोखलापन, उनकी कृत्रिमता आदि का चित्रण किया है—काशीनाथ, लूथरा आदि के माध्यम द्वारा। लेखक के अनुसार राधा और काशीनाथ अन्त में उस कीचड़ से निकल आते हैं। किन्तु लेखक का यह दृष्टिकोण विवादास्पद है।

कला की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास भी श्रेष्ठ रचना नहीं है। भाषा शिथिल और कथोपकथन अनावश्यक रूप से विस्तृत है। कहीं-कहीं तो अनावश्यक बातों का भी वर्णन कर दिया गया है। आर्य-समाज और बौद्ध-धर्म की आलोचना करते समय लेखक को कुछ और संयम से काम लेना चाहिए था। अन्त में एक असंगति की ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। 'निवेदन' में उपन्यास का घटना-काल १९२६ और १९४० के बीच का बताया गया है। किन्तु पृष्ठ ४४ पर उसने 'हिन्दुस्तान के दो टुकड़े' हो जाने तथा तत्सम्बन्धी कुछ बातों का उल्लेख किया है। अगले संस्करण में इस दोष का निवारण हो जाना चाहिए।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतेन्दु कृत चन्द्रावली नाटिका

सम्पादक—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

श्री 'चन्द्रावली नाटिका' भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की एक मौलिक अमर रचना है। प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन हिन्दी के एक सुयोग्य एवं अधिकारी विद्वान् डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने किया है। सम्पादक महोदय ने आरम्भ में ४० पृष्ठों की भूमिका में नाटिका-सम्बन्धी विविध समस्याओं पर विद्वत्तापूर्वक पर्याप्त प्रकाश डाला है। भूमिका के उपरान्त नाटिका का अविकल मूल पाठ दिया गया है। अन्त में क्लिष्ट शब्दों के अर्थों की एक टिप्पणी जोड़ दी गई है, जिससे नाटिका साधारण पाठक के लिए भी अधिक बोधगम्य हो गई है।

—डॉक्टर टीकमसिंह तोमर

शिवालक की घाटियों में

लेखक—विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

श्री निधिजी आरण्यक संघ के प्रमुख मेम्बर हैं। निधिजी ने देहरादून के आस-पास स्थित 'शिवालक की घाटियों में, जो कुछ घूम-घामकर देखा तथा अनुभव किया है वही इस पुस्तक का वर्ण्य विषय है। ये निबन्ध बड़े ही रोचक, रोमांचकारी तथा भावपूर्ण हैं। शैली के निखार के कारण ये निबन्ध यात्रा-साहित्य की हृदयग्राही स्थायी सम्पत्ति हैं। लेखक ने सच्चे यायावर के रूप में जंगल के सौन्दर्य और उसके जीवन के उल्लास का आनन्द रसग्राही बनकर ग्रहण किया है। वन-जीवन के प्रति अडिग विश्वास के साथ लेखक कहता है—**"हमें वनों को संसार की दिव्यतम विभूति मानकर ही उनमें प्रवेश करना होगा। वन-देवता को अप्रसन्न करने का एक भी कार्य वहाँ न होना चाहिए। वन-भूमियाँ सौन्दर्य के अक्षय भण्डार हैं; अहिंसा, प्रेम और शान्ति के प्रतीक हैं; वैराग्य के उद्दीपक हैं; आनन्द के स्रोत हैं; पवित्रताओं के निकेतन हैं.... उनके लिए हमारे हृदय में ऐसी ही सम्मान-भावना रहनी चाहिए। तभी तो रस आयगा।"**

प्रकृति के टेढ़े-मेढ़े रास्ते, ऊँचे-नीचे पर्वत और घाटियाँ, नदियों की तीव्र गति तथा समुद्र का तूफ़ान इनके डर के कारण नहीं हैं बल्कि ये सब वस्तुएँ—यह वातावरण इनके भावों को और उद्दीप्त करता है। कठोर जीवन व्यतीत करने में ही ये रस पाते हैं। जंगल में छोटे-बड़े सभी प्रकार के जीव-जन्तु तथा पशु एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। साधारणतः जानवरों को मूर्ख समझा जाता है किन्तु जानवर कितने अक़्लमन्द होते हैं, किस प्रकार एक-दूसरे को घेरते हैं, किन-किन उपायों से अपनी आत्म-रक्षा करते हैं, उनमें किस प्रकार का प्रेम तथा जातीय एकता होती है, यह सब हम इस पुस्तक से समझ सकते हैं।

यदि इस पुस्तक की घटनाएँ सच्ची न भी होतीं, तो भी वातावरण की सजीवता, घटनाओं की मार्मिकता तथा शैली के निखार के कारण यह पुस्तक अपने-आपमें पूर्ण सफल होती और पाठकों को पूर्ण रूप से आनन्द पहुँचाती। किन्तु इन सब घटनाओं के सच्चे होने के कारण स्थल-स्थल पर शरीर रोमांचित हो उठता है। लेखक ने suspense निरन्तर बनाये रखा है; इससे ये वर्णन और भी सजीव हो गए हैं। 'हरिण का बलिदान', 'हाथी की प्रेमिका' तथा 'दुखद अन्त' इन तीन निबन्धों में लेखक ने पशुओं के प्रेम का जो चित्रण किया है, वह कितना निःस्वार्थ, गहरा तथा आदर्श है, यह उनके निरीक्षण करने पर ही जाना जा सकता है। पशु-जीवन में जो पारिवारिक स्नेह तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्सर्ग का भाव इन यात्रा-वर्णनों में चित्रित किया गया है, वह अपनी अन्तर्दृष्टि तथा सहानुभूति में अनुपम बन पड़ा है। हरिणी तथा हथिनी के चरित्रों का वर्णन बहुत सजीव शैली में अंकित किया गया है। इनका जीवन भी पारिवारिक स्नेह में पलता है। एक-दूसरे के प्रेम तथा प्राणों की रक्षा के लिए तन-मन से लगे हुए हैं और उसी प्रेम के सम्मुख अपने प्राण तक खो देते हैं।

'शेष यात्रा' में निधिजी ने गंगाजी की चार-पाँच धाराओं, घने जङ्गलों, पथरीले-रेतीले मैदानों और कंटीले झाड़-झंखाड़ों के मार्ग का सजीव चित्रण तो किया ही है किन्तु इसमें दो घटनाएँ इतनी भयानक हैं कि मन एक बार ही भय से रोमांचित हो जाता है। 'दैत्य की गुफा' में आरण्यक संघ के आठों मेम्बरों द्वारा खूनी रीछ का ढूँढ़ना तथा रीछ को भालों से मारना, 'जलदस्यु' में कुमार के मगरमच्छ के फन्दे में फंसे रहने पर भी होश में रहना, शेर का मचान की छत पर छलांग मारना—ये सब आश्चर्य में डालने वाली रोमांचक घटनाएँ हैं। ये सब घटनाएँ कभी-कभी तो कल्पना द्वारा लिखी गई जान पड़ती हैं।

'मल्लयुद्ध' में गोह और अजगर के मल्ल-युद्ध का वर्णन अत्यन्त सजीव है। गोह और अजगर के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म हाव-भाव तथा चेष्टा को काव्यमयी भाषा में व्यक्त किया गया है।

'प्रणाम, हे कण्वाश्रम' में लेखक ने कितनी ही छोटी-छोटी घटनाओं को लिया है। आरण्यक संघ वाले जङ्गल के जीवन का रहस्य जानना चाहते हैं। अतः जहाँ उन्हें किसी भी प्रकार का कोई चिह्न मिलता है तो सम्बन्ध अन्यान्य बातों तथा घटनाओं से लगाने में तनिक भी नहीं थकते हैं। इसी में उनको आनन्द आता है। कण्वाश्रम-सम्बन्धी अनेक खोजपूर्ण बातें लिखकर अन्त में लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हस्तिनापुर के पास जो चौकी घाटी है, वही अतीत काल में कण्वाश्रम रहा होगा और इसीका वर्णन कालिदास ने अपनी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में किया है। जयहरी के आस-पास वाला कण्वाश्रम उनके मत में ठीक नहीं है।

इस प्रकार यह पुस्तक अत्यधिक रोचक, रोमांचकारी तथा जंगल के उपयोगी रहस्यों का उद्घाटन करने वाली है। जङ्गल के सौन्दर्य और उसके जीवन के सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण है। आरण्यक संघ के कार्य, साहस और लगन सराहनीय हैं। इस पुस्तक की घटनाएँ सच्ची होने के कारण यह अपने-आपमें नवीन और हिन्दी साहित्य के लिए अमर देन है।

—विन्दु अग्रवाल

साहित्य-साधना की पृष्ठ-भूमि

लेखक—बुद्धिनाथ झा 'कैरव', प्रकाशक—ज्ञानपीठ लिमिटेड, पटना ४।

कैरव ने साहित्य को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके पहले उसकी व्याख्या और समीक्षा की है। धर्म, विज्ञान, जीवन और दर्शन को साहित्य-साधना की पृष्ठ-भूमि बतलाया है और इसके उपरान्त के रस-छन्द-अलंकार, कविता, कहानी, उपन्यास और नाटकों के उद्भव, विकास और प्रवृत्तियों की चर्चा की है। पर रस-छन्द-अंलकार खण्ड को छोड़कर अन्य खण्डों के विवेचन में उदाहरणों का नितान्त अभाव है और विवेचना भी बहुत हल्के ढंग से की गई है।

इधर हिन्दी-साहित्य ने गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में काफी उन्नति की है तथा कई नवीन शैलियों, पद्धतियों और रूपों का समावेश हो गया है। पर लेखक ने इनकी कोई चर्चा नहीं की। पुस्तक के आरम्भ में, प्राक्कथन में ही, लेखक ने यह स्वीकार कर लिया है कि ग्रन्थ सन् १९४२ के जेल-जीवन-काल में लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया था। तदनन्तर वर्षों तक कार्याधिक्य के कारण पड़ा रहा और बिना संशोधन के ही प्रकाशित हो गया।

इस जल्दबाजी में नवीनतम साहित्य-रूपों की चर्चा का अभाव खटकने लगता है। अंकन की अशुद्धियाँ भी पर्याप्त हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जितना व्यापक क्षेत्र उन्होंने लिया है उसका वे निर्वाह नहीं कर पाए हैं।

—हेमलता जनस्वामी

साहित्य-विवेचन

लेखक—क्षेमचन्द्र 'सुमन' और योगेन्द्रकुमार मल्लिक, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

क्षेमचन्द्र 'सुमन' और योगेन्द्रकुमार मल्लिक ने सम्मिलित प्रयत्न से साहित्य का नवीनतम विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें लेखकद्वय ने हिन्दी की नवीनतम प्रवृत्तियों की—जैसे गद्य-गीत, स्केच, रिपोर्ताज, समालोचना, जीवनी, संस्मरण—सम्यक् समीक्षा की है। पुस्तक आदि से अन्त तक परिभाषाओं, विविध लेखकों के मत और मतभेदों तथा उदाहरणों से परिपूर्ण है। तुलनात्मक दृष्टि से पिछली पुस्तक की अपेक्षा इसमें भाषा अपेक्षाकृत सरल, रोचक और शैली प्रवाहयुक्त है। अंकन की अशुद्धियाँ काफी कम हैं। गेट-अप अच्छा है।

आज जब हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत हो गया है, तब अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के लिए ऐसी पुस्तकें बड़ी उपादेय हैं। पर साथ ही इन लेखकों ने अपने ग्रन्थ का शीर्षक 'साहित्य' से प्रारम्भ न करके 'हिन्दी-साहित्य' से प्रारम्भ किया होता तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि साहित्य का अर्थ केवल 'हिन्दी-साहित्य' ही तो नहीं है।

'साहित्य-विवेचन' के लेखकों ने पाश्चात्य साहित्य और हिन्दी पर उसका प्रभाव प्रदर्शित किया है। पाश्चात्य साहित्य ने भारत के प्रायः सभी प्रान्तीय साहित्यों को प्रभावित किया है। अतः ऐसे ग्रन्थों में, जिनमें 'साहित्य' शब्द व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, भारत के विभिन्न प्रान्तीय साहित्यों का भी तुलनात्मक उल्लेख आवश्यक लगता है, क्योंकि सुमन जी और मल्लिक जी ने अपनी पुस्तक हिन्दी की नई पीढ़ी को समर्पित की है, जिसे अपनी समधीत समीक्षाओं से सुदृढ़ साहित्य का निर्माण करना है। हिन्दी की नई पीढ़ी का अध्ययन-क्षेत्र अब बढ़ गया है। समग्र भारत की भाषा हिन्दी है, अतः भारतीय सभ्यता और संस्कृति की छाप लिये और उसीके अंक में पलने वाला साहित्य इस नई पीढ़ी के अध्ययन का क्षेत्र होगा।

'साहित्य-विवेचन' में हिन्दी-साहित्य की नवीनतम धारा का निर्वाह नहीं है, और वह है रेडियो के लिए लिखित साहित्य और पद्धतियाँ। रेडियो नाटक और एकांकी, रेडियो उपन्यास, एकालाप और कहानी साहित्य के नये अंग होंगे। इनकी अपनी अलग टेकनीक है।

—हेमलता जनस्वामी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

१. गीतम : श्री वीरेन्द्र मिश्र, ज्ञानवीर बन्धु कार्यालय, लश्कर, ग्वालियर। **२. बनवासी भारत** : श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित, श्रीमती कृष्णा दीक्षित, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। **३. अमर बेल** : श्री वृन्दावनलाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी। **४. धरती की करवट** : 'फिराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। **५. जंजीरें टूटती हैं** : 'फिराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। **६. राग-विराग** : 'फिराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। **७. हिन्दू-विवाह में कन्या-दान का स्थान** : श्री सम्पूर्णानन्द, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। **८. खेल-खिलौने** : श्री राजेन्द्र यादव, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। **९. जिन्दगी मुस्कराई** : श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। **१०. भारतीय शिक्षा-सिद्धान्त** : डॉ० सुबोध अदावाल, गर्ग ब्रदर्स, प्रयाग। **११. हिन्दी कहानियों में शिल्प-विधि का विकास** : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग। **१२. शब्दों का जीवन** : श्री भोलानाथ तिवारी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। **१३. मेघदूत** : श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। **१४. तेलुगु और उसका साहित्य** : श्री हनुमच्छास्त्री 'अयाचित', सम्पादक—श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। **१५. मालवी और उसका साहित्य** : श्री श्याम परमार, सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। **१६. लोहे की दीवार के दोनों ओर** : श्री यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ। **१७. रूसी क्रान्ति के अग्रदूत** : श्री राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। **१८. युग पुरुष राम** : श्री अक्षयकुमार जैन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। **१९. तुलसी और उनका काव्य** : श्री सत्यनारायणसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। **२०. विन्ध्य-भूमि की लोक-कथाएँ** : श्रीचन्द्र जैन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। **२१. सुन्दर कहानियाँ** : श्री राजबहादुरसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। **२२. बाल मेला** : श्री शम्भूनाथ 'शेष', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

पुस्तकालय
८८४२७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-माला

हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियाँ २)

हिन्दी उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, हिन्दी कहानी, हिन्दी नाटक, हिन्दी निबन्ध, हिन्दी आलोचना।

नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, ठाकुरप्रसादसिंह, बच्चनसिंह, विजयशंकर मल्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी। भूमिका—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ २)

रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रतीकवाद।

प्रभाकर माचवे, डॉ० जगदीश गुप्त, विजय चौहान, नामवरसिंह, राजनारायण बिसारिया। भूमिका—डॉ० रघुवंश।

हिन्दी के गौरव-ग्रन्थ २)

पृथ्वीराज रासो, सूर सागर, रामचरित मानस, बिहारी सतसई, कामायनी, गोदान।

डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी, डॉ० सत्येन्द्र, रांगेय राघव, विश्वम्भर 'मानव', विजयेन्द्र स्नातक, गोपालकृष्ण कौल। भूमिका—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा।

हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ २)

आधुनिक आलोचना का उदय और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, शुक्लोत्तर समीक्षा, श्री गुलाबराय की समीक्षा-पद्धति : एक मूल्यांकन, वाजपेयीजी की समीक्षा-पद्धति, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा की मानवतावादी भूमि, वर्तमान हिन्दी-आलोचना : उपलब्धि और अभाव।

शिवनाथ, डॉ० जगदीश गुप्त, विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, शम्भूनाथ सिंह, नलिनविलोचन शर्मा। भूमिका—डॉ० देवराज।

पाश्चात्य आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ ३)

पाश्चात्य समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्तियाँ, हीगेल का कला-सिद्धान्त, मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति, इतिहास की मार्क्सोत्तर व्याख्याएँ और साहित्य-दर्शन, प्रतीकवाद की स्थापनाएँ, अतियथार्थवाद, बेलिन्स्की की मान्यताओं का विकास, आई० ए० रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धान्त, टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त, अंग्रेजी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी।

जयकान्त मिश्र, डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा, विजयदेव नारायण साही, हर्षनारायण, राजनारायण बिसारिया, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रामअवध द्विवेदी, केशव आनन्द, यदुपति सहाय। भूमिका—प्रो० एस० सी० देव।

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचना, साहित्य, संस्कृति

हिन्दी-साहित्य में विविध वाद : डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल ६)
भारतीय साधना और सूर-साहित्य : डॉ० मुन्शीराम शर्मा ८)
शरतचन्द्र, चिन्तन और कला : डॉ० इन्द्रनाथ मदान २॥)
भाषा, साहित्य और संस्कृति : डॉ० रामविलास शर्मा ४॥)
महादेवी : विचार और व्यक्तित्व : शिवचन्द्र नागर ३)
हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : टीका : आचार्य विश्वेश्वर १२)
अनुसन्धान का स्वरूप : डॉ० सावित्री सिनहा ३)
भारत की मौलिक एकता : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ४)

उपन्यास

बाहर-भीतर : डॉ० देवराज १॥।=)
बाबा बटेसरनाथ : नागार्जुन १॥।=)
उबाल : डॉ० रांगेय राघव १॥।≡)
देवकी का बेटा : ,,
यशोधरा जीत गई : ,, ३)
लोइ का ताना : ,, ३)
शराबी : पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ३)
मानव की परख : देवीदयाल सेन ३)
काले बादल : जॉन किन ४)
आग और पानी : तेजबहादुर चौधरी २।)
राग और त्याग : कमल शुक्ल ५)
आधा इन्सान : ख्वाजा अहमद अब्बास २।)
हवेली की ईंटें : श्रीचन्द्र अग्निहोत्री ३॥)
रजनीगन्धा : दयाशंकर मिश्र ३)

कहानियाँ

बंगला की आधुनिक श्रेष्ठ कहानियाँ : मृदुलादेवी ६॥)
पंजाब की कहानियाँ : बलवन्तसिंह ३)
काश्मीर की कहानियाँ : कृष्णचन्द्र ३)
बिखरे मोती : सुभद्राकुमारी चौहान २॥)
चचा छक्कन : इम्तियाज अली ताज १॥)

कविता

नयी कविता : १ : सं० डॉ० जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी २)
वर्षान्त के बादल : 'अंचल' ३)
शेर-ओ-सुखन : भाग २ : अयोध्याप्रसाद गोयलीय ३)
शेर-ओ-सुखन : भाग ३ : ,, ३)
मुकुल : सुभद्राकुमारी चौहान २॥)
प्रभात फेरी : नरेन्द्र शर्मा २)
कामिनी : नरेन्द्र शर्मा १)
कवि भारती : सं० पन्त, नगेन्द्र, राव १२)

विविध

स्वप्नसिद्धि की खोज में : कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ५)
बेनीपुरी ग्रन्थावली : श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी १२॥)
शरत्-निबन्धावली : शरत्चन्द्र चटर्जी १॥)
बदलते दृश्य : राजवल्लभ ओझा ५)
भारतीय कसीदा : जगदीश मित्तल, कमला मित्तल १५)
हिन्दू-विवाह में कन्या-दान का स्थान : सम्पूर्णानन्द १)
मन की बातें : गुलाबराय ३)
चीनी जनता के बीच : जगदीशचन्द्र जैन ४)
आधुनिक पत्रकार-कला : रा० र० खाडिलकर ३॥)
भारतीय पत्रकार-कला : रौलैण्ड ई० वूल्सले ६)
समाचारपत्रों का इतिहास : अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ६)
दीपदान : डॉ० रामकुमार वर्मा ३)
बृहद् पर्यायवाची कोष : भोलानाथ तिवारी २)

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली—बम्बई

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादन-समिति
डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश
डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

२२ आलोचना

R
८४
दि ३७ आ
अं-२२

...त्यकार और उसका परिवेश — सम्पादकीय
...-उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य — इलाचन्द्र जोशी
...ठी रस-मीमांसा : नई दिशाएँ — प्रभाकर माचवे
साहित्य की नई मर्यादा — डॉ० धर्मवीर भारती
वेद में गीति-काव्य का उद्गम — बलदेव उपाध्याय
वीरगाथा का विरोध क्यों ? — चन्द्रबली पाण्डे
सन्त-सम्प्रदायों की राजनीतिक परिणति — रामचन्द्र तिवारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

राजकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक ३ पूर्णाङ्क ११ अप्रैल, १९५४

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ३)

सूची

▲**सम्पादकीय**

—साहित्यकार और उसका परिवेश ... १

▲**निबन्ध**

—विश्व-उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य : इलाचन्द्र जोशी --- ६

—मराठी रस-मीमांसा : नई दिशाएँ : प्रभाकर माचवे --- २७

—साहित्य की नई मर्यादा : डॉ० धर्मवीर भारती --- ३५

—वेद में गीति-काव्य का उद्गम : बलदेव उपाध्याय --- ४८

▲**अनुशीलन**

—वीरगाथा का विरोध क्यों ? : चन्द्रबली पाण्डे --- ६३

—सन्त-सम्प्रदायों की राजनीतिक परिणति : रामचन्द्र तिवारी ६९

▲**मूल्यांकन**

—आधुनिक हिन्दी-काव्य का एक विशिष्ट आध्यात्मिक स्वर : डॉ० जगदीश गुप्त --- ७४

—माता भूमि, डॉ० भगवत शरण उपाध्याय --- ८४

—सार्थवाह : वासुदेव उपाध्याय ८६

—जिप्सी : गंगाप्रसाद पाण्डेय ९१

—दखिनी हिन्दी का उद्भव और विकास : मातावदल जायसवाल --- ९५

—साहित्य-शास्त्र की तुलनात्मक विवेचना और इतिहास : परशुराम चतुर्वेदी --- १००

—मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ : डॉ० शैलकुमारी --- १०३

—निराशावादी यथार्थ और कल की आशा : राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश १०५

—सन्त-काव्य का अध्ययन : डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित १०९

—शिक्षा, साहित्य और जीवन : मोतीसिंह --- ११२

—भूषण का जीवन-वृत्त और साहित्य : प्रभुदयाल मीतल --- ११४

—विश्वधर्म-दर्शन पर एक दृष्टि : डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र --- ११८

—हमारे साहित्य में हास्यरस : केशवचन्द्र वर्मा --- १२२

—कवि आरसी की काव्य-साधना : माया भटनागर --- १२३

▲**परिचय** --- १२५

▲**प्राप्ति-स्वीकार** --- १३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

R
२८
दि २-७-७०
अं ११
गुरुकुल कांगड़ी

सम्पादकीय

साहित्यकार और उसका परिवेश

सम्भवतः भविष्य के इतिहासकार कहेंगे कि हम ऐसे युग में पैदा हुए जब भारतवासी, एक रहस्यवादी आस्था, वेदना, और शायद विनाश-भय की मिली-जुली भावनाओं के साथ, अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अन्वेषण में लगे हुए थे। इसके पहले हमने इतिहास को केवल मुर्दों की कथा के रूप में पढ़ा था। कभी-कभी हमने असहाय अपने ऊपर इतिहास की प्रक्रिया का भी अनुभव किया था। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद, योरप और अमरीका के बढ़ते हुए तनाव के बीच हठात् हमने अनुभव किया कि इतिहास के कारवाँ की घण्टियाँ हमारे लिए भी बज रही हैं। इसका युग नहीं रह गया कि इतिहास हम पर अमल करे; समय की चकाचौंध करने वाली माँग थी कि हम इतिहास पर अमल करें। एक चुनौती, और सम्भवतः आत्मरक्षा की आवश्यकता ने हमें चौंका दिया कि केवल मुर्दों के लिए ही 'ऐतिहासिक' होना यथेष्ट नहीं है। इतिहास ने हमें आत्मसात् कर लिया। जिस वस्तु का हम स्पर्श करते थे, जिस हवा में हम साँस लेते थे, जिन पृष्ठों को हम पढ़ते-लिखते थे, जिन शब्दों को हम गढ़ते थे, सबमें एक ही प्रश्न व्याप्त हो गया—हमारा ऐतिहासिक व्यक्तित्व क्या है?

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय अर्धांश के आरम्भ होते ही हमारे विचारों से यह प्रश्न बड़े वेग से आ टकराया। यह नहीं कि यह प्रश्न नया था। घुमा-फिराकर हर युग अपने विचारकों और साहित्यकारों से यही प्रश्न पूछता है। परन्तु हर युग में उसका स्वरूप भिन्न होता है। साहित्यकार के लिए उस प्रश्न का रूप खोज निकालना और उसका उत्तर देना, यही सबसे बड़ा उत्तरदायित्व होता है। हो सकता है कि उसका सारा जीवन अनपूछे प्रश्न का ही उत्तर देने में समाप्त हो जाय—इस दशा में साहित्यकार के समकालीन उसे समझ ही नहीं पाते। कभी-कभी कोई महान् प्रतिभा ऐसी भी जन्म लेती है कि उसका उत्तर शताब्दियों तक सही और गूँजने वाला बना रहता है। ऐसा इतना कम होता है कि साधारणतः इसकी आशा करना या इसके लिए तैयारी करना व्यर्थ ही होता है। यह भी असम्भव नहीं है कि कोई साहित्यकार अपना सारा जीवन केवल इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्वेषण में बिता दे कि प्रश्न असल में क्या है और किस रूप में पूछा जा रहा है। शायद हम ऐसे ही युग से गुजर रहे हैं। एक ओर तो अप्रत्याशा और स्पष्टता के साथ तीखी अनिवार्यता है : युग के प्रश्न को वाणी देनी ही होगी। दूसरी ओर मन को पथरा देने वाला यह अनुभव, कि कभी भी हमारे लिए यह प्रश्न और उसका उत्तर, इतना घुमावदार, धुँधला और अनिश्चत नहीं था।

हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में छोटे साहित्यकारों की भारी भीड़, जो अपना मार्ग टटोलता हुई-सी दीखती है, इसी स्थिति का कारण और परिणाम दोनों ही है। प्रश्न का स्वरूप स्थिर करने में हम सफल होंगे या नहीं, या हमारा उत्तर सटीक होगा या नहीं, केवल इस कसौटी पर आज के साहित्यकार को कसना ग़लत होगा। क्योंकि समस्या सारे देश की है, और उसके कारण संसार-भर में व्याप्त है। हमारे समकालीन साहित्य की निर्णयात्मक कसौटी इस बात में है कि कितने साहस और ईमानदारी के साथ हमारे साहित्यकारों ने प्रश्न को पूछने की चेष्टा की है।

ईमानदारी और साहस—क्योंकि वस्तुतः हमारे साहित्यकारों में अभाव ईमानदारी का नहीं है। देखना यह है कि क्या हमारा साहस भी ईमानदारी के बराबर है? क्या हमारे लेखक अपने को, अपनी शक्ति, अपनी ख्याति, सम्मान, सम्भवतः अपने विवेक को भी, हमारे चारों ओर घिरने वाले अन्धकार को भेदने के लिए दाँव पर लगाने को तैयार हैं, ताकि वे उस प्रश्न का स्वरूप देख सकें जिसका उत्तर हमें देना है? और उससे भी आगे, इसका पता लगा सकें कि कोई उत्तर दिया भी जा सकता है या नहीं? आज के लेखक ने अपने गहन उत्तरदायित्व को किस हद तक निभाया है, और कहाँ तक उसने हिम्मत हार दी है, इस पर निर्णय देने के पूर्व हमें उस परिवेश को भी देखना होगा जिसका पाश उसके चारों ओर है। साथ ही हमें समाज के उन अंगों को भी ध्यान में रखना होगा, जिनके ऊपर आज युग के नेतृत्व का भार है। युग के अभिशाप अथवा वरदान को लेखक सबके साथ मिलकर ही झेलता है, इसमें सन्देह नहीं।

योरप के लेखकों के सामने जो प्रश्न है, उसका स्वरूप बहुत तीखा और दर्दनाक है। दूसरे महायुद्ध के पहले, स्पेनिश गृह-युद्ध के समय ऐसा लगा कि सभी कठिनाइयों का अन्तिम हल निकल रहा है। वाम और दक्षिण, उग्र और उदार के बीच की सीमा-रेखा टूटती-सी मालूम पड़ी। उत्साह और आशा के प्रवाह में जीवन के मूल्यों में समन्वय होता-सा जान पड़ा। प्रश्न सीधा और सरल हो गया : जनतन्त्र बनाम तानाशाही। यह एक महान् अनुभव था किन्तु दूसरे महायुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि यह क्षणिक समन्वय इन्द्रजाल ही था। आज योरप के लेखक के सामने स्वतन्त्रता के प्रश्न से भी अधिक आदिम, अधिक गहरी और अधिक उलझी हुई समस्या है। एक भयंकर चेतावनी है : क्या मानव जियेगा— क्या वह जी भी सकेगा या नहीं? यह सत्य है कि योरप के लेखक के उस दर्द का अनुभव हमने नहीं किया है, क्योंकि जिस तरह उसके सपने एक-एक करके टूटे हैं, जिस तरह उसके एक-एक मूल्यों में विघटन हुआ है, वह हमारे लिए कल्पनातीत है। भारत का अधिकांश विचारशील वर्ग इस पक्ष में होगा कि योरप के लेखक की समस्या उसकी अपनी है। उसके हल करने का प्रथम उत्तरदायित्व भी उसीके ऊपर है। किन्तु यह भी सत्य है कि हम उसके निरपेक्ष अथवा असहाय दर्शक-मात्र भी नहीं रह सकते, जैसा कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले सम्भव था। योरप का दर्द हमारे सामूहिक अनुभव का कोष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। योरप ने उत्थान के काल में अपने वैभव का बँटवारा समूची मानवता के साथ नहीं किया था; पतन के काल में विनाश का बँटवारा समूची मानवता के साथ न करे, इसे देखने का खतर-नाक उत्तरदायित्व हम पर आ पड़ा है। यह हमारी राष्ट्रीय भूमिका है। इसी सन्दर्भ में आज का ऐतिहासिक व्यक्तित्व निर्मित हो रहा है। क्या हमारे लेखक इस योग्य हैं, या उनके सामने इतना अवसर, इतनी सुविधा है कि वे इस उत्तरदायित्व का वहन कर सकें? क्या हमारे पास मानव-मूल्यों का कोष है, जिससे हम इस तिमिर को प्रकाशित कर सकें? क्या हम उन मूल्यों का निर्माण कर रहे हैं? और यदि इतना कुछ भी सम्भव नहीं, तो कम-से कम क्या हम उसके प्रति जागरूक हैं?

यह कहना कि हमारे साहित्यकारों ने युद्धोत्तर काल में ऐतिहासिक स्थिति के बराबर क्षमता का प्रदर्शन किया है, अतिशयोक्ति होगी; लेकिन यह बात जोर देकर कही जा सकती है, कि हमारे अधिकांश साहित्यकारों ने इतिहास के कारवाँ की घण्टियाँ सुनी हैं। निश्चय पूर्वक उन्होंने उसके स्वर को समझने का प्रयत्न किया है, लालसा, आवेग और छटपटाहट के साथ। वे शत-प्रतिशत सफल नहीं हो सके हैं, इसका कारण यह नहीं है कि वे आत्मनिष्ठ, पलायन-वादी या दिग्भ्रमित हैं, बल्कि इसलिए कि प्रश्न असाधारण, और बहुत पेचीदा है। उनकी मुक्ति और घुटन, विद्रूप और उत्साह तीखापन और रोमांस के जिस विचित्र सम्मिश्रण को स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी-साहित्य की संज्ञा दी जाती है, वह स्वाद में पहले से बहुत भिन्न है, इतना निर्विवाद है। प्रायः जिस वस्तु पर बल कम दिया जाता है, वह यह है एक अपरिचित और अप्रत्याशित स्थिति में आज का साहित्यकार बराबर अपनी औसत प्रतिक्रिया का मार्ग खोज रहा है। उपलब्धियों और पराक्रमों से उसका मूल्यांकन करना जल्द-बाजी होगी; देखने की बात यह है कि उसका प्रयास सच्चा है या नहीं। जैसा परिवेश हमारे चारों ओर है, उसमें साहित्यकार का अतिवादी हो जाना असम्भव' नहीं। अब भी अधिकांश साहित्यकार अतिवादी नहीं है, यह इस बात का सबूत है कि मूलतः हमारा साहित्यिक मानस स्वस्थ और संयत है। विरोधाभास साहित्यकार के मानस में नहीं है, विरोधाभास हमारे उस भावनात्मक परिवेश में है, जिससे साहित्यकार को जूझना पड़ रहा है। इसका मूल हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में है। उचित होगा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हम अपनी राष्ट्रीय भूमिका के भावनात्मक परिणामों की ओर दृष्टिपात कर लें।

सम्भवतः यह कहना सच होगा कि १९४७ की आजादी हमारे लिए एक अप्रत्याशित आयात के रूप में आई। कम-से-कम इतनी बड़ी आजादी के साथ जो भावनात्मक समानुपात होना चाहिए था, वह न हो सका। आजादी के तुरन्त बाद ही तीव्र गति से जो घटनाएँ घटीं और जिनकी परिणति महात्मा गांधी की हत्या में हुई, उन्होंने भी न केवल भावनात्मक सामंजस्य को कुण्ठित किया बल्कि एक दर्द-नाक ढंग से उसकी सम्भावना को भी थोड़ी देर के लिए अविचारणीय बना दिया। दो तीन वर्षों के बाद जब हम सोचने की स्थिति में हुए तो हमने देखा कि इस ऐतिहासिक संक्रमण में न हम विजेता हुए, न शहीद; न हम किसी के विरुद्ध तीखी घृणा कर सके और न किसी के सहयोग के लिए उत्कट धन्यवाद ही दे सके। यह नहीं कि इस आजादी में वे तत्त्व नहीं थे जो हमें आकर्षित करते। असल में भावनात्मक अनुभव की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई। हर क्रान्ति के साथ भावनाओं के एक वृहत् कोष का विस्फोट होता है जो पिछले सम्बन्धों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूटने के बाद नये सम्बन्धों के लिए घृणा, द्वेष, प्रेम, भय, आक्रोश, धैर्य, निष्ठा आदि को नई दिशाएँ, झटके के साथ नया आवेग, देता है। १९४७ की आजादी ने यह नहीं किया। संसार की यह सबसे अधिक पूर्वाग्रहहीन क्रान्ति थी।

किसी राष्ट्र के लिए पूर्वाग्रहहीन होना शायद सबसे खतरनाक स्थिति होती है। क्योंकि अक्सर इसकी परिणति अनास्था, अविश्वास और कुण्ठा के लांछनों में होती है। पहले के युगों में सम्भवतः इन भ्रान्त लांछनों के पीछे ईमानदारी होती थी। दुर्भाग्य से आज के युग में इनके पीछे बेईमानी की ही मात्रा अधिक है।

हमारे चारों ओर का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बहुत ही उलझा हुआ है। इतिहास ने हमें जिस भूमिका में काम करने को विवश किया है, यह किसी राष्ट्र के लिए ईर्ष्या की वस्तु नहीं हो सकती। इतना स्पष्ट है कि हमारा उद्भव एक विशिष्टता के साथ हुआ है। परम्परागत चौखटे में कसे जाने से हमारी पूर्वाग्रहहीनता ही हमें रोकती है: पूर्वाग्रहहीनता, अर्थात् द्वेषहीनता, जो आज की दुनिया में एक अकल्पनीय दोष बन गई है। इतिहास में पहली बार हमें वह मादक और गौरवपूर्ण अनुभव हो रहा है जब संसार की आँखें हमारी ओर लगी हुई हैं, आशापूर्ण, शायद उससे भी अधिक कुतूहलपूर्ण। हम यह सोचना पसन्द करेंगे कि इन आँखों में आशा ही है, कि पश्चिम ने सचमुच अपने से हार मानकर हमारा महत्त्व स्वीकार कर लिया है, लेकिन सबसे अद्भुत और वेदनापूर्ण अनुभव यह है कि आज भी इन उत्तेजित शक्तियों की सभ्यता में जिन मूल्यों का महत्त्व है, उनमें से एक भी हमारे पास नहीं है। न शक्ति है, न सैन्य है, न विश्व-विजय की आकांक्षा, न अर्थ और न शायद बौद्धिक चमक-दमक ही। कहाँ है वह हमारा ऐतिहासिक व्यक्तित्व जो धूमकेतु की भाँति हमारे इस उन्मादक अभियान की सार्थकता सिद्ध कर सके? यही वह प्रश्न है जो आज भारत के बुद्धिजीवी-वर्ग की सबसे बड़ी पहेली है। एक विचित्र विरोधाभास है: मृत्यु-पाश में गुथी हुई दो विस्फोटक शक्तियों के छोर पर खड़े होकर सीटी बजाने का अभूतपूर्व अनुभव है। हमारा आदर किया जाता है, लेकिन सत्कार की आँखों में तुच्छता की छाया नहीं छिपती। हमारी बात ध्यान से सुनी जाती है, परन्तु सलाह मानने के उद्देश्य से नहीं। हिन्दुस्तान की तूती बोल रही है, लेकिन दुनिया के नक्कार खाने में।

भावनात्मक रूप से हम इस वातावरण से दूर हैं। न तो हम उनकी आत्मघाती छटपटाहट की सार्थकता, या अनिवार्यता ही समझते हैं, और न वे हमारी पूर्वाग्रह हीनता की भाषा को ही। किन्तु भौतिक रूप से हम उसमें उलझे हुए हैं। यह सम्पर्क भी एक विचित्र विरोधाभास को जन्म देता है। हमारा देश नया, कमजोर और आकांक्षाओं से भरा हुआ है। इस 'ठण्डे युद्ध' में हमारे लिए तो दोनों ओर से खतरा है। इस 'ठण्डे युद्ध' की समाप्ति शायद तभी सम्भव है जब इन विरोधी शक्तियों में दुनिया के बँटवारे के लिए कोई समझौता हो जाय। और यदि हुआ तो हम इसे कैसे रोक सकेंगे कि हम भी उस 'बँटी हुई सम्पत्ति' में से एक न हो जायँ! दूसरी ओर यदि इन शक्तियों का विरोध-विग्रह बढ़ते-बढ़ते विस्फोट का रूप धारण करता है तो उसकी एक चिनगारी भी हमें जलाकर राख कर देने के लिए पर्याप्त होगी। यह हमारा भाग्य है कि इन शक्तियों में एक सन्तुलन है: लेकिन कितना खतरनाक और अनिश्चित! हम एक 'टाइम-बम' की छाया में रह रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह हमारी ऐतिहासिक स्थिति है, मुक्ति और घुटन, विद्रूप और उत्साह, तीखेपन और रोमांस से भरी हुई। इतिहास के साथ हमारा पहला यथार्थवादी सम्पर्क है। आज सारे राष्ट्र की भावना और स्पृहा का निर्माण इसी वातावरण में होता है। हमारे हर साहित्यकार की आकांक्षाओं में इसकी छाप पड़ती है, इसकी प्रतिक्रिया होती है।

आज से लगभग चार दशक पहले नये युग के उत्थान के साथ हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रश्न को अपने सबसे अनगढ़ रूप में मैथिलीशरण गुप्त ने पूछा था, लेकिन जिस आघात की यह प्रतिक्रिया थी, वह आघात वास्तविक था। 'भारत-भारती' का आरम्भ इसी प्रश्न से होता है :

हम कौन हैं, क्या हो गये थे,
और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर,
ये समस्याएँ सभी॥
यद्यपि हमें इतिहास अपना
प्राप्त पूरा है नहीं।
हम कौन थे इस ज्ञान को
फिर भी अधूरा है नहीं॥

'हमारा' 'इतिहास' के साथ यह पहला स्पर्श नसों में बिजली की तरह दौड़ गया। परन्तु युग का यह प्रथम प्रयास था। इसलिए इसमें आश्चर्य ही क्या कि प्रश्न भी अनगढ़ था और उसका उत्तर भी अनगढ़ ही। 'भारत-भारती' का 'हम' एक संकुचित हम है और उसका इतिहास भी 'ऐतिहासिक अतीत'-मात्र।

लेकिन जैसे ताल में कंकड़ पड़ने से वृत्तों का फैलना प्रारम्भ होता है जो किनारे पर पहुँचकर ही दम लेते हैं, उसी प्रकार इस 'हम' का विस्तार भी अनिवार्य था। छायावाद के आते-आते यह 'हम' फैलकर सारे राष्ट्र से एकात्म हो जाता है। सत्याग्रह युग (१९२०-४५) का साहित्यकार प्रश्न को कुछ और गहराई से पकड़ना चाहता है। वह कुछ गहन-गम्भीर प्रश्न पूछने का अभिलाषी है—क्योंकि उसका 'हम' विस्तृत है। लेकिन मूलतः साहित्यकार की वृत्ति एक उदार भावुकता पर ही आधारित रही, जो हमारे स्वतन्त्रता-संघर्ष की रचनात्मक देन थी। इसलिए गम्भीरता के बावजूद प्रश्न अब भी सरल ही था, और उत्तर देने में कठिनाई नहीं पड़ी। सारे राष्ट्र की भावनाओं का एक नया 'महत्तम-समापवर्तक' खोज निकालने के बाद ऐतिहासिक व्यक्तित्व का प्रश्न पूर्व बनाम पश्चिम अर्थात् आध्यात्मिक बनाम भौतिकता के रूप में पूछा जाने लगा। इस विरोधाभास को पकड़ने में सबसे बड़ी आसानी यह थी कि हमें अपने स्थान पर स्थायित्व तो प्राप्त हो ही जाता था, साथ ही सोचने की प्रखर पीड़ा सहने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। यह गुलामी और गुलाम बनाने वालों के प्रति एक उदात्त क्रोध का युग था। कितना आसान और सन्तोषप्रद था यह समझ लेना कि वह सब जो हमें गुलाम बनाये हुए है भौतिक है, अतः हेय है, और हम जो कि गुलाम हैं आध्यात्मिक हैं, अतः श्रेय हैं। इस धारणा से शक्ति मिलती थी, विश्वास मिलता था और और अपने को पहचानने और विशिष्टता स्थापित करने का आसान गुर हाथ में आ जाता था। सत्याग्रह-युग के उपन्यासकारों की सरल भावुकता, कवियों का उदात्तीकरण, समालोचकों की संस्कृति-निष्ठा, सबमें इसी भावनात्मक परिवेश का रंग झलकता है।

इस युग का प्रश्न उतना अनगढ़ नहीं है। वह सुधरा और अधिक आकर्षक बन गया। और उत्तर भी उसी मात्रा में सुधरा और सीधा दिया गया। लेकिन यह बराबर लगता है जैसे 'शार्ट-कट' का प्रयोग किया जा रहा हो। प्रेमचन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। यह 'शार्ट-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कट' तभी तक उपादेय और प्रयोजनीय रहा जब तक आजादी की लड़ाई में हमें किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक व्यक्तित्व अपने ऊपर ओढ़ लेने की जल्दी थी। इससे मिला हुआ सन्तोष इस कारण नहीं था कि लबादा हमारे डील-डौल के अनुसार बिलकुल ठीक था। उसका गौरव कुछ उस खानदानी कोट की भाँति था जो बिगड़ी हालत में भी रईसों की मर्यादा रक्षा का काम दे जाता है।

पुनर्जागरण-युग का 'हम' सीमित था। सत्याग्रह-युग में 'हम' समूचे राष्ट्र में फैल गया। लेकिन दुनिया के बीच एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में खड़े होते ही इस 'हम' का एक अत्यन्त त्रासद रूप हमारे सामने आया। धक्के के साथ हमारी कल्पना में एक व्यापक स्वप्न झलका: इस 'हम' का अर्थ सारी मानवता भी हो सकती है। इस आकस्मिक अनुभूति के साथ आज की मानवता की अपराध-भावना भी हमारी चेतना में कौंध गई। व्यापकता का स्वप्न जितना दिव्य था, उतना ही तीखा और क्लेशपूर्ण भी। हमारे नये सन्दर्भ ने पुराने स्वरूपों को अनावश्यक बना दिया। अपने भविष्य के प्रति एक उत्साह, धुँधला, अस्पष्ट-सा आभास तो मिला, लेकिन उससे अधिक कुछ नहीं। केवल आध्यात्मिकता बनाम भौतिकता, अथवा पूर्व बनाम पश्चिम का प्रश्न स्पष्टतः अधूरा, बासी और बंजर हो गया। वर्तमान उत्तेजक तो था, परन्तु भविष्य की दिशा निर्मित करने में अशक्य।

इसकी पहली प्रतिक्रिया भय और आतंक में हुई। पश्चिम का मृत्यु-पाश एक भयानक द्वन्द्व था, इसमें सन्देह नहीं। इस दृष्टि से देखने पर समकालीन साहित्यकारों के उस वर्ग की घबराहट और आकुलता स्वाभाविक ज्ञात होती है जिन्होंने हताश होकर हिम्मत हार दी और नारा लगाया, 'हमें दो में से एक गुटों में शामिल हो जाना चाहिए।' एक घबराहट की चीख थी जिन्हें उन विचारकों और शक्तियों से भी सहयोग मिला जिनका इस नारे से आर्थिक एवं राजनीतिक लाभ भी था। भावनात्मक रूप से इस नारे से वे सभी समस्याएँ दूर हो गईं जिनमें सोचने की प्रखर पीड़ा की सम्भावना थी। नई भावभूमि में फिर उसी 'शार्ट-कट' का जादू खोजने का प्रयास था जो प्रेमचन्द और उनके समकालीन साहित्यकार कर चुके थे। इसीलिए इस नये वर्ग ने बड़े जोर-शोर से सत्याग्रह-युग की परम्परा को अपनाने का अभिनय किया। परन्तु ध्यान इस बात का रखा कि 'परम्परा' के अन्तर्गत 'शार्ट-कट' का ही समावेश हो, उस युग की गहराई और चिन्तनशीलता का नहीं। प्रश्न को इस प्रकार झुठलाकर आत्मबोध की क्षणिक उत्तेजना तो हुई। परन्तु जितने शीघ्र इस हताश चीख का वितान छिन्न-भिन्न हुआ, उससे स्पष्ट हो गया कि हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व में अब 'शार्ट-कट' का युग नहीं रह गया।

लेकिन वह वर्ग बहुत छोटा-सा था। हमारे अधिकतर साहित्यकारों ने सचाई और विश्वास के साथ ही एक नया रास्ता निकालने का बोझिल उत्तरदायित्व झेलने का निश्चय किया। उन्होंने स्वीकार किया कि अब इस विराट् विवाद को स्थगित नहीं किया जा सकता। और यही उनका सबसे शक्तिशाली तथा आश्चर्यजनक गुण है जो उनके प्रति हमारे विश्वास को दृढ़ करता है। इसी गुण ने उनको इतनी प्रेरणा दी है कि वह तमाम लांछनों और आरोपों के बावजूद सीधी रीढ़ के साथ खड़े हो सकें। क्योंकि हमारे अभियान की सीमा नहीं है, चाहे हमारा पहला प्रयास विफल ही क्यों न हो।

इस भँवर का सामना हमारे उदार मानववादी साहित्यकारों ने सब-कुछ की स्वीकृति करके दिया। एक ओर भारत के परिवेश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ REFRENCE BOOK

मानव-प्रगति-सम्बन्धी आदर्श के प्रति आस्था, और दूसरी ओर उन्हीं मूल्यों का पश्चिम में विघटन। चूँकि दोनों में से किसी का अनुभव अयथार्थ और झूठा नहीं है, इसीलिए बड़ी गम्भीरता के साथ भारत का कवि असम्भव छोरों को भी मिलाने की बात कह जाता है :

"संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद, दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचार-धारा भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग के नामों से प्रादुर्भाव निर्माण, विकास और ह्रास के द्वन्द्व संचरणों पर विश्वास रखती है। अतः नवीन युग की भावना केवल कपोल कल्पना नहीं है। पदार्थ और चेतना को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।"[1]

भारत के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की वह एक आतुर खोज है, जिसे आज के यूरोप में 'गोल घेरे के अन्दर चौकोर खूँटी गाड़ने' का असम्भव प्रयास कहकर उड़ा दिया जाता। फायरबाख़ ने भी कुछ ऐसा प्रयत्न किया था, और मार्क्स ने उसका निषेध किया।

मानववादी परम्परा की इस व्यापक युद्धोत्तर स्थिति के सबसे सटीक उदाहरण पन्त जी हैं। मानववादी अनिवार्य रूप से आस्थावान होता है, कभी-कभी कट्टर आस्थावान। यदि यह आस्थाशीलता कट्टर हुई तो जैसे-जैसे यथार्थ की चोट पड़ती है, वह रहस्यात्मक रूप धारण करती जाती है। ईसा मसीह की वापसी की आस्था की तरह, मानववादी का मन अखण्ड विश्वास के साथ कहता है कि कोई-न-कोई ऐसा करिश्मा होगा कि सब ठीक हो जायगा। पन्त जी के साथ यही हुआ है। और इसी दृष्टि से वह इस परम्परा के सबसे बोलते हुए उदाहरण हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट क्षणों में इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, महादेवी आदि सभी यहीं पहुँचते हैं :

'ऐसे मरणोन्मुख जग को कहता मेरा मन
और कौन दे सकता नवजीवन आश्वासन
शान्ति, तृप्ति—निज अन्तर्जीवन के प्रवाह से
भारत के अतिरिक्त आज—जो शाश्वत अक्षर
अन्तर ऐश्वर्यों का ईश्वर है वसुधा पर :
कहता मेरा मन, भारत के ही मंगल में
भू मंगल, जन मंगल, देवों का मंगल है !'[1]

यह स्वर कभी-कभी इंगलैण्ड के विक्टोरियन आशावादियों की याद दिलाता है। लेकिन दोनों में कितना बड़ा फ़र्क है। विक्टोरियनों के लिए यह समृद्धि और तुष्टि की भावना का विलास था। आज के भारतीय कवि के लिए यह जीवन राग है जिसके भीतर कितनी करुणा, कितना दर्द गूँज रहा है।

इस 'गुडविल-मिशन' में कहीं कोई गड़बड़ी नहीं है, सिवा इसके कि यह मनमें उतरती नहीं। इस अभाव का अनुभव सबसे अधिक अन्तिम पीढ़ी के उन लेखकों और साहित्यकारों ने किया है जिनकी रचनाओं को किसी बेहतर नाम के अभाव में 'नई कविता' या 'नया साहित्य' कहकर पुकारा जाता है। इतिहास का सारा आघात सीधे उन्हींके सीनों पर आ पड़ा। सबसे बड़ा खतरा भी उन्हींका था, क्योंकि वे ही इस वात्याचक्र की उपज थे। किन्तु जो आश्चर्यजनक बात इन साहित्यकारों के प्रति विश्वास जगाती है वह यह है कि इस सबके बावजूद भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक अतिवादिता से अपनी रक्षा की है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके सामने समस्या बड़ी गहन है, परन्तु एक तर्क जो उनके पक्ष में सबसे प्रबल है वह यह कि उन्होंने ईमानदारी के साथ अपनी समूची

१. पन्त—'युगवाणी'

१. पन्त—कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति

यह पुस्तक वितरित न की जाय NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म-शक्ति को दाँव पर लगाया है। वह आत्म-शक्ति स्वयं कितनी बड़ी है, इसका उत्तर-दायित्व सारे समाज पर है। किन्तु इतना सत्य है कि हमारी जनवादी आस्था, और साथ ही विश्व-मानव की पीड़ा इसके बीच न तो आज के साहित्यकार ने आँख मूँदने का प्रयास किया है और न सीधा सरल समन्वय निकालकर ही सन्तोष किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अक्सर आज के 'जीवन के दबाव की अभि-व्यंजना का मार्ग उसे नहीं दीखता।' लेकिन इसके लिए वह 'शार्ट-कट' का आकांक्षी भी नहीं बनना चाहता। बार-बार वह पूछता है :

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही ने
पुकारा—
कौन सा पथ है ?[1]

'भारत-भारती' से 'नई कविता' तक एक बड़ा सफर है जिसमें न जाने कितनी मञ्जिलें पड़ी हैं। एक युग था जब मैथिलीशरण गुप्त के लिए यह प्रश्न काव्य की प्रथम पंक्ति थी। आज का कवि वहाँ अपनी कविता समाप्त करता है जहाँ पहले कवि ने आरम्भ किया था। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने हमारे इस अन्वेषण में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त की है परन्तु उस पर निषेध का आरोप भी नहीं किया जा सकता—क्योंकि वह सही प्रश्न पूछ रहा है।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, इस अन्ध-कार को भेदने के लिए साहस की आवश्यकता है, जो सम्भवतः सम्मान और विवेक को भी दाँव पर लगाने को तैयार हो। नये लेखक ने आरम्भ दृढ़ता के साथ किया है। क्या वह इतने ही साहस के साथ इस अन्वेषण को जारी रख सकेगा ? हमें निराश होने का कोई कारण नहीं दीखता। नये लेखक ने एक बार अतिवाद का सामना करने का परिचय दिया है, वह आगे भी उसी दृढ़ता के साथ बढ सकता है।

१. भारतभूषण अग्रवाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

इलाचन्द्र जोशी

विश्व-उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य

केवल उपन्यास के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि साहित्य के सभी क्षेत्रों में एक नये मोड़, एक मूलतः नये परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव आज संसार के सभी देशों के साहित्यकार और साहित्य-मर्मज्ञ कर रहे हैं। एक अस्पष्ट अनुभूति भीतर-ही-भीतर सभी साहित्य-सर्जकों को आंदोलित कर रही है कि साहित्य के विविध अंगों के जितने भी रूप आरम्भिक युग से लेकर आज तक प्रचलित हुए हैं वे आज की आर्थिक और राजनीतिक विषमता से छिन्न-भिन्न, अणु-विस्फोट से विघटित और विश्वव्यापी जीवन की विशृङ्खला से बिखरे हुए मानवीय जीवन की नव-विकासोन्मुख प्रवृत्तियों, वैयक्तिक तथा सामूहिक अवचेतना के भीतर-ही-भीतर फेनायित होने वाली, एक-दूसरे से उलझी हुई, जटिल और परस्पर-विरोधी आशाओं, आशंकाओं और आकांक्षाओं की यथार्थ अभिव्यंजना कर सकने में असमर्थ हैं। इसलिए साहित्य को एकदम नई दिशाओं की ओर मोड़ने तथा रूप, शैली और वस्तु से सम्बन्धित नये-नये प्रयोग करने के प्रयत्न आज हमें सर्वत्र दिखाई देते हैं।

पर जहाँ कहीं भी जो भी नये प्रयोग आज हम देखते हैं वे छिटपुट अथवा व्यक्तिगत प्रेरणाओं से परिचालित होने के कारण सामूहिक साहित्यिक जीवन को तनिक भी धक्का नहीं दे पाते, और इस प्रकार वस्तु-स्थिति जहाँ-की-तहाँ और जैसी-की-तैसी दिखाई देती है। नई और सर्वतोमुखी साहित्यिक क्रांति के लिए आज संसार में साधनों का तनिक भी अभाव नहीं है, परिस्थितियाँ भी अनुकूल हैं और युग की प्रसव-पीड़ा के लक्षण भी सुस्पष्ट हैं, पर स्फूर्ति का अभाव है। फिर भी इस बात से यह समझना भ्रामक होगा कि सामूहिक स्फूर्ति का यह अभाव लम्बे अरसे तक वैसा ही बना रहेगा। अणु-शक्ति के जो नये-नये रूप आज मानवीय चेतना को बाहर और भीतर दोनों ओर से हिला रहे हैं वे निश्चय ही, प्राकृतिक नियम के क्रम से, नये सर्जन की उस गुप्त स्फूर्ति को जल्दी ही आंदोलित किये बिना न रहेंगे। इसी सम्भावित परिवर्तन के अनुमानात्मक आधार पर विश्व-उपन्यास-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

उपन्यास-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में विचार करने को जब हम प्रवृत्त होते हैं तब स्वभावतः उसके आज तक के क्रम-विकास की रूप-रेखा पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उपन्यास' शब्द हिन्दी में अपेक्षाकृत नया-प्रचलित शब्द है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इस शब्द का आयात बंगाल से हुआ। पर इस बंगला शब्द का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'नावेल' भी बहुत पुराना नहीं है। 'नावेल' का अर्थ ही नया है, और इटालियन 'नोवेला' से यह लिया गया है। इटली में पन्द्रहवीं शताब्दी में तब तक प्रचलित कहानियों की शैली और स्वरूप से भिन्न, नये ढंग की छोटी या बड़ी कहानियों को लोग 'नोवेला' कहने लगे थे। बोकाच्चियो की सुप्रसिद्ध रचना 'देकामेरों' की कहानियों को 'नोवेला' ही कहा जाता था। उसके बाद इटली, फ्रांस, स्पेन तथा दूसरे यूरोपियन देशों में छोटी तथा बड़ी कहानियों की नई-नई शैलियाँ उद्भावित होती चली गईं, और इस चिर-परिवर्तित नवीनता के कारण 'नोवेला' नामकरण सार्थक हो गया। प्रत्येक युग की प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के साथ-साथ उपन्यास के रूप भी बदलते चले गए।

आधुनिक युग में हम 'नावेल', 'रोमाँ' या 'उपन्यास' को जिस अर्थ में लेते हैं उस अर्थ में उसका सुस्पष्ट आविर्भाव पहले-पहल फ्रांस में हुआ। मादाम द लाफायेन ने जब पन्द्रहवीं शती में 'क्लेव की राजकुमारी' नामक उपन्यास लिखा तब उसके सामने बचकाने ढंग की भावनाओं से प्रेरित जिन छिटपुट उपन्यासों के दृष्टांत वर्तमान थे वे या तो काम-जनित प्रेम की शारीरिक अथवा छिछली मानसिक अनुभूतियों में सम्बन्ध रखते थे, या 'उन्नत और निःस्वार्थ प्रेम' के कृत्रिम और अस्वाभाविक आदर्श पर मर मिटने वाले 'वीर नायकों' की परिपूर्ण आत्म-समर्पणशीलता तथा आत्म-बलिदान के उदाहरणों से भरे रहते थे, या इस प्रकार की संग-स्पर्श-वर्जित, निस्पृह, 'वीरजनोचित' प्रेमाराधना के प्रति व्यंग करने वाले कथानकों से युक्त होते थे। सर्वांतीज की विश्व-विख्यात रचना 'डान क्विजोट' अन्तिम कोटि के उपन्यासों का एक दृष्टांत है।

पर 'क्लेव की राजकुमारी' में हम प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास-साहित्य की परम्परा में पहली बार एक नया स्वर पाते हैं, एक नई जमीन कटती हुई देखते हैं। उसमें प्रेम को न तो हलके ढंग के भोगात्मक रूप में लिया गया है न 'वीर नायकों' द्वारा सुन्दरी नारी की कृत्रिम आदर्शात्मक पूजा के रूप में। उसमें हम सहज मानवीय रागात्मक संवेदना का स्वाभाविक चित्रण पाते हैं। उसमें एक ऐसे समाज की पृष्ठ-भूमि में प्रेम के त्रिकोणात्मक रूप का चित्रण किया गया है जो उन्नत नैतिक आदर्शों की परम्परा के कारण दमित प्रवृत्तियों का अन्तर्निहित 'रिजर्वायर' बना हुआ है। समाज-निषिद्ध प्रेम के कारण उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व की बारीकियों का जो चित्रण हम परवर्ती उपन्यासों में (टाल्सटाय से लेकर शरत्चन्द्र तक) पाते हैं उसका पूर्वाभास 'क्लेव की राजकुमारी' में हमें मिलने लगता है। शरत् के उपन्यासों की-सी एक सहृदय संवेदनाशील नायिका अपने पति के प्रति सच्चे आदर और आन्तरिक प्रेम की भावना रखते हुए भी एक दूसरे व्यक्ति के प्रति गहन और मार्मिक प्रेम के आकर्षण का अनुभव करने लगती है। उसके सुकुमार हृदय में द्वन्द्व का कीड़ा घुसता है। उसका वह नया प्रेम-पात्र भी उसे उसी तीव्रता से चाहता है और उसके लिए अपना जीवन अर्पित करने तक को तैयार है, तथापि नायिका सहज शालीनतावश उससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार नहीं होती। इधर उसका पति, जो उसे हृदय से चाहता है, अन्तर्द्वन्द्व से, किसी कारण से परिचित होकर आत्महत्या कर लेता है। पति की आत्महत्या से नायिका के आत्म-पीड़न और पश्चाताप की सीमा नहीं रहती। वह यद्यपि प्रेमपात्र के आग्रह के अनुसार उससे सामाजिक दृष्टि से भी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाती है, तथापि वह ऐसा नहीं करती; क्योंकि उसका मृत पति उसकी घोर आत्मिक ग्लानि का कारण बनकर उसके और उसके प्रेमपात्र के बीच खड़ा हो जाता है। इसी द्वन्द्व में घुलती हुई अन्त में वह स्वयं भी मर जाती है।

प्रेम-पीड़ित व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के द्वन्द्व का सूक्ष्म भावात्मक और मार्मिक चित्रण उक्त उपन्यास में किया गया है। उसके बाद रूसो का युग आता है। रूसो ने प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास की त्रिकोणात्मक भूमि को यद्यपि नहीं बदला, तथापि उसे एक नये—रोमांटिक तथा दार्शनिक—वातावरण में लाकर खड़ा कर दिया। लाफायेत के जमाने तक 'शिवेलूरस' प्रेम के महत्त्व पर अधिक जोर दिया जाता था, हालाँकि रोमांटिक वेदना का पुट उसमें दिया जाने लगा था। पर रूसो ने मालवीय अन्तःप्रकृति में उत्पन्न होने वाले प्रेम की उदात्त भावना का तादात्म्य प्रकृति-प्रेम के साथ स्थापित करके रागात्मक प्रेम को एक बहुत ऊँचे भावात्मक स्तर तक पहुँचा दिया। साथ ही एक और बड़ी बात उसने की। उसने प्रेम के त्रिकोणात्मक द्वन्द्व को एक उदार दार्शनिक प्रवृत्ति के विकास द्वारा मिटाने का सुझाव उपस्थित किया। अपने 'ला नूवेल एलोइज' नामक उपन्यास में उसने प्रेमी, प्रेमिका और प्रेमिका के पति इन तीनों को बड़े द्वन्द्वों के बाद अन्त में एक उदार और प्रगतिशील भावना से पूर्ण पारिवारिक स्नेह-सूत्र में बाँध दिया है। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार की 'दार्शनिकता' बड़ी आसानी से हास्यास्पद स्थिति में बदल सकती है, पर रूसो ने बड़ी चतुराई से उसका निर्वाह किया है।

रूसो के बाद औपन्यासिक प्रगति का बीड़ा गेटे ने उठाया। गेटे के प्रथम उपन्यास 'वेर्टेर' के तीव्र भावावेग में हम रूसो की ही रूमानी प्रवृत्ति का परिचय पाते हैं, यद्यपि 'वेर्टेर' के नायक की आत्मघाती प्रवृत्ति में रूसो की द्वन्द्वातीत 'दार्शनिकता' का नितांत अभाव है। पर बाद वाले उपन्यासों में गेटे रूसो के प्रभाव से एकदम मुक्त होकर औपन्यासिक विकास की एक नई ही संभावना को सामने लाया। उदाहरण के लिए, 'विलहेल्म माइस्टर' नामक उपन्यास को ही लीजिए, जो दो अलग-अलग भागों में बँटा है। इस उपन्यास में गेटे ने मध्यवित्त परिवार के एक साधारणतः खुशहाल नायक को लेकर उसे एक ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि पर खड़ा किया है जहाँ वह सचेत और बौद्धिक रूप से, तटस्थ दृष्टि से व्यक्ति और समाज के बीच के सांस्कृतिक समझौते के सूत्रों को खोजता हुआ विकास की एक निश्चित दिशा की ओर आगे बढ़ता चला जाता है। यह आश्चर्य ही है कि अपनी इस रचना में गेटे ने शैली और विषय दोनों दृष्टियों से उपन्यास-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में जो एक बिलकुल ही नई दिशा सुझाई, उसके भीतर बहुत सी नई-नई संभावनाएँ निहित होने पर भी किसी परवर्ती उपन्यासकार का ध्यान उस ओर नहीं गया। मेरा तो यह निश्चित विश्वास है कि भविष्य का कोई बड़ा उपन्यासकार 'विलहेल्म माइस्टर' की उपेक्षित शैली और विषय-वस्तु को अणु-युग के नये ढाँचे में ढालकर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और युग-विवर्तनकारी चीज साहित्य-जगत् को दे सकेगा।

गेटे के बाद विश्व-उपन्यास की धारा फिर एक बार जर्मनी से फ्रांस की ओर मुड़ गई, यद्यपि उसकी एक शाखा ब्रिटेन में जाकर स्काट के ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में प्रवाहित हुई। स्काट ने युवावस्था में गेटे की दो-एक रचनाओं का अनुवाद अंग्रेजी में किया था, पर वह विशेष रूप से गेटे की ऐतिहासिक सूझ के एक विशेष सीमित पहलू से प्रभावित हुआ था। मानव के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास की जिस विराट पृष्ठभूमि को गेटे ने अपनाया था और उस जमीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर खड़े होकर मनुष्य-जाति की सर्वांगीण भावी प्रगति के अनेक नये-नये वैज्ञानिक, साहित्यिक और दार्शनिक तत्वों का आविष्कार करके उन्हें एक सूत्र में पिरोकर उनकी जिन विराट सम्भावनाओं की ओर संकेत किया था, उनके महत्त्व को ठीक से समझ पाना स्कॉट के लिए सम्भव न था।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि गेटे के बाद विश्व-उपन्यास की विकास-धारा फिर फ्रांस की ओर मुड़ गई। स्तांदाल ने, जो नेपोलियन के साथ रूस गया था और अनेक राजनीतिक क्रान्तियों में भाग ले चुका था; उपन्यास के क्षेत्र में एक नया ही स्वर मुखरित किया। उसने अपने युग के पतनोन्मुख बूर्ज्ुआ समाज का चित्रण एक बहुत बड़े कलाकार की चुभती हुई शैली में, बड़े ही सजीव रूप में किया। व्यक्ति और समाज के बीच के द्वन्द्व को उसने एक चतुर चितेरे की तरह जीवित चित्रों के रूप में उतारकर रख दिया। समाज के लौह चाप के नीचे दबे हुए, बूर्ज्ुआ समाज की नींव की ईंट बने हुए, दलित वर्ग के पात्रों को उसने युग की सामूहिक उपेक्षा और उदासीनता के बीच में उभारकर रखा। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उसने फ्रांसीसी उपन्यास-साहित्य की प्रेम-सम्बन्धी परम्परा से नाता तोड़ लिया था। उस पर रूसो के समाज-संगठन-सम्बन्धी विचार, साहित्यिक सिद्धान्त और कलात्मक प्रतिभा तीनों का सम्मिलित प्रभाव पड़ा था। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम की प्रचंड आवेगपूर्ण परिस्थितियों के चित्रण में उसे बड़ा रस मिलता था, पर उस प्रेम को किसी प्रगतिशील सामाजिक आदर्श के सूत्र में बाँधने में वह असफल रहा।

स्तांदाल के बाद बालजाक का आविर्भाव हुआ। उपन्यास के क्षेत्र में बालजाक की व्यापक प्रतिभा आज भी आश्चर्यजनक लगती है। अपने सम्पूर्ण युग की विविध रूपात्मक गलनशील प्रवृत्तियों जैसा सजीव और कलापूर्ण चित्रण उसने किया वैसा न उसके पहले किसी ने किया था न उसके बाद ही कोई दूसरा फ्रांसीसी लेखक कभी कर सका। उसने समाज के किसी भी पहलू, किसी भी वर्ग और किसी भी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा। उसकी चित्रकारिणी कलात्मिका प्रतिभा के साथ उसकी विश्लेषात्मिका बुद्धि का पूरा सहयोग रहता था, इसलिए वह स्वयं कभी रूसो या स्तांदाल की तरह भावुकता के बहाव में नहीं बहता था, बल्कि एक स्वतन्त्र चेता और द्रष्टा की तरह अपने युग के मानवीय पतन, भ्रष्टाचार और प्रेम के क्षेत्र में भी संकीर्ण नीचतापूर्ण स्वार्थमयी प्रवृत्तियों के संघर्ष से सम्बन्धित चित्र उपयुक्त रंगों के साथ उपस्थित करता चला जाता था। अपने एकाध प्रारम्भिक उपन्यास को छोड़कर उसने प्रेम की झूठी रूमानी महत्ता का राग कभी नहीं मिलाया।

पर बूर्ज्ुआ प्रेम की तथाकथित उदात्त भावना की झुठाई की पोल जिस रूप में फ्लोबेर ने अपने 'मादाम बोवारी' नामक विश्लेषणात्मक उपन्यास में खोली, उस रूप में दूसरा कोई फ्रांसीसी कलाकार न खोल सका। उसने एक नई टेकनीक और नई तथा मँजी हुई शैली के प्रयोग से, तटस्थ दृष्टि से, अपने युग के 'पेती बूर्ज्ुआ' समाज के स्वप्नों और हीन आकांक्षाओं की निरर्थकता, दो पाटों के बीच में दबे हुए उनके कुण्ठित वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की असफलता का सफल चित्रण करके उपन्यास-साहित्य को एक नई दिशा की ओर मोड़ा।

उसके पहले तथा बाद में, विक्टर ह्यूगो ने भी उपन्यास-कला के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग किये थे। 'पेरिस का कुबड़ा' तथा 'अभागे' इन दोनों उपन्यासों में उसने समाज के निम्नतम स्तर के दलित तथा उपेक्षित पात्रों के जीवन के केवल दयनीय पहलू को ही चित्रित नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, बल्कि उनके भीतर निहित मानवीय मर्यादा तथा आत्म-गौरव की प्रवृत्तियों को भी व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि में उभारकर रखा; और इस प्रकार उपन्यास-साहित्य की सामूहिक प्रगति में उसने एक बहुत बड़ा कदम उठाया। यह दूसरी बात है कि दूसरे फ्रांसीसी उपन्यासकारों—विशेषकर बालजाक और फ़्लोबेर—की-सी बड़ी बारीकी से कटी-छटी और मंजी शैली उसके उपन्यासों में हम नहीं पाते। शैलीकार की दृष्टि से वह कविता के क्षेत्र में जितना बड़ा उस्ताद है उतना उपन्यास के क्षेत्र में नहीं।

ज़ोला ने केवल प्रयोग के लिए एक नया प्रयोग किया। उसने अपने उपन्यासों में जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य की गहन रहस्यमयी अंतर्प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा, विश्लेषण और मूल्यांकन करना आरम्भ कर दिया और एक विशिष्ट दल के संगठित प्रचार द्वारा एक नये (नेचुरेलिस्ट) स्कूल की स्थापना की, जो एक 'स्टंट' के सिवा और कुछ नहीं था। यह ठीक है कि अपनी कुछ रचनाओं द्वारा उसने अपने युग के पहले ही से गलित और मृतप्राय बूर्जुआ समाज पर एक ठोकर और मारी, पर अस्त-व्यस्त और जटिल सामाजिक जीवन की मूलगत समस्याओं के हल में उनमें कुछ विशेष दिशा-निर्देशन या सुझाव की आशा नहीं की जा सकती थी।

बालजाक आदि फ्रांसीसी उपन्यासकारों की कला का प्रभाव रूसी साहित्यकारों पर विशेष रूप से पड़ा, पर वह प्रभाव केवल ऊपरी सतह की प्रेरणा देने तक ही सीमित रहा। रूसी ज़मीन पर फ्रांसीसी कला के बीज पड़ने पर उनमें एक विचित्र, अदृश्यपूर्व और कल्पनातीत रासायनिक परिवर्तन देखने में आया और उनका विकास भी एकदम नये ही रूपों में, बड़ी ही तीव्र गति से होने लगा। रूस उस युग में सभी दृष्टियों से यूरोप के सबसे पिछड़े हुए देशों में गिना जाता था। ज़ारयुगीन तानाशाही के लौह-चक्र के नीचे वहाँ का केवल जन-जीवन ही बुरी तरह कुचला हुआ नहीं था, वरन् सांस्कृतिक जीवन की धारा भी रेगिस्तानी नदी की तरह एकदम सूखी और सिमटी हुई थी। पर उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के आरम्भ से वहाँ सहज उपन्यास-साहित्य का क्षेत्र इस तरह लहलहा उठा कि देखकर दुनिया चकित रह गई। टूर्गेनिव, टाल्सटाय और डास्टाएव्सकी ने औपन्यासिक कला के ऐसे-ऐसे आश्चर्यजनक और एक-से-एक बढ़कर सुन्दर नमूने पेश किये कि अनुवादों को पढ़कर उनके फ्रांसीसी गुरुओं के छक्के छूट गए।

रूसी कलाकारों ने यथार्थवादी कला की एक बिलकुल ही नई शैली को अपनाया। उनका यथार्थ फ्रांसीसी आचार्यों के यथार्थ की अपेक्षा कई गुना अधिक सजीव, जीवन के अधिक निकट, अधिक सहज, अधिक स्पर्श्य, अधिक अनुभवगम्य और अधिक मार्मिक था। जीवन के अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण और निर्दोष यथातथ्य वर्णन के साथ ही जटिल-से-जटिल परिस्थितियों तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनःस्थितियों का निर्मम विश्लेषण करने की दक्षता का जैसा परिचय उन्होंने दिया वह भी उस युग के लिए अपूर्व और कल्पनातीत था। साथ ही उनकी प्रतिभा की यह निराली विशेषता संसार के साहित्यकारों और साहित्यालोचकों के आगे आई कि घोर यथार्थवादी शैली को अपनाने पर भी रूसी उपन्यासकर उसी यथार्थवाद के भीतर से, अन्तः-सलिला नदी की तरह, अत्यन्त स्वस्थ और आशाप्रद आदर्शवाद का उद्भावन और परिस्फुटन कर सकने में पूर्ण सफल सिद्ध हुए। फ्रांसीसी यथार्थवाद और प्राकृतवाद ने उस युग के 'सच्चे' (अर्थात् नंगे) जीवन के पर्दा-दर-पर्दा उद्घाटन तक ही अपनी कला की उपादेयता की सीमा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं निर्धारित कर दी थी। जीवन के उस कोरे यथार्थ चित्रण और विश्लेषण का प्रभाव पाठकों पर स्वभावतः इस रूप में पड़ता था कि जीवन के प्रति घोर निराशा, विराग और घृणा की भावना मन के अणु-अणु में भर जाती थी। मानव-जीवन की कहीं तनिक सार्थकता भी है, इसका रंचमात्र आभास उन महान् आचार्यों की रचनाओं से प्राप्त नहीं होता था। रूसी कलाकारों के उपन्यासों में यथार्थ का चित्रण फ्रांसीसी आचार्यों की अपेक्षा अधिक सचाई से और अधिक विशद तथा विस्तृत रूप से होने के कारण स्वभावतः नैराश्य और विषाद का वातावरण भी अधिक घनीभूत हो उठा, तथापि विषाद और नैराश्य की उस प्रकट धारा के नीचे उन्नत आदर्शों के प्रति विश्वास और जीवन के प्रति महान् आशा की अन्तर्धारा निरन्तर, अविराम गति से प्रवाहित दिखाई देती थी। वह विशेषता इतनी बड़ी और इतनी साफ़ थी कि वह विश्व-उपन्यास-साहित्य की धारा को सहस्रों योजन आगे बढ़ा ले गई।

रूसी उपन्यासकारों ने जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप से लेकर विराट्-से-विराट् रूप तक की छानबीन और परख करने, उसे समझने और समझाने में कोई प्रयत्न उठा न रखा—विशेषकर टाल्सटाय और डास्टाएव्स्की ने। इन दो उपन्यासकारों ने अपनी किसी भी रचना में जीवन के चाहे किसी भी पहलू को लिया हो, अपने युग के वैयक्तिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक जीवन के किसी भी रूप को अपनाया हो, उसे उन्होंने युग-युग के सामूहिक मानव-जीवन की विराट् पृष्ठभूमि पर उतारकर रखा। यथार्थ जीवन के प्रतिदिन के संघर्ष और द्वन्द्व द्वारा उत्पन्न होने वाली पंकिलता, तुच्छता और विकृतियों की तनिक भी उपेक्षा न करके उन्होंने सामूहिक मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास-सम्बन्धी अपने सहज विश्वास को कभी न डिगने दिया। मनुष्य जाति की शत-शत दुर्बलताओं, भूलों और भ्रांतियों के बावजूद महामानव-मन के भीतर निहित आत्मिक शक्तियों की अन्तिम विजय पर उनकी आस्था बराबर बनी रही। उनका यह आधारभूत विश्वास अपने-आप में इतना महान् था कि दैनिन्दन जीवन की हीनता-जनित निराशा के अन्धकार में भटकते रहने वाले फ्रांसीसी कलाकारों को उन्होंने बहुत पीछे छोड़ दिया। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो हम स्वभावतः इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उन्नीसवीं शती का रूसी उपन्यास-साहित्य आज भी प्रत्येक दृष्टि से नया है और आगे भी नया ही रहेगा। उसके भीतर निहित असंख्य सम्भावनाओं की पूरी छानबीन विश्व-साहित्यालोचक अभी तक कहाँ कर पाए हैं!

इसके बाद गोर्की का युग आता है, जो अपने से पहले के रूसी उपन्यास की विकास-धारा को अलग छोड़कर एकदम नया मोड़ लेता है और एक मूलतः नई दिशा को अपनाता है। रूसी बूर्जुआ समाज की गलनशीलता गोर्की के समय तक अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। उस वर्ग के भीतर जीवन के विकास-तत्वों का कोई चिह्न उसे अवशिष्ट न दिखाई दिया। इसलिए वह एक ऐसे वर्ग के जीवन के चित्रण की ओर प्रवृत्त हुआ जिसका आत्मिक शक्ति-स्रोत अभी तक अक्षुण्ण था, जिसके भीतर जीवन के सहज, स्वाभाविक और स्वस्थ विकास की अनंत सम्भावनाएँ अभी तक निहित थीं—भले ही उस जीवन का तात्कालिक रूप एकदम अनगढ़ और प्रकट में जड़ रहा हो। गोर्की के साहित्य का अधिक महत्त्वपूर्ण अंश—विशेषकर कहानियों और उपन्यासों से सम्बन्धित अंश—सन् १७ की क्रान्ति के पहले ही लिखा जा चुका था। क्रान्ति के पहले ही वह, कुछ तो अपने प्रत्यक्ष अनुभव और कुछ अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा, इस महत्त्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य को हृदयंगम कर चुका था कि आने वाले युग में केवल वही वर्ग सामूहिक मानव-जीवन के भावी विकास के सूत्र को अपने हाथों में लेकर उसे आगे बढ़ा सकेगा जिसकी आत्मिक शक्ति के 'रिजर्वायर' का तनिक भी क्षय अभी तक न हुआ हो, जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से निरन्तर कुचले और दबाए जाने पर भी किसी रहस्यमयी भीतरी शक्ति की प्रेरणा द्वारा फिर-फिर जी उठने की कला से परिचित हो। इसी बात को ध्यान में रखकर उसने मजदूरों, किसानों, गृहहीन आवारों तथा इसी कोटि के दूसरे लोगों को अपने उपन्यासों तथा कहानियों के चरित्रों के रूप में चुना। उसके मत से बूर्जुआ समाज ने अपने सांस्कृतिक विकास को चरम संभाव्य स्थिति तक पहुँचाकर अपने सारे शक्ति-स्रोतों को समाप्त कर दिया था, पर प्रोलेटेरियन वर्ग के भीतर उसने एक ताजगी पाई, जिसके एक कण का भी व्यय या अपव्यय तब तक नहीं हुआ था। उस वर्ग के लोगों का जीवन उस समय यद्यपि प्रकट में अत्यन्त दयनीय और दुर्दशाग्रस्त था, तथापि उनके भीतर आत्म-मर्यादा और आत्म-गौरव की भावनाएँ, अपने निजी दृष्टिकोण के अनुसार, पूरी मात्रा में वर्तमान थीं, और साथ ही अपने वर्ग के युग-युगव्यापी दलन की अन्तर्निहित जलन भी। गोर्की ने उनके जीवन और चरित्र का चित्रण करते हुए, उनके चेतना के विविध स्तरों की खुदाई करने के बाद, उक्त दोनों प्रकार की भावनाओं को एक अत्यन्त कुशल कलाकार की तरह उभारकर रख दिया। गोर्की जानता था कि उक्त वर्ग के भीतर निहित आदिम शक्ति में विस्फोट उत्पन्न होने से चेतना का ज्वालामुखी ही फट पड़ेगा और आग की प्रचण्ड लपटों के साथ-साथ पिघलती हुई धातुओं का द्रव भी बाहर फूट निकलेगा। पर साथ ही वह यह भी जानता था कि बूर्जुआ समाज की गलनशीलता के कारण मानव-समाज के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास का जो पथ रुद्ध हो चुका है, वह केवल इसी विस्फोट की ज्वालामयी लीला द्वारा ही फिर से उन्मुक्त हो सकेगा। गोर्की को हम लोग गलत न समझें। उसने बराबर मनुष्य की आत्मिक शक्तियों के अनवरत विकास पर जोर दिया है और मानवीय चेतना के निरन्तर उन्नयन और परिष्करण पर उसकी परिपूर्ण आस्था रही है। सामूहिक मानव के सम-श्रम द्वारा भौतिक जीवन की समुन्नति पर पूरा जोर देते हुए भी उसने यह कभी नहीं माना कि मानवीय प्रगति की सीमा भी उसी भौतिक उन्नति की सीमा के साथ समाप्त हो जायगी। मनुष्य को निश्चित रूप से उस सीमा को पार करके उसके परे भी जाना है, अपने इस अडिग विश्वास की घोषणा वह मरते दम तक करता रहा। उसके प्रकट में नीरस लगने वाले उपन्यासों के आकर्षक जादू का रहस्य उसकी यही आस्था है।

रूस में जब बूर्जुआ समाज की स्वाभाविक समाप्ति के साथ-साथ एक नई सांस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप एक नई औपन्यासिक कला का विकास होने लगा था, तब पश्चिमी यूरोप का बूर्जुआ समाज अपनी पुरानी संस्कृति के चरम ह्रास का अनुभव करता हुआ मरता-क्या-न-करता की-सी हताश स्थिति में कुछ ऐसे नये पथों को खोज रहा था जिनके माध्यम से वह अपने सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अवरोध को कम-से-कम कुछ समय के लिए हटा सके। ऐसे अवसर पर उनके त्राण के लिए फ्रायड का आविर्भाव हुआ। पाश्चात्य उपन्यासकारों ने उसे एक नया शक्ति-स्रोत मानकर, अपने को एकदम डूबने से बचाने के लिए फौरन उसका आश्रय पकड़ लिया। डी० एच० लारेन्स और जेम्स जोइस के उपन्यास इसी हताशवाद-घन-फ्रायडवाद की देन हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो लोग मनुष्य की उन 'पशु-प्रवृत्तियों' को घृण्य और निन्दनीय मानते हैं जो जीवन के मूल शक्ति-स्रोत से सम्बद्ध हैं, मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ। मनुष्य ने सभ्यता के विकास-क्रम में मानव-प्रकृति की बहुत सी आदिम प्रवृत्तियों को दूषित ठहराकर उन्हें दबाया है, जिसके फलस्वरूप आज के कृत्रिम जीवन के भीतर बहुत सी विकृतियां आ घुसी हैं। इस सत्य की उपलब्धि केवल फ्रायड द्वारा ही पहली बार नहीं हुई है बल्कि बहुत पहले से ज्ञानी लोग उससे परिचित रहे हैं। फ्रायड की विशेषता केवल इतनी रही है कि उसने इस सत्य की उपलब्धि की प्रक्रिया को निश्चित वैज्ञानिक रूप दे दिया। पर यदि इस (मनो-) विज्ञान की यह प्रतिक्रिया होने लगे कि मनुष्य पशु-स्थिति से अपने विकास की प्राकृतिक प्रगति का ही विरोध करने लगे और सभ्यता की कृत्रिमता से उकताकर फिर से पशु-प्रवृत्तियों की ओर लौटकर, उनमें पूर्णतया मग्न होने में ही जीवन की मूल सर्जना-शक्तियों की सार्थकता मान बैठे तो इसका अर्थ यह है कि मनुष्य ने बंदर से मानवत्व की ओर कदम बढ़ाकर बड़ी भूल की और फिर से उसे बंदरत्व को अपनाकर उसी में सदा के लिए गर्क हो जाना चाहिए और उससे आगे के विकास की सहज, प्रकृतिगत चेतना को ही सृष्टि के अतल में डुबो देना चाहिए। डी० एच० लारेन्स के साहित्यिक जीवन की छटपटाहट में हमें इसी घनघोर प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। केवल डी० एच० लारेन्स ही नहीं, फ्रायड से प्रभावित सारे पाश्चात्य साहित्य में हम, थोड़ी-सी शैलीगत रद्दोबदल के साथ, इसी प्रवृत्ति की प्रधानता का परिचय पाते हैं।

जेम्स जोइस ने परम्परा से भिन्न एक बिलकुल ही नई शैली और नये रूप-विधान में कमाल दिखाया, इसमें संदेह नहीं। फ्रायडीय अवचेतना के कई रुद्ध द्वारों में से एक ऐसे द्वार की कुंजी उसके कलाकार को प्राप्त हो गई जहाँ कैद की गई यौन-चेतना सहसा मुक्त होकर असंख्य शाब्दिक अनुभूतियों के रूप में अविराम गति से प्रलय-प्रवाह की तरह बाहर निकल आई। कला की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा चमत्कार था। 'युलिसीज' केवल इसी चमत्कार के स्मारक स्तम्भ के रूप में आज अवशिष्ट रह गया है, इससे अधिक कोई सार्थकता उसकी न तब थी न आज है। मनुष्य की निरंतर विकासशील मूल सर्जनात्मिका चेतना की प्रगति में उसकी चमत्कारी कला ने तनिक भी हाथ नहीं बटाया, बल्कि उलटी दिशा की ओर लौटकर विसर्जनात्मक प्रक्रिया को अपनाया।

जैसा कि मैं पहले संकेत कर चुका हूँ, मनुष्य की सामूहिक अवचेतना के भीतर (फ्रायडियन अवचेतना जिसके एक कण के बराबर भी नहीं है) सृष्टि के प्रचण्ड आदिम शक्ति-स्रोत वर्तमान हैं—ठीक उसी प्रकार जिस तरह पृथ्वी के गर्भ में कोयला, लोहा, धातुगत तेल, कोबाल्ट, यूरेनियम, थोरियम आदि कच्चे माल के ऐसे भंडार भरे पड़े हैं जो आज के वैज्ञानिक युग की भौतिक उन्नति के मूल शक्ति-स्रोत हैं। पर उन भूगर्भगत धातु-पदार्थों की कोई उपयोगिता अपने-आप में नहीं है—क्योंकि कोयला अपने-आप में केवल कोयला ही है, उससे अधिक और कुछ नहीं—भले ही उसके भीतर विकास की अनन्त संभाव्य शक्ति निहित हो। आवश्यकता इस बात की है कि उस जड़ और निष्क्रिय कोयले के भीतर छिपी शक्ति को वैज्ञानिक उपायों से निष्कासित किया जाय और फिर उस निष्कासित शक्ति को जीवन के उपयोगी क्षेत्रों में लगाया जाय। पर आज विज्ञान चूँकि उस निष्कासित शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है, इसलिए उससे कुढ़कर, दुखित होकर यदि यह आवाज उठाई जाय कि कोयले से प्राप्त शक्ति को फिर से कोयले में ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणत कर दिया जाय, तो कोयले की-सी जड़ता को प्राप्त होने की यह घोर पलायनवादी आकांक्षा जीवन से उकताकर मृत्यु को वरण करने की विकृत प्रवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ न मानी जायगी। मानवीय विकास की सहज प्रगति में सहायता देने वाली प्रवृत्ति यह होनी चाहिए कि कोयले से या दूसरे तत्वों से निष्कासित शक्ति किन उपायों से सामूहिक मानवीय कल्याण के लिये सदुपयोग में लाई जा सकती है इस बात की खोज निरन्तर की जाय।

डी० एच० लारेन्स, जेम्स जोइस तथा उनके साथी अथवा अनुयायी कलाकारों ने सभ्य समाज में यौन-प्रवृत्ति के दमन के फलस्वरूप जो सामूहिक विकृतियाँ बूर्जुआ समाज में देखीं, उनसे वे इस तरह बौखला उठे कि यौन (सेक्स-) चेतना के आदिम (पशु-) रूप में अपने अहम् को पूर्णतया, नग्न रूप में, निमज्जित करके उसी के साथ एकाकार बन जाने का पाठ पढ़ाने लगे।

कहना न होगा कि इस प्रकार की आत्मघाती, विकास-विद्रोही और प्रगति-विरोधी प्रवृत्ति जिन उपन्यासों द्वारा प्रतिपादित की गई हो, वे चाहे शैली और रूप की दृष्टि से कैसे ही चमत्कारपूर्ण क्यों न हों, अपने आगे वाले युग के अग्रदूत और प्रकाश-दर्शक वे कभी नहीं बन सकते। और न उपन्यास-साहित्य की उस अन्तर्धारा के साथ उनका किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध हो सकता है जो मानवीय जीवन के असंख्य विरोधाभासों के साथ-साथ चलती हुई भी उन विरोधाभासों को सृष्टि के मूल में निहित विराट् सामंजस्य के सूत्र में पिरोती हुई, मानवीय चेतना के व्यापक समुन्नयन में सहायक सिद्ध होती है। लारेन्स और जोइस (विशेषकर जोइस) की चमत्कारपूर्ण असफलता से हम लोगों को यह सबक मिलना चाहिए कि शैली और रूप के कलात्मक चमत्कार-मात्र से कोई रचना महान् नहीं मानी जा सकती। विश्व-साहित्य में बहुतसी ऐसी रचनाएँ भी हैं जो रूप और शैली की दृष्टि से बहुत साधारण हैं, तथापि कई पीढ़ियों के साहित्यालोचकों के कसौटी में वे खरी और महान् उतरी हैं। इसका कारण केवल यही रहा है कि वे रचनाएँ मानवीय आत्मिक शक्तियों के निरन्तर विकास और मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर उन्नयन के पथों को उन्मुक्त करने की ओर प्रयत्नशील रही हैं, न कि उन्हें रुद्ध करने की ओर। प्राचीन उदाहरण न देकर मैं इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत नये ही उदाहरण पेश करूँगा। डी० एच० लारेन्स और जेम्स जोइस को आज न कोई साहित्यालोचक ही पूछता है न साहित्यकार। गोर्की यद्यपि शैली और रूप-सम्बन्धी सूक्ष्म सौंदर्य-कला में उक्त दो उपन्यासकारों की तुलना में कहीं नहीं ठहरता, फिर भी उनकी रचनाओं का महत्त्व आज भी एक स्वर से माना जाता है और आगे भी कई युगों तक माना जायगा। मूल कारण इसका केवल एक ही है, और वह यह कि गोर्की ने बाहरी और भीतरी जीवन की विकृत-से-विकृत परिस्थितियों के बीच में भी ऐतिहासिक सत्य द्वारा परीक्षित उस महान् आस्था को एक क्षण के लिए नहीं भुलाया जो मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के अटूट, सहज और प्राकृतिक उत्कर्षण की ओर हर हालत में टकटकी लगाए रहती है। विकृत बूर्जुआ नैतिकता से ध्वस्त मानवता को प्रकट में महाविनाश की ओर उन्मुख देखकर भी गोर्की का यह विश्वास एक क्षण के लिए भी कभी नहीं डिगा कि सामूहिक नैतिक और आत्मिक पतन और भ्रष्टाचरिता के बावजूद मानवता नई-नई जमीनों को पकड़ती हुई अन्त में निश्चित रूप से विजयिनी सिद्ध होगी। अतएव कला की कोरी चोंचलेबाजी से (फिर चाहे उसका स्वर कैसा ही गम्भीर क्यों न हो) आस्था का एक कण भी महान् है।

बूर्जुआ समाज अपनी सांस्कृतिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचने के बाद गत्यवरोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण केवल परम्परा-प्राप्त विश्वासों पर जीने लगा और यह भूल गया कि महासत्य निरन्तर विकासशील है और बीच में अधिक समय तक रुद्ध हो जाने से वह असत्य से आच्छादित हो जाता है। चूँकि विकास को बाँधा नहीं जा सकता, इसलिए वह महासत्य असत्य को रुद्ध जलाशय में छोड़कर स्वयं नई-नई जमीनों को काटता हुआ नई-नई दिशाओं से प्रवाहित होकर आगे को बढ़ता चला जाता है।

स्वयं अपने ही द्वारा सृष्ट अवरोधों से घिरे बूर्जुआ समाज के रूढ़िगत विश्वासों को—और फलतः उसके अहम् को—सबसे पहला धक्का गैलीलियो के इस आविष्कार से लगा कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी चलती है। उन्हें जब यह बताया गया कि पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र नहीं, बल्कि महाविश्व की तुलना में एक परमाणु के समान है, तब उसे मानवीय जगत् की लघुता (अर्थात् आत्म-लघुता) का बोध हुआ। उसके बाद दूसरा भयंकर धक्का उसके रुद्ध (अतएव झूठे) अहम् को तब लगा जब डार्विन ने अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य सृष्टिकर्ता की एक विशिष्ट और सबसे अलग रचना नहीं है, बल्कि क्रमिक विकास से उसने इस स्थिति को प्राप्त किया है, और उसके पूर्व पितामह बंदर थे! अपने बंदरत्व की अनुभूति से उसका आत्म-विश्वास बहुत बड़ी हद तक ढह गया। उसके बाद आया कार्ल मार्क्स, जिसने मानवीय प्रगति के अन्तर्निहित ऐतिहासिक सत्य की छान-बीन द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि बूर्जुआ समाज भौतिक प्रगति की दृष्टि से भी स्वयं अपने ही जालों में इस कदर जकड़ गया है कि अपने गले में अपने-आप फांसी का फन्दा डालने के सिवा उसके लिए दूसरा कोई चारा नहीं रह गया है।

सबसे अन्तिम और सबसे घातक धक्का बूर्जुआ समाज को दिया फ्रायड ने। फ्रायड ने मनोविश्लेषण को एक सुगठित, वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करके यह सिद्ध किया कि आज का सभ्य मनुष्य जिन धार्मिक और नैतिक विश्वासों पर जी रहा है वे दमित यौन-वृत्ति के ही विभिन्न प्रतीक हैं और मनुष्य की आज तक की सारी प्रगति दमित सेक्स-जनित विकृतियों का ही इतिहास है। उसने बताया कि मनुष्य की सभ्यता केवल एक बाहरी नकाब है और झीने नकाब के भीतर मनुष्य एकदम नंगा है। हालाँकि यह कोई नई बात नहीं थी और इस तथ्य से आतंकित होने का भी कोई कारण नहीं था, तथापि बूर्जुआ समाज अपनी सांस्कृतिक और कलात्मक नकाब का पर्दाफाश होते देखकर बुरी तरह घबरा उठा। इसकी प्रतिक्रिया उस पर यह हुई कि वह जैसे प्रायश्चित-स्वरूप अपने को बर्बर अवस्था से भी अधिक नंगा करने पर तुल गया। लारेन्स और जोइस तथा उनके साथ के और बाद के 'अतियथार्थवादी' कलाकारों के निरर्थक नंगेपन का यही कारण है। यह नंगापन जीवन के नये और स्वस्थ संघटन के लिए नहीं, बल्कि मानवत्व के विघटन के उद्देश्य से था। जैसे ये बौखलाये हुए कलाकार फ्रायड से कहना चाहते हों: **"तुम सभ्य मनुष्य को सेक्स-सम्बन्धी विकृतियों द्वारा चालित पुतला मानते हो तो लो, हम सेक्स को उसके स्वस्थ और आदिम रूप में अपनाने के लिए बंदर बन जाते हैं।"** आज के विकृत युग के इन मनचले कलाकारों ने यह नहीं सोचा कि मनुष्य को जीव-विकास के क्रम में एक सीढ़ी पीछे से जाना सुस्पष्ट घोर पतन और ह्रास है और मनुष्य के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास के मूल्य पर सेक्स-सम्बन्धी 'स्वस्थ' पाशविक प्रवृत्ति को मोल लेने के बराबर मूर्खता दूसरी कोई नहीं हो सकती। आल्डस हक्सले ने अपने एक उपन्यास में आज के मनुष्य की इस बंदराभिमुखी सेक्स-प्रवृत्ति पर चुभता हुआ व्यंग कसा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ्रायड ने यह तो दिखा दिया कि मनुष्य की धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक सभ्यता उसकी दमित यौन-वृत्ति की विकृति का परिणाम है, पर यह वह नहीं बता सका कि मनुष्य के स्वस्थ और सहज विकास के लिए स्वाभाविक और उपयुक्त पथ क्या है। और इस प्रकार एक बहुत बड़ा क्रूर परिहास वह मानवता के साथ कर गया। बड़े-बड़े कलाकारों तक को वह परोक्ष रूप से यह सुझाव दे गया कि जब मानवीय उन्नति के साथ सेक्स-सम्बन्धी विकृतियाँ एकरूप में जुड़ी हुई हैं तब चेतना को पशुत्व की ओर लौटाना ही श्रेयस्कर है और पशुओं की 'स्वस्थ' सेक्स-चेतना से कला के आदिम तत्वों को बटोर-बटोरकर 'अति-यथार्थवादी' उपकरणों को जुटाते रहने में ही कला की भलाई है। फ्रायड के सिद्धांतों की कोई खास गलती नहीं है, पर उन सिद्धान्तों की सीमा अत्यन्त संकीर्ण होने के कारण अपने मानवीय विकास के सारे इतिहास को एक गलत परिप्रेक्षण (पर्सपेक्टिव) पर लाकर खड़ा कर दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद 'अति-यथार्थवादी' कला ने मानवत्व के गौरव को ठुकराकर पशु-स्तर की चेतना को साधन नहीं बल्कि साध्य मानकर, अवचेतना-लोक के विस्फोटक तत्त्वों से भरे अगाध भण्डार को अनियन्त्रित और खुली छूट देकर कलाकारों के एक बहुत बड़े वर्ग पर अपना जो व्यापक प्रभाव फैलाया वह बूर्जुआ संस्कृति के ह्रास और विघटन का एक और ज्वलंत निदर्शन था।

आज सार्त्र उसी बूर्जुआ कला और संस्कृति की अन्त्येष्टि क्रिया कर रहा है। गैलीलिओ के समय से लेकर आज तक जो चार बड़े धक्के बूर्जुआ कला और संस्कृति पर पड़े उन चारों का अलग-अलग तथा सम्मिलित, दोनों प्रकार का प्रभाव सार्त्र पर पड़ा। जीवन के प्रति घृणा और 'उबकाई' उसके उपन्यासों और नाटकों की प्रेरणा के मूल उपकरण हैं। उसके लिए जीवन एक 'निरर्थक वासना' है। सार्त्र की यह प्रतिक्रिया 'टिपिकल' बूर्जुआ प्रतिक्रिया है जिसकी उत्पत्ति बूर्जुआ समाज के इस ज्ञान और अनुभूति से हुई है कि उसके बड़े-बड़े सांस्कृतिक स्वप्न स्वयं उसी के निरंतर आत्म-संकोचन के कारण नष्ट हो चुके हैं। इसलिए जो थोड़े-बहुत स्वप्न शेष रह गए हैं उन्हें भी निर्ममता से ध्वस्त करते चले जाने में उसे एक अप्राकृतिक, दानवीय उल्लास का अनुभव होता है। वैयक्तिक अहम् को सामूहिक अहम् से छिन्न करके समस्त, सामाजिक सम्बन्धों से अपने को अलग खींचते-खींचते आज के बूर्जुआ लेखक या कवि ने अपने को इस तरह शून्य के बीच में लाकर खड़ा कर दिया है कि अनन्त विश्व के बीच में वह अपने को निपट अकेला पाता है। **"राग-रंग से भरे जगत् में कवि का हृदय अकेला"** यह आज के युग के बूर्जुआ कलाकार की 'टिपिकल' अनुभूति है। वह खीझकर अपने चरम एकाकीपन की इस अनुभूति को 'गर्व' के रूप में समाज के आगे पेश करना चाहता है और उसी खीझ के कारण सार्त्र के माध्यम से यह दांभिक घोषणा करता है कि वैयक्तिक मानव सृष्टि के सारे नियमों से एकदम मुक्त और 'स्वतन्त्र' है। उसकी यह 'स्वतन्त्रता' एक आत्मघाती पागल की अपने गले में स्वयं फाँसी लगाने की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह बात वह भूल जाता है। सार्त्र के सबसे प्रथम उपन्यास 'उबकाई' ('ला नोसे') से ही उसकी इस 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता', समाज और संसार के प्रति उत्कट उपेक्षा—बल्कि विकट घृणा—और तज्जनित उबकाई का परिचय सुस्पष्ट और असंदिग्ध रूप में मिल जाता है। उसके किसी भी उपन्यास या नाटक के पात्र जीवन के बीच के प्राणी नहीं हैं। वे या तो जीवन-नदी के उस पार के अप्राकृतिक अनुभूति-सम्पन्न प्राणी हैं या इस पार निरर्थक शून्य में उसासें भरने वाली छायारहित छायात्माएँ। अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस जड़, निश्चेष्ट और भयावह उदासीनता, अवसाद, खीझ और असंतोष की स्थिति से उबरने की आकांक्षा का एक कण भी उन अमानवीय लोक के जीवों में नहीं पाया जाता। उसी स्थिति में रहकर जीवित लोक के प्रति कटु घृणा की फुफकार द्वारा विषैले फेन को निरंतर उगलते रहने में ही उन्हें विकृत आत्म-तृप्ति प्राप्त होती है।

और, युग की यह विशेषता देखिए कि आज सारे संसार का बूर्जुआ लेखक-समाज (जिसमें कलात्मक योग्यता की कोई कमी आज भी नहीं है) सार्त्रीक छाया-लोक की अमानवीय विकृतियों से अत्यन्त प्रभावित है, केवल किसी मरणोन्मुख, हताश और जीवन-विद्वेषी युग और समाज में ही इस तरह की अस्वाभाविक प्रवृत्तियाँ पाई जा सकती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बूर्जुआ-कला अपने ह्रास की चरम स्थिति को पहुँच चुकी है और उपन्यास के क्षेत्र में उसके पतन का अन्तिम रूप दिखाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से लेकर आज तक जो भी नये मोड़ इस दिशा में लिये गए हैं वे उत्तरोत्तर मानवीय जीवन के सहज और स्वस्थ विकास के अधिकाधिक विरोधी और विद्वेषी सिद्ध होते चले गए हैं। कला की शैली में ज्यों-ज्यों नयापन और निखार आता चला गया है, त्यों-त्यों, उसी परिमाण में, भावनाओं में संकोचन और विकृति आती चली गई है। आधुनिक उपन्यास के प्रारम्भिक युग में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेमाकर्षण की जिस अनुभूति को लगन, त्याग और तपस्या की भी भावना के रंग से रंगने की प्रवृत्ति पाई जाती थी वह धीरे-धीरे क्रम से जीव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अस्त्रों की चीर-फाड़ का शिकार बनती हुई इस कदर कुरूप और कुत्सित स्थिति को प्राप्त होती गई कि अन्त में घृणा, ग्लानि और उबकाई के रूप में परिणत होकर रह गई। जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान का इसमें कोई दोष न था। दोष था कुछ विशेष प्राकृतिक कारणों से (जिन पर प्रकाश डालना यहाँ अप्रासंगिक होगा) बूर्जुआ 'आर्गेनिज़्म' के भीतर उत्पन्न हुई रासायनिक विघटन-क्रिया का, जिस पर नये जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान की प्रतिक्रिया अत्यन्त घातक सिद्ध होने लगी। इससे भी दुखद बात यह थी कि समाज-विज्ञान का कोई प्रभाव उस पर न पड़ा, जो जीव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को संतुलित आधार देकर उसे स्वस्थ और उपयोगी दिशाओं की ओर नियोजित कर सकता था। फल यह देखने में आया कि जिस तरह प्रेम-सम्बन्धी धारणा विच्छिन्न होकर, बिखरकर, अपनी उन्नत और विकसित स्थिति से कटते-छटते पशुत्व की स्थिति से भी अधिक विशृङ्खल और विकृत हो गई, उसी तरह जीवन के सभी क्षेत्रों के सहज-सुन्दर विकास की धाराएँ रुद्ध होकर, ग़लत दिशाओं की ओर लौटती चली गईं।

बूर्जुआ संस्कृति के इस स्वाभाविक गलन, ह्रास और अवरोध के बाद यह आशा की जानी चाहिए थी कि प्रोलेटेरियन उपन्यास-साहित्य लम्बे डग भरता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जायगा। पर इस बात के कोई लक्षण अभी तक नहीं दिखाई दिए। गोर्की की परम्परा प्राप्त होने पर भी प्रोलेटेरियन उपन्यास जो विकसित न हो पाया इससे साहित्यान्वेषकों को आश्चर्य होना यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि यदि तनिक गहराई से और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो आश्चर्य के लिए कोई कारण नहीं रह जायगा। गोर्की ने उपन्यास-रचना में जो विशिष्टता प्राप्त की उसके कई कारण थे। उसके आगे एक तो कला-सम्बन्धी शैली और रूप-गठन की वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बूर्जुआ परम्परा थी जो सदियों के परिश्रम और प्रयोग द्वारा अपूर्व सुन्दर ढंग से विकसित होकर निखर चुकी थी; दूसरे, उन बूर्जुआ रूसी लेखकों की परिपक्वता-प्राप्त रचनाओं की विरासत उसे प्राप्त थी जो केवल शैली और कला की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि जीवन के व्यापार और गहरी नाप-जोख के साथ ही उसकी स्वस्थ विकास-धारा को अपनाये हुए थे; तीसरे, उसकी प्रधान रचनाएँ उस युग में लिखी गई थीं जब प्रोलेटेरियन संस्कृति का निर्माण नहीं हुआ था, बल्कि वह स्वयं कच्चे धातु-पदार्थों से उस संस्कृति के निर्माण के प्रयत्नों में लगा हुआ था।

जब रूस में प्रोलेटेरियन राज कायम हुआ तब परिस्थितियाँ ही एकदम बदल गईं। नव-निर्मित संस्कृति द्वारा प्रभावित और परिचालित प्रोलेटेरियन समाज के आगे कई परिस्थितियों के अनुकूल नये साहित्य के निर्माण के लिए कोई परम्परा ही नहीं थी। गोर्की का साहित्य इस सम्बन्ध में उनकी सहायता नहीं कर सकता था; इसका कारण यह था कि गोर्की की साहित्य-रचना के प्रधान युग में प्रोलेटेरियन राज कायम नहीं हुआ था, बल्कि उसके लिए संघर्ष चल रहा था। ये दो परिस्थितियाँ एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। इसलिए प्रोलेटेरियन संस्कृति के युग के साहित्यकारों को नये साहित्य के निर्माण के लिए स्वयं ही कच्चा माल खोजना या उपजाना पड़ा है और स्वयं ही, बिना किसी पिछले नमूने के, उस माल द्वारा नये-नये नमूने तैयार करने पड़े हैं। इन कारणों से प्रोलेटेरियन साहित्य और संस्कृति में अभी तक परिपक्वता नहीं आ पाई है। इसका एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि सन १७ या उसके कुछ बाद से लेकर आज तक रूस को अपनी आत्म-रक्षा के लिए कई बार सामूहिक विरोधी शक्तियों से लड़ना पड़ा है या लड़ने की तैयारियाँ करनी पड़ी हैं, जिसके फलस्वरूप अपनी नई संस्कृति के सहज विकास में एक-से-एक विकट विघ्न उसके आगे आते चले गए हैं। ऐसी हालत में केवल बचकाने ढंग का साहित्य ही वहाँ पनप सकता था, जो यद्यपि काफी स्वस्थ है और एक नये मोड़ की सूचना देता है, तथापि अभी तक परिपक्व और पुष्ट नहीं हो पाया है। उनके समुचित विकास और पुष्टि के लिए कम-से-कम पचास वर्ष की परिपूर्ण शान्ति और स्थिरता चाहिए।

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि हम पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य से किसी नये विकास की, नई शक्ति और नई स्फूर्ति दे सकने वाले किसी नये मोड़ की आशा अभी काफी समय तक के लिए नहीं कर सकते। जहाँ तक साहित्य और कला-सम्बन्धी प्रश्नों का सम्बन्ध है, मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र तीनों की सीमाएँ हम देख चुके हैं। मार्क्स और फ्रायड ने अपने-अपने क्षेत्रों में बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है, और दो नये—यद्यपि मूलतः भिन्न—दृष्टि-कोणों से जीवन और जगत् को समझने, परखने और उनका नया निर्माण करने की प्रेरणाएँ हमें दी हैं। पर दोनों का प्रभाव साहित्य पर जिस रूप में पड़ा है उससे किसी भी पाश्चात्य देश में ऐसे महान् उपन्यास की सृष्टि नहीं हो पाई है जो आज के विचित्र विरोधाभासों, विषमताओं और सामूहिक विकृतियों से पूर्ण युग में भी मानवीय चेतना को टेढ़े-मेढ़े रास्तों से अलग हटाकर, बीच के सहज विकास-पथ की ओर नये सिरे से नियोजित करके, जीवन के प्रति एक नई और स्वस्थ आस्था प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सके।

इसके लिए हमें प्राच्य देशों—विशेषकर भारत—की ओर मुड़ना होगा। इस देश के सम्बन्ध में साधारणतः यह धारणा लोगों में पाई जाती है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका सांस्कृतिक दृष्टिकोण बराबर निराशावादी रहा है। पर विज्ञ जनों से यह बात पहले भी छिपी नहीं थी और आज भी नहीं है कि यह धारणा भ्रमात्मक है। यह ठीक है कि इस देश की भौगोलिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ प्रारम्भ से ही ऐसी रही हैं जिनके कारण युग-युग से यह निराशा की तूफानी लहरों की बाढ़ में बहते-बहते बचा है: बड़ी-बड़ी आँधियों के बीच से उसे भटकना पड़ा है, फिर भी किसी रहस्यमयी अन्तरीण आस्था का प्रकाश उसे निरन्तर मूल जीवन के वास्तविक विकास का केन्द्र-पथ दिखाता चला गया है। महाभारत के ज़माने में ऐसी ही आँधी आई थी, जब न संस्कृति के प्रवर्तकों को और न जनता को ही कोई पथ सूझ पाता था। विविध क्षेत्रों के राजनीतिक उत्थान-पतन, सामाजिक वैषम्य, नैतिक विरोधाभास और सांस्कृतिक संकट की एक दूसरे से बुरी तरह उलझी हुई जटिल परिस्थितियों के बीच में कहीं कोई कूल-किनारा नहीं दिखाई देता था, किसी एक मुनि का भी वचन प्रमाण नहीं लगता था और 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' मालूम होता था। ऐसे अवसर पर महाभारत का कवि आया। उसने एक महान् उपन्यासकार की तरह कुछ विशिष्ट चरित्रों की अवतारणा करके उनके माध्यम से अपने सारे संकटपूर्ण युग की विकट-से-विकटतर और जटिल-से-जटिलतर परिस्थितियों का विशद, यथार्थ और सूक्ष्म चित्रण पुंखानुपुंख विश्लेषण के साथ किया। इस प्रकार घनघोर निराशा के वातावरण की चरम नाटकीय स्थिति का प्रदर्शन करते हुए भी उसने अपने भीतर की सुदृढ़ आस्था के प्रकाश को एक पल के लिए भी नहीं बुझने दिया, सच्चे मानवीय धर्म की अन्तिम विजय के प्रति अपने अडिग विश्वास को एक क्षण के लिए भी नहीं ढहने दिया। भयंकर-से-भयंकर आँधियाँ घहराती चली आएँगी और विश्व को लीलने की धमकी देंगी, पर चिर-विकासशील और सर्वजयी मानवीय आत्मा के आगे उन्हें अन्त में झुकना ही पड़ेगा; विश्व-विध्वंसक शक्तियाँ प्रलय के-से उल्कापात और वज्रपात करेंगी, पर चिर-शान्ति की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील मानवात्मा अन्ततः उन विनाशशील शक्तियों का परिपूर्ण नियन्त्रण करके ही रहेगी—यह महासन्देश महभारतकार ने विश्व को दिया।

जब-जब सामूहिक निराशा से भरे संकटपूर्ण अवसर इस देश में आये तब-तब किसी-न-किसी महाकवि का अविर्भाव हुआ और उसके मुँह से महान् आस्था की वाणी हमने सुनी। जब शकों (अथवा गुप्तकाल में हूणों) का संगठित आक्रमण इस भूमि पर हुआ तब कालिदास का आविर्भाव हुआ और उस देशव्यापी घनघोर निराशा के वातावरण में जनता ने महापराक्रमी रघुवंशियों के विजय-अभियान की अपूर्व स्फूर्तिदायक गाथा सुनी। जब सोलहवीं शती के अस्त-व्यस्त वातावरण में जनता भूखों मर रही थी, निराशा और हीनता की भावना ने उसे "कहाँ जायँ का करी?" की प्रश्नात्मक स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया था, जब जीवन की उपयोगिता और महामानव की उच्चाकांक्षाओं के सम्बन्ध में सारी आस्था जन-मन से विलीन होती चली जा रही थी, तब तुलसी के राम का अपूर्व बल सबको मिला। उसी प्रकार ब्रिटिश शासन के लौह-चाप के नीचे जब भारतीय जनता बुरी तरह कुचली जा रही थी और उसकी आत्म-लघुता की भावना चरम सीमा को पहुँच चुकी थी तब रवीन्द्रनाथ ने केवल अंतरीण आनन्द के उद्बोधन द्वारा ही नहीं वरन् "मा भैः" के प्रबुद्ध घोष से मानवीय आत्मा के अंतरीण गौरव का ऐसा महामन्त्र फूँका जिसने कई युगों तक के लिए जन-चेतना को एक नई स्फूर्ति का नया सम्बल प्रदान किया।

केवल कविताओं में ही नहीं, रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में भी हम उसी उद्बुद्ध चेतना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवीय आत्म-तत्वों के चिर-विकास के प्रति उसी निश्चित आस्था का स्वर गूँजता हुआ पाते हैं। जब यूरोपीय बूर्जुआ संस्कृति और बूर्जुआ कला रुग्ण शय्या पर पड़ी-पड़ी कराह रही थी और सारे पाश्चात्य साहित्य के एक-एक शब्द से निराशा, अनास्था और अविश्वास की चीखें निकल रही थीं तब दलित देश की घोर दयनीय परिस्थितियों के बीच में अपमानित और निर्यातित होता हुआ भी रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' महामानवत्व की महावाणी प्रचारित कर रहा था। रवीन्द्रनाथ ने 'गोरा' और 'घरे-बाइरे' में (जिसकी बहुविध प्रशंसा करने पर भी गोर्की को तृप्ति नहीं हुई थी) अंतर्जीवन और बाह्य जीवन के व्यापक सत्यों के रासायनिक सम्मिश्रण और समन्वय द्वारा विश्व-उपन्यास साहित्य को निश्चित रूप से एक नया और महत्त्वपूर्ण मोड़ दिया था।

रवीन्द्रनाथ के बाद शरत्चन्द्र की बारी आई। जहाँ तक विशुद्ध औपन्यासिक कला और औपन्यासिक रस का प्रश्न है, शरत्चन्द्र ने रवीन्द्र-युग से प्रगति ही की, पर जब सर्वांगीण परिपूर्णता और व्यापकता का प्रश्न उठता है तब शरत्चन्द्र रवीन्द्रनाथ के आगे कहीं ठहर नहीं पाते। शरत्चन्द्र महज जीवन-रस के रसिक थे, जो उन्हें तत्कालीन बंग-समाज के पारिवारिक और सीमित सामाजिक दायरे के भीतर ही प्राप्त हो सकता था। उन्होंने उस पारिवारिक तथा सामाजिक सृष्टि द्वारा अपने युग के समाज में एक प्रगतिशील चेतना की लहर अवश्य दौड़ाई, पर उनकी प्रतिभा एक विशेष समाज के युग-सत्य तक ही सीमित होकर रह गई, उस विशेष युग और विशेष समाज के माध्यम से युगातीत और समाजातीत व्यापक सत्य की ओर वह उन्मुख न हो सकी। शरत् के 'देवदास' या 'श्रीकान्त' एक विशेष युग के विशेष समाज की उपज हैं, और उस विशेष युग और विशेष समाज की समाप्ति के बाद उनका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। पर रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' किसी एक विशेष युग और विशेष समाज की उपज नहीं है। उसका रक्त सोलहों आना आयरिश है और उसका पालन-पोषण पैदा होने के बाद से ही एक कट्टर भारतीय परिवार के बीच में होता है। वह छात्र-जीवन के कुछ बाद तक अपने को परिपूर्ण भारतीय समझता है, देश के धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में पूरा भाग लेता है और जेल जाता है। इन सब संघर्षों के बाद अंत में जब उसे किसी विशेष घटना के फलस्वरूप अकस्मात् यह पता चलता है कि वह भारतीय नहीं आयरिश है, तब उसके आगे बृहत्तर मानवीय सत्य उद्घाटित होने लगते हैं। इसलिए 'गोरा' किसी एक विशेष देश, जाति, समाज या युग के संकीर्ण दायरों के भीतर सीमित नहीं है। वह युग-युग की विषमताओं और विरोधाभासों के बीच में महासत्य की चेतना को निरन्तर आगे बढ़ाती रहने वाली चिर-प्रगतिशील मानवात्मा की चिर-विद्रोही शक्ति का प्रतीक है।

फिर भी शरत् के युग-सत्य के भीतर युगातीत सत्य के बीजों का एकदम अभाव था, ऐसा मैं नहीं मानता। उनके 'शेष प्रश्न' में हम वह बीज पाते हैं।

शरत्चन्द्र के बाद विश्व-उपन्यास-धारा की एक महत्त्वपूर्ण शाखा हिन्दी-जगत् की पुरानी और अपेक्षाकृत ऊसर भूमि को काटती हुई आई और एक काफी बड़े क्षेत्र को सींचने लगी। प्रेमचन्द उसी अपेक्षाकृत नई सिंचाई की उपज थे। प्रेमचन्द ने शरत्चन्द्र के पारिवारिक दायरे से हिन्दी-उपन्यास को मुक्त अवश्य किया और उसकी सामाजिक परिधि को भी काफी बढ़ाया, पर उनके उपन्यासों में न शरत्चन्द्र की कलात्मकता थी न रस-परिपाक; न शैली की वह स्वाभाविकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, न रूप-गठन का वह चमत्कार। फिर भी गाँवों के सरल जीवन के सहज चित्रण में उनकी विशेष कुशलता किसी भी हालत में उपेक्षणीय नहीं है और उसी ग्राम्य-जीवन की सहज अनुभूति से उत्पन्न नैतिकता के स्वाभाविक उभार से उन्होंने भारतीय बूर्जुआ समाज की कृत्रिम नैतिकता को जो धक्का दिया, वह भी एक बड़ा प्रगतिशील कदम था। पर इन सब विशेषताओं के बावजूद वह भी युग-सत्य से ऊपर न उठ पाए—उठते-उठते रह गए।

प्रेमचन्द के बाद के हिन्दी-उपन्यास के सम्बन्ध में कोई राय देना अभी खतरे से खाली नहीं है—विशेषकर मेरे लिए, जब कि मैं स्वयं प्रेमचन्दोत्तरयुगीन उपन्यासकार हूँ। यह आज के युग की एक विचित्र और ध्यान देने योग्य विशेषता है कि प्रेमचन्द के बाद वाले औपन्यासिक युग को आरम्भ हुए आज प्रायः सताईस साल हो चुके, पर अभी तक उसका ठीक-ठीक क्या साधारण लेखा-जोखा भी हमारे आलोचकगण नहीं कर पाए। केवल कुछ घिसी-घिसाई, पिटी-पिटाई और बहु-भाषित उक्तियाँ बीच-बीच में किसी-न-किसी आलोचक द्वारा उनके सम्बन्ध में दुहरा दी जाती हैं। इस विशेष युग के उपन्यास-साहित्य को जो अभी तक यथार्थ परिप्रेक्षण में नहीं रखा जा सका है उसके कई कारण हैं। पुराने आलोचक उसके गम्भीर महत्त्व को समझने में निपट असमर्थ थे। उसकी जमीन ही उनके लिए एकदम नई थी। इतिवृत्तात्मक उपन्यास की परम्परा में पले हुए अपने वचकाने ढंग के आलोचनात्मक मानों द्वारा वे उस नई प्रवृत्ति की गहराई की माप-जोख कर ही नहीं सकते थे। अधिक-से-अधिक वे उसे "**पाश्चात्य धारा से प्रभावित गंदा और अश्लील साहित्य**" कहकर आत्म-संतोष कर लेते थे। उनके बाद जो नये आलोचक आये वे प्रेमचन्दोत्तर युग के उस उपन्यास-साहित्य की एकदम नई विशेषताओं का अध्ययन समाप्त भी न कर पाए थे कि द्वितीय महायुद्ध की परिस्थितियों ने उनका ध्यान पाश्चात्य साहित्य के कुछ नये-नये, छिटपुट (किन्तु स्थायी महत्त्व से एकदम रहित) प्रयोगों की ओर आकर्षित कर दिया। प्रेमचन्दोत्तर युग के हिन्दी उपन्यास गहरी और ठोस जमीन पर खड़े होने के साथ ही जीवन की ऐसी जटिलता को अपने भीतर समाहित किये हुए थे और उस जटिलता के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा जीवन के महाकव्यों के उद्घाटन के ऐसे महत्त्वपूर्ण महाप्रयास में संलग्न थे कि तनिक भी बहाना मिलने पर उनसे कतराकर निकल जाने में ही नये आलोचकों ने अपना त्राण देखा। क्योंकि उन उपन्यासों का मूल्यांकन और विवेचन घोर परिश्रम-साध्य था और उसके लिए आलोचना के प्राचीन सिद्धान्तों से लेकर नवीनतम मानों के गहरे अध्ययन की आवश्यकता के अतिरिक्त युग-युग के जीवन और साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि के गहन ज्ञान, वर्तमान युग के जटिल जीवन के समुचित विश्लेषण और भावी युग के जीवन के सम्यक् अनुमान की अपेक्षा थी। इसलिए स्वभावतः उससे कतराकर निकल जाने, उसे उपेक्षित ही छोड़ देने और युग-फैशन द्वारा विकसित नये-नये, सहज-साध्य, छिटपुट प्रयोगों के पर्यवेक्षण की ओर झुकने में ही उनका कल्याण था।

पर वह उनकी बड़ी भारी भूल थी। उक्त विशेष युग के उपन्यास-साहित्य को 'बाइपास' करके निकल जाने का प्रयत्न अन्ततः टेढ़ी खीर सिद्ध होकर रहेगी। सन् '५४ में मैं यह भविष्यवाणी कर रहा हूँ जो सन् '६४ में स्वतः सिद्ध हो जायगी। अभी कुछ समय के लिए उसकी उपेक्षा आसानी से की जा सकती है, क्योंकि अभी युग का ध्यान कई विभिन्न दिशाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर केन्द्रित है। पर जल्दी ही वह समय आएगा जब युद्धकालीन या युद्धोत्तर अंग्रेजी, अमरीकी, इटालियन या फ्रांसीसी साहित्य के वैयक्तिक जीवन-सम्बन्धी छिटपुट प्रयोगों की लच्छेदार कला की सीमा तक पहुँच जाने पर हमारे नये आलोचकों के लिए आगे का रास्ता एकदम चट्टानी दीवार से रुद्ध हो जायगा। और तब उन्हें नई दिशा खोजने के लिए फिर लौट-कर हिन्दी के उसी उपन्यास-साहित्य की ओर आना होगा जिसे वे युग के झूठे चक्रों और फ़ैशनों की ओट में सहज उपेक्षणीय मानते थे। खतरे का पूरा अनुभव करते हुए भी मैं इतना कह देना चाहता हूँ कि प्रेमचन्दोत्तर-कालीन हिन्दी-उपन्यास विश्व-उपन्यास-साहित्य के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और युग-विवर्तक नये मोड़ की सूचना है।

इतना कह चुकने के बाद मैं उस प्रश्न पर विचार करने की स्थिति में आता हूँ जिसकी ओर मैंने प्रारम्भ ही में संकेत किया था—अर्थात् विश्व-उपन्यास के भविष्य का सम्भावित रूप क्या होगा। चूँकि जितना कहा जा चुका है उसके भीतर भावी महत्त्वपूर्ण उपन्यास के सम्बन्ध में आनुमानिक संकेत काफी दिये जा चुके हैं, इसलिए अब उस प्रश्न का उत्तर बहुत कम शब्दों में आसानी से दिया जा सकता है।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि भविष्य में जिस महा-उपन्यास का—आधुनिक उपन्यासों की परम्परा का अन्त करने वाले उपन्यास का—आविर्भाव होगा उसमें प्रायः उन सब गुणों का समन्वय रहेगा जो विशेष-विशेष समय के युग-विवर्तक उपन्यासों में वर्तमान रहे हैं। और, उन विशेषताओं के अतिरिक्त, उसमें पिछले युगों के सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की अन्तर्भाव-धाराएँ रासायनिक रूप में समन्वित और विलयित होकर उन सबसे भिन्न एक नई ही भावधारा का उद्भावन करेंगी और आज तक की परम्परा से भिन्न एक नये ही रस का स्रोत बहायेंगी।

अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं फिर कह दूँ कि भविष्य का वह महा-उपन्यास नवीन शैली-निर्माण और नये रूप-गठन की दृष्टि से सुन्दरतम होगा। स्त्री-पुरुष के प्रेम की वैयक्तिक अनुभूति को उसमें किसी भी रूप में तनिक भी महत्त्व नहीं दिया जायगा। न उस तरह के प्रेम की तथाकथित 'स्वर्गिक चेतना' की महत्ता उसमें परिस्फुटित होगी, न मनोवैज्ञानिक विधि से उसकी विकृतियों का ही विश्लेषण रहेगा। प्रेम-सम्बन्धी चेतना की जो मूल प्राकृतिक धारा सभी पारिवारिक, सामाजिक तथा व्यापक मानवीय सम्बन्धों में सूक्ष्म अन्तर्धारा के रूप में वर्तमान पाई जाती है, अन्तर और बाह्य प्रकृति के मूल तत्वों से जिसका युग-युग से सहज सम्बन्ध रहा है, जो आज की विविध विषमताओं और विरोधाभासों से पूर्ण युग में ऊपर से एकदम विच्छिन्न और विकृत रूपों के पर्दों की ओट में छिपी होने के कारण अस्तित्वहीन-सी लगती है, उसीका परिस्फुटन उसमें जीवन-रस से घुली-मिली एक नई ही शैली द्वारा किया जायगा। बूर्जुआ संस्कृति की विरासत में प्राप्त जो एकांत अहंगत चेतना आज के बौद्धिक मनुष्य को विश्व-मानवत्व से छिन्न करके उसे विनाश के महागह्वर में ढकेलने के लिए तत्पर है, उसका विश्व-मानवत्व से पुनस्संयोजन कैसे हो सकता है, इसका सुझाव उस नये उपन्यास के स्वाभाविक जीवन-चित्रण के भीतर निहित रहेगा। बूर्जुआ समाज की युगों की साधना द्वारा प्राप्त संस्कृति के उन्नततम रूप का सहज रासायनिक सम्बन्ध या विलयन नव-विकसित प्रोलेटेरियन संस्कृति के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किस सहज और मंगलमय रूप में हो सकता है उसका आभास भी उस नये उपन्यास में किसी-न-किसी रूप में रहेगा, ऐसा अनुमान मैं लगाता हूँ। आज संसार के विभिन्न वर्गों, विभिन्न राष्ट्रों और विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच जो परस्पर-विध्वंसक संघर्ष चल रहा है उसकी अनिवार्य समाप्ति किन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होकर रहेगी, उसका भी संकेत उस उपन्यास में चित्रित जीवन-धारा के सहज स्वरूप के भीतर से प्राप्त होगा। संक्षेप में वह महा-उपन्यास कुण्ठा, निराशा, घृणा और उबकाई से बहुत दूर, जीवन के आदिकाल से लेकर आज तक के सहज-स्वस्थ, बाह्य और अन्तरीण विकास-पथ पर स्थित रहेगा और आज के युग के समस्त द्वन्द्वों और प्रतिद्वन्द्वों से परे, प्रकृति की मूल धारा से सम्बद्ध, जीवन के आनन्द की अनुभूति से जुड़ी हुई महान् आस्था की वाणी को अपूर्व कला के माध्यम से उसी तरह प्रसारित करेगा जिस प्रकार वसंत में खिलने वाले फूल सारी प्रकृति में, सहज रूप से, चारों ओर के वातावरण में परिमल बिखेरते हैं।

अन्त में एक संकेत और कर दूँ कि जिस आनुमानिक उपन्यास का उल्लेख मैंने किया है उसका चरित-नायक, नायिका या पात्र-पात्रियाँ किसी विशेष देश या विशेष समाज की विशिष्टता से सम्बन्धित न होकर रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' की तरह विश्व-मानवत्व के प्रतीक होंगे।

और इस प्रकार के उपन्यास के लिए उपयुक्त जमीन आज हमारे देश में तैयार है, क्योंकि इस प्रकार की विश्वजनीन अनुभूति की परम्परागत सांस्कृतिक प्रेरणा केवल इसी देश को प्राप्त है, और युग की विषमता और विरोधाभास के भारे प्रतीक भी आज इसी देश में सिमटते चले आ रहे हैं। इसलिए जो यह स्वर्णिम अवसर हम लोगों—भारतीय उपन्यासकारों—को प्राप्त हुआ है उसे यदि हम अपनी लापरवाही से गवाँ दें तो वह बड़ी भारी ऐतिहासिक चूक होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाकर माचवे

मराठी रस-मीमांसा : नई दिशाएँ

मराठी भाषा में साहित्यालोचन पर विपुल, विविध और विशाल साहित्य है। 'वाङ्मयीन टीका', जैसे कि मराठी में साहित्य-समीक्षा को कहते हैं, 'निबन्धमाला'-कार विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के जमाने से और उससे पहले से चली आ रही है। सबसे नवीनतम ऊहापोह अमरावती के विद्वान् प्राध्यापक गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे द्वारा मुंबई मराठी साहित्य संघ की ओर से इस वर्ष 'वामन मल्हार व्याख्यानमाला' में 'आपलें साहित्य-शास्त्र' (हमारा साहित्य-शास्त्र) विषय पर किया गया। इस विशाल साहित्य का सम्पूर्ण ऐतिहासिक संपरीक्षण एक छोटे-से लेख में सम्भव नहीं है। फिर भी हिन्दी पाठकों की जानकारी के हेतु जो भी मैं संकलित कर पाया हूँ, प्रस्तुत है। लेखक सम्पूर्ण जानकारी देने का दावा नहीं करता। प्रस्तुत लेख में पहले कुछ इतिहास देकर ग० त्र्यं० देशपाण्डे का विवेचन अन्त में विस्तार से दिया गया है।

विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के 'वाङ्मय-विषयक निबन्ध' ग्रन्थ में मुझे निम्न अवतरण मिला जिससे स्पष्ट होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भी मराठी साहित्य-समीक्षकों की दृष्टि कितनी मर्मग्राहिणी थी। 'विद्वत्व और कवित्व' नामक निबन्ध में विष्णुशास्त्री कहते हैं— **"बाह्य प्रकृति का वर्णन जब करना हो तो किसी प्रदेश को घड़ी-भर स्वयम् अपनी आँखों से देखकर जो उसके सम्बन्ध में कल्पना जागरित होगी, वह वैसी ही नक्शों से या वर्णनों से बहुत दिनों तक अध्ययन करने पर भी नहीं होगी। वही बात अंतःसृष्टि की भी है। अमुक रस के विषय में साक्षात् अनुभव से जो स्वरूप-धारणा होगी वह निरे सूखे वर्णन के बराबर पठन से भी यदि हो भी सके तो बहुत अस्पष्ट होगी। सारांश, कवित्व के लिए अथवा रसिकता के लिए भी विद्वत्ता बिलकुल कारण नहीं है। उलटे वे दोनों स्वभावतः विरुद्ध हैं ऐसा ही कहना चाहिए।"**[1] यह विवेचन मराठी में सन् १८६६ में किया गया है। चिपलूणकर ने बताया था कि विद्वत्व और कवित्व का कोई निश्चित कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है : कालिदास, जगन्नाथराज, मिल्टन, 'बैरन्' (बाईरन को उन्होंने ऐसे ही लिखा है) बड़े पण्डित और उत्तम कवि थे; जब कि शेक्सपीयर, बर्न्स या तुकाराम एकदम जुलाहे कबिरे की तरह निरक्षर नहीं तो कम-से-कम अनपढ़ तो थे ही। कुछ उदाहरणों में विद्वत्व की अधिकता ने कवित्व को कम ही किया है यथा सिसेरो या जानसन में।

वैसे तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र का परिचय करा देने वाले ग्रन्थ मराठी में कम नहीं हुए। १८६८ ईस्वी में दाजी शिवाजी प्रधान ने भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के आधार पर 'रसमाधव' लिखा था। इन परिचय-अनुवाद-ग्रन्थों की परम्परा में साहित्य के किसी अंगविशेष का ही विवेचन अधिक है। जैसे किसी ने अलंकारों का ही अधिक विवेचन किया है तो किसी ने

१. पृष्ठ १७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यशास्त्र का इतिहास-मात्र लिखा। कालानुक्रम से सब ग्रन्थों की सूची देना तो असम्भव-प्राय है फिर भी कुछ प्रमुख ग्रन्थों का परिचय मैं देना चाहता हूँ जो १९३० से पहले लिखे गए और जो उसके बाद लिखे गए।

१९१५ में पूना से 'काव्य-चर्चा' नामक एक लेख-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें विभिन्न कवियों के रसग्रहण और काव्य-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विभिन्न विद्वानों के लेख थे। हिन्दी में नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'साहित्य-सुषमा' का पाठकों को स्मरण होगा जिसमें निरालाजी का 'भारतीय काव्य-दृष्टि' नामक अनुपम निबन्ध है। कुछ इसी प्रकार का वह संग्रह था। यद्यपि शैली बहुत-कुछ रूढिवादी और परम्परीण है फिर भी विचारों के लिए बहुत सा खाद्य इस ग्रंथ में है। १९१६ में श्री ना० बनहट्टी का 'मयूर काव्य-विवेचन', १९१९ में वासुदेव गोविन्द आपटे का 'सौंदर्य आणि ललितकला', १९२१ में हरिनारायण आपटे का 'विदग्ध वाङ्मय' ऐसे ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ थे जिनमें सौंदर्य-समीक्षा और रस-ग्रहण के विभिन्न सिद्धान्तों को सामने रखा गया था। इन विवेचनों के साथ-ही-साथ पां० वा० काणे का 'संस्कृत साहित्य-शास्त्राचा इतिहास' प्रकाशित हुआ। और उसी कालखंड में निर्णयसागर, मुंबई से संस्कृत के मूल काव्य-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों के सटीक प्रामाणिक संस्करण भी प्रकाशित हो रहे थे, यथा १९१६ में मुकुट की 'अभिधावृत्तिमातृका' और १९२८ में रुद्रट का 'काव्यालंकार' और आनन्द-वर्धन का 'ध्वन्यालोक'। ध्यान रहे कि अंग्रेजी में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी इसी समय के हैं : यथा डाक्टर जे० नोबेल का 'फोउंडेशन्स ऑफ़ इण्डियन पोएट्री' (१९२५), डाक्टर एस० के० दे का 'संस्कृत पोएटिक्स' (१९२५) और ए० शंकरन का 'सम आस्पेक्टस ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म इन संस्कृत आन दि थियरी ऑफ़ रस एण्ड ध्वनि' (१९२८)।

१९२८ ईस्वी में मराठी के विख्यात ज्ञानकोशकार डॉक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने 'महाराष्ट्रियांचे काव्य परीक्षण' नामक एक बहुमूल्य ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने कई मौलिक स्थापनाएँ कीं, यथा "**मराठी काव्य-परीक्षण का इतिहास मराठी काव्य के साथ निर्मित हुआ, संस्कृत साहित्यकारों ने मराठी की उपेक्षा की। साहित्य-शास्त्रियों ने प्राकृत साहित्य की ओर ध्यान नहीं दिया इसलिए इस शास्त्र का विकास रुक गया। साहित्य-शास्त्र के नियम केवल मार्गदर्शक हैं। काव्य-परीक्षण का इतिहास लोकाभिरुचि के इतिहास का अंग है। जनता काव्य का अन्तिम न्यायासन है। महाराष्ट्रीय वाङ्मय लोकाश्रय से बढ़ा, अतः मराठी कविता में दरबारी कविता के दुर्गुण नहीं आये। क्या उत्तम लेखक लोकाभिरुचि की बिलकुल परवाह न करके चल सकता है?**" इन सब समस्याओं से शुरू करके बुद्धिवादी, संतुलित दृष्टि से समाज-विज्ञान और इतिहास के गहरे अध्ययन से डॉ० केतकर ने नौवीं शती से ज्ञानेश्वर तक और बाद में संतकवि, रामदास, शिवकालीन साहित्यकार, अनुवादक, महिपति, मोरोपंत आदि के काव्य में कविता और कविकर्म-विषयक जो-जो उद्धरण आये हैं उनके सहारे अपनी ११३ पृष्ठों की इस छोटी-सी पुस्तक में मूलग्राही समीक्षा की। चिपलूणकर के बाद इस ग्रन्थ को मराठी रस-मीमांसा में नई दिशाएँ बताने वाला एक महत्त्वपूर्ण भू-चिह्न (लैंडमार्क) मानना चाहिए।

डॉक्टर केतकर ने अपने ग्रन्थ में पृष्ठ २ पर कहा—"**साहित्यशास्त्र हें वाढतें शास्त्र आहे। नवें वाङ्मय उत्पन्न होतें तसतशी त्यावर लोकांची आवडनिवड व्यक्त होते। आणि ती आवड-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवड नियम उत्पन्न करून शास्त्र वृद्धिंगत करतें।" (अर्थात् साहित्य-शास्त्र बढ़ता हुआ शास्त्र है। नया साहित्य निर्मित होता है त्यों-त्यों उसके बारे में जनता की अभिरुचि व्यक्त होती है और वह अभिरुचि अपने नये नियम बनाती है और इस तरह से शास्त्र आगे बढ़ता जाता है।) डॉक्टर केतकर के इस निबन्ध में काव्य-परीक्षण की शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि भी उन्होंने अपनी भूमिका में इस प्रकार से दी है : "मराठी कवियों का अध्ययन करते समय तत्कालीन संस्कृत-साहित्य भी हमें देखना चाहिए। महाराष्ट्र में जो पंथ प्रचार कर रहे थे, उन पंथों का महाराष्ट्रीय वाङ्मय और अन्य भाषाओं के साहित्य का एक साथ अध्ययन करके पंथेतिहास-विषयक ग्रन्थ लिखे जाने चाहिएँ। नाथपंथ, रामानन्द पंथ और महानुभाव पंथ का भी इतिहास लिखा जाना चाहिए। मराठी में जितनी जीवनियाँ हैं उन्हें कोशरूप में एकत्रित करके उनकी तुलना करनी चाहिए। लोकप्रिय कवियों की रचनाओं के पाठ-भेद और क्षेपकों का अध्ययन होना चाहिए। जिन संस्कृत कवियों के अनुवाद किये जाते हैं उन्होंने किन मूल प्रतियों को सामने रखा था, यह जानना चाहिए। अनपढ़ जनता या ग्रामीणों का साहित्य धीरे-धीरे शिष्ट वर्ग का (भद्रजन का) साहित्य बनता जाता है और ग्रंथों के संस्करणों में भी भेद होते जाते हैं, इसे भी ध्यान में रखा जाय।" डॉ० केतकर की यह पुस्तक हिन्दी में अनूदित हो जानी चाहिए।

अब सन् '३० से '४० तक के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दूँ। १६३० में प्रा० रा० श्री० जोग का 'अभिनव काव्यप्रकाश' प्रकाशित हुआ। इसमें 'करुण रस से आनन्द क्यों?' आदि विवेचन बहुत विद्वत्तापूर्ण पद्धति से किया गया था। अपने नये ग्रन्थ 'सौन्दर्य शोध आणि आनन्द-बोध' में जोग ने रस-मीमांसा का और भी अच्छा विवेचन किया है। पहले संस्कृत साहित्यशास्त्र को उन्होंने आधार माना था, अब अंग्रेजी और पाश्चात्य समीक्षा को भी तुलना में उन्होंने सामने रखा है। जोग के ग्रन्थ 'सौन्दर्य शोध आणि आनन्द बोध' का भी हिन्दी अनुवाद होना चाहिए। १६३१ में पूना से बालूताई खरे (अब मालती दांडेकर और 'विभावरी शिरूरकर' के उपनाम से विख्यात) ने 'अलंकार-मंजूषा' नामक अलंकार-शास्त्र पर अपना प्रबन्ध प्रकाशित किया जिस पर उन्हें कर्वे की वीमेन्स यूनिवर्सिटी से अन्तिम पदवी मिली। इसी तरह का खोजपूर्ण ग्रन्थ दूसरी एक लेखिका गोदावरी केतकर का 'भारतीय नाट्यशास्त्र' है। १६३१ में प्रा० द० के० केलकर के ग्रंथ 'काव्यालोचन' में काव्य की रसोद्बोधनप्रक्रिया की कुछ मूलभूत बातों पर विमर्श है। १६३० और ३१ में निर्णयसागर, मुंबई से संस्कृत 'रसगंगाधर' और 'साहित्यदर्पण' सटीक संस्करण निकले।

१६३४ में य० र० आगाशे ने अपनी 'सारस्वत-समीक्षा' में फिर रस-विषयक प्रश्नों को उठाया और साहित्य तथा इतिहास के सम्बन्धों को स्थिर करने की चेष्टा की। १६३५ में प्रकाशित गुणवन्त हनुमन्त देशपाण्डे के 'निवेदन' और १६३७ में प्रकाशित ह० ना० नेने के 'लक्षण रत्नाकर' का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है। इसी कालखण्ड में मध्यभारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन, उज्जयिनी के अध्यक्ष-पद से साहित्य-सम्राट् नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने 'सविकल्प समाधि' वाला अपना साहित्यानन्द-विषयक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया और 'रत्नाकर' पत्रिका में साहित्य में अश्लीलता की मर्यादा को लेकर बड़ा वादविवाद हुआ (हिन्दी 'जीवन साहित्य' के पाठकों को ऐसा ही सन् ४०-४१ में हुआ विवाद याद होगा)। भास्कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचन्द्र तांबे नामक कविवर्य ने अपने 'कला और नीति' भाषण में सौन्दर्य सदा शिव होता है और उच्च कला सदा नैतिक होती है ऐसा दावा रखा; जिस पर बहुत सा वादविवाद मचा। प्रा० ग० वा० कवीश्वर ने 'नीति आणि कलोपासना' पुस्तक लिखी और कला को नीति की चेरी बनाने पर आग्रह किया। इसके बाद महाराष्ट्र में 'कला आणि जीवन' वाद प्रो० ना० सी० फडके और वि० स० खांडेकर में कई वर्षों तक चला। फडके 'कला के लिए कला' के समर्थक थे और खांडेकर 'कला जीवन के लिए' के। बाद में 'पुरोगामी साहित्य' (प्रगतिशील साहित्य) पर आचार्य जावडेकर और प्रो० फडके के बीच में बहुत विख्यात वादविवाद हुआ जो पुस्तक-रूप से प्रकाशित हुआ। इसी समय भाई (कामरेड) लालजी पेंडसे का 'साहित्य आणि समाज जीवन' नाम से ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें समाजवादी दृष्टिकोण से मराठी साहित्य का इतिहास था। इसका पु० य० देशपाण्डे ने 'प्रतिभा' में प्रकाशित लेखमाला में सविस्तर उत्तर दिया। 'लेनिन और कला' आदि उनके निबन्ध 'नवी मूल्यें' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हैं। एक ओर ललित लेखकों के बीच में ऐसी चर्चाएँ चल रही थीं तब दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। एक तो प्रो० के० ना० वाटवे का 'रसविमर्श'। यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ रस-संख्यानिश्चिति और आस्वाद्यमानता के निकष के विषय में कुछ नये सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। परन्तु प्रो० रा० श्री० जोग की भाँति इसमें भी पाश्चात्य मानसशास्त्र के साथ अपने रसशास्त्र को मिलाने, उनके तुलनात्मक अध्ययन से आधुनिक कुछ प्रवृत्तियों के प्राचीन निकटपर्याय खोजने का प्रयास अधिक है। 'करुण रस से आनन्द' के विषय में और आस्वाद्यमानता के विषय में डॉ० माधव त्र्यंबक पटवर्धन के 'लोकशिक्षण' में प्रकाशित निबन्ध भी मौलिक विवेचना प्रस्तुत करते थे। इन सबसे भिन्न और साहित्य में 'क्लासिसिज़्म' का प्रतिपादन करने वाला, इतालवी समालोचक उंगेत्ती से प्रभावित बाल सीताराम मर्ढेकर का 'वाङ्मयीन महारसता' है। जहाँ काका कालेलकर आदि 'कला', 'शैली की पवित्रता' आदि विषयों पर ताल्स्ताय-रवीन्द्रनाथ से प्रभावित सौंदर्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे थे, मर्ढेकर ने सौंदर्य और उदात्त के बीच के अन्तर को स्पष्ट किया। लांगिनस के 'आन द सब्लाइम' की याद इससे आती है। परन्तु मर्ढेकर का विवेचन अध्यात्मवादी नहीं है।

सन् १९४० में डॉ० मा० गो० देशमुख ने 'मराठीचे साहित्यशास्त्र' प्रबन्ध लिखकर प्राचीन कवियों के रसविषयक मत एकत्र किए। कई साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्षपदों से नये-नये वाद उपस्थित किए जाने लगे। पु० य० देश पाण्डे ने साहित्य में 'चतुर्गुणात्मक साकल्य' की बात प्रस्तुत की। अनन्त काणेकर ने 'समग्र सत्य' की समस्या उठाई। महान् साहित्य में सत्य-दर्शन कभी एकांगी नहीं हो सकता, ऐसा उनका दावा था। इधर हाल में दि० के० बेडेकर के रसविषयक निबन्धों को लेकर बहुत वादविवाद हुआ। प्रा० द० के० केलकर ने उन्हें उत्तर दिया[1]। और प्रा० सु० शि० बारलिंगे ने एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया[2] कि रसशास्त्र पर बौद्धदर्शन का प्रभाव कैसी सूक्ष्मता से पड़ता चला गया। विज्ञानवाद के प्रभाव के कारण जो साहित्यशास्त्र पहले भरतादि तक 'आस्वाद्य' को रस का पर्याय मानता था वह बाद में 'आस्वाद' को ब्रह्मानन्द सहोदर मानने लगा। नांदेड (हैदराबाद) के पीपल्स कालेज के प्राचार्य बारलिंगे जी

१. नवभारत, जून १९५१।
२. नवभारत, मई १९५२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यह संशोधन बहुत महत्त्वपूर्ण था। उनके अनुसार विज्ञानवाद के प्रभाव में आकर 'कल्पना' शब्द का अर्थ-संकोच होता गया। पहले 'कल्पना' रचना-मात्र का पर्यायवाची था, बाद में वह केवल मानसिक निर्मिति बन गया। १९५२ के अन्त में इंदौर की साहित्य परिषद् के अध्यक्षपद से तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी ने रूसो, क्रोचे, गेटे का हवाला देते हुए साहित्य में सफल रसनिर्मिति के लिए 'संश्लिष्ट अनुभूति' (इन्टिग्रेटेड एक्सपीरियंस) को प्रधान कसौटी माना। उनका विवेचन बहुत अध्ययनपूर्ण था।

जहाँ प्राचीन रसव्यवस्था में शान्त को रस न मानने की या वात्सल्य को जोड़ने की बात डॉ० वाटवे ने उठाई थी, आत्माराम रावजी देशपाण्डे 'अनिल' ने अपने संस्कृत-प्रबन्ध 'प्रक्षोभ रसस्थापनम्' में एक नये रस 'प्रक्षोभ' की सत्ता प्रतिपादित की। 'आलोचना' अंक ७ में उसकी चर्चा है। नागपुर के० डा० मा० गो० देशमुख ने विदर्भ साहित्य-संघ के अध्यक्ष पद से एक प्रस्ताव 'रस' के बदले 'भावगन्ध' शब्द प्रचलित करने के विषय में रखा। इन सब चर्चाओं में अत्यन्त सन्तुलित और विद्वत्तापूर्ण विचार ग० त्र्यं० देशपाण्डे की भाषणमाला में हुआ है जिसका सारांश 'सत्यकथा' के संपादकीय के आधार पर हम यहाँ देते हैं।

उनके व्याख्यान के अनुसार 'हमारा साहित्यशास्त्र' एकसंघ, एकप्राण है। यह कहना कि यह संस्कृत साहित्यशास्त्र है और यह प्राकृत साहित्यशास्त्र है, यह हिन्दी या मराठी या बंगाली साहित्यशास्त्र है, गलत है। हमारा साहित्यशास्त्र संस्कृत साहित्यशास्त्र है। आज के मराठी समीक्षा-क्षेत्र में तीन मत इसके सम्बन्ध में हैं—१. कुछ लोगों के अनुसार प्राचीन रसशास्त्र पुराना हो चुका है। आधुनिक साहित्य के मूल्यमापन के लिए वह नाकाफी है। इसलिए इस पुराने रद्दी माल को एक तरफ रख देना चाहिए। उसके प्रति ममत्व कोरी भावुकता है। २. इससे उलटे संस्कृत साहित्य के अभिमानी कहते हैं कि प्राचीन रसशास्त्र बेकार और गतार्थ नहीं हुआ है। उसमें आवश्यक संस्करण करने से नये साहित्य का मूल्यमापन भी उसी के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार से प्राचीन रसशास्त्र को आधुनिक मनोविज्ञान से जोड़ने, पूरा करने या उसकी मरम्मत करने में ये लोग लगे हैं। ३. तीसरा दल उन लोगों का है जो न तो प्राचीन रसशास्त्र को सुधारना या आधुनिक बनाना चाहते हैं न उसे नष्ट करना; पर मानते हैं कि पुरातन सांस्कृतिक धन की भाँति उसका रक्षण-मात्र किया जाय।

ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने कहा कि पहले तो संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद देशभाषाओं में उपलब्ध करना चाहिए। उसी के द्वारा प्राचीन के प्रति हमारा अति-भावुकतारंजित, अथवा विरोधी पूर्वग्रहदूषित दृष्टिकोण सुधर सकेगा। भरत के 'नाट्यशास्त्र' से लगाकर 'रसगंगाधर' तक सब प्रमुख और महत्त्व के साहित्य-ग्रन्थों का मराठी में योजनापूर्वक अनुवाद होना चाहिए।

प्रो० ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने अपने 'साहित्यशास्त्र' में भरतमुनि से लेकर जगन्नाथ पंडित तक के काव्य-शास्त्र के विकास पर तथा साहित्यशास्त्र की कवि तथा रसिक-सम्बन्धी धारणाओं पर प्रकाश डाला है। चार या पाँच व्याख्यानों में पिछले डेढ़ हजार वर्षों के लम्बे समय में फैले इस साहित्यशास्त्र की विस्तृत रूप से समीक्षा करना या इस काल में उपस्थित समस्त साहित्यशास्त्रीय प्रश्नों की विवेचना करना उनके लिए सम्भव नहीं था। इसके लिए उनकी पुस्तक की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। प्रो० देशपाण्डे के व्याख्यानों की विशेषता यह भी है कि उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का समर्थन या खण्डन करने का रुख नहीं अपनाया था। इस शास्त्र का वास्तविक दिग्दर्शन करने का ही उनका प्रयत्न था। साहित्यशास्त्र की मूल पुस्तकों की उनकी जानकारी अच्छी थी; इतना ही नहीं बल्कि साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय तथा साहित्यशास्त्र के तत्कालीन सम्बन्धों और इसी प्रकार न्याय, व्याकरण, मीमांसा आदि शास्त्रों तथा संस्कृत शास्त्र के तत्कालीन सम्बन्धों का भी उनको पूरा ज्ञान था। इसीलिए उन्होंने अपनी स्थूल समीक्षा में भी ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें बतलाईं जो संस्कृत-साहित्य-शस्त्र की प्रचलित धारणाओं से भिन्न थीं। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का दण्डी के बाद का (सातवीं सदी से) इतिहास अटूट है और उसे समझना आसान है। किन्तु भरतमुनि के नाट्य शास्त्र से लेकर भामह-दण्डी के समय तक का इतिहास ठीक से समझ में नहीं आता। प्रो० देशपाण्डे ने नाट्यशास्त्र से काव्यशास्त्र के विकास की गति पर प्रकाश डालने की कोशिश करते हुए भामह को भरतमुनि का उत्तराधिकारी बताया है। भामह के समय में साहित्यशास्त्र का नाम अलंकारशास्त्र था। किन्तु उसके पूर्व उसका नाम दूसरा ही था। भरत ने इसे क्रियाकल्प कहा है और उसका स्पष्टीकरण काव्यकरण विधि के रूप में किया है। भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में नाट्यधर्मी यानी सम्पूर्ण अभिनय का वर्णन करते हुए वाचिक-अभिनय से सम्बन्ध रखते हुए काव्य की विवेचना की है। उन्होंने काव्य के ३६ लक्षण और ४ काव्यालंकार बताए हैं। किन्तु प्रो० देशपाण्डे का कहना है कि भरत के काव्य-लक्षण निरुक्त, मीमांसा और अर्थशास्त्र में भी दिखाई देते हैं। नाटक में लोक-प्रकृति का दिग्दर्शन अभिनय के द्वारा होता है। यही दिग्दर्शन काव्य में शब्दों द्वारा होता है। नाटक में यह कार्य सम्पन्न करने वाले नाट्यधर्मी को भामह ने वक्रोक्ति का नाम दिया है।

नाटक से सम्बन्ध रखते हुए भी काव्य-विषयक वादविवाद या विचार-विमर्श को भामहो॥ स्वतन्त्र प्रतिष्ठा का स्थान दिया। प्रो० देशपाण्डे ने यह भी कहा कि उस समय नागरिकों की 'दि[illegible]-गोष्ठी' हुआ करती थी जिसमें होने वाले काव्य-सम्बन्धी विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप काव्यशास्त्र का विकास हुआ; इतना ही नहीं बल्कि भामह ने अपने ग्रन्थ के लिए ऐसे वाद-विवाद की पृष्ठभूमि को आवश्यक मानकर ही काव्यशास्त्र की स्थापना बड़े उत्साह से की। भामह व्याकरण, न्याय आदि शास्त्रों के विरुद्ध काव्य की ताक में संघर्ष किया करते थे। उसका प्रमाण वे दो अध्याय हैं जो उन्होंने काव्य के व्याकरण तथा काव्य के निर्णय के सम्बन्ध में लिखे हैं। दण्डी का दृष्टिकोण अध्यापक का है। भामह और दण्डी, दोनों के समय में काव्यशास्त्र स्वाभाविक रीति से प्रचलित हो गया और विशेषता यह रही कि उसके क्षेत्र में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य का समावेश हुआ। हालाँकि काव्य-शास्त्र संस्कृत में लिखा हुआ था, फिर भी वह सभी भाषाओं के साहित्यिक प्रकारों का शास्त्र माना जाता था और उसमें सभी भाषाओं से उदाहरण लिये जाते थे। इसके बाद केवल जगन्नाथ पण्डित ने ही अपनी पुस्तकों में प्राकृत के उदाहरणों का समावेश, संस्कृत में रूपान्तरित करके किया। प्रो० देशपाण्डे के अनुसार साहित्य-शास्त्रकारों के व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए, संस्कृत साहित्यशास्त्र, प्राकृत साहित्यशास्त्र, हिन्दी साहित्यशास्त्र या मराठी साहित्यशास्त्र-जैसे भिन्न-भिन्न साहित्यशास्त्र मानना गलत है। जगन्नाथ पण्डित ने संस्कृत से भिन्न भाषाओं के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया, सम्भवतः उसीके परिणामस्वरूप साहित्यशास्त्र की यह पुरानी, अखिण्डत और प्रवाहपूर्ण परम्परा टूट गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सच है कि भामह के समय काव्य-सम्बन्धी वादविवाद या विचार-विमर्श को काव्य-लक्षण के बजाय काव्यालंकार कहा जाता था। किन्तु यह सच नहीं है कि भामह ने भरत मुनि के रस सिद्धान्त के विरुद्ध अपना सिद्धान्त स्थापित किया।' भामह को काव्यगत रस का अच्छा ज्ञान था। उसने अलंकार की व्याख्या नहीं की जो आगे चलकर वामन ने की। फिर भी केवल इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि अलंकारशास्त्र ही आज का सौंदर्य-शास्त्र है। प्रो० देशपाण्डे का मत है कि जहाँ आज सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य संगीतादि ललित कलाओं के समान नियमों की खोज करना है वहाँ अलंकारशास्त्र का विचारणीय विषय केवल काव्य था। भामह की वक्रोक्ति तो एक 'अर्थ-संस्कार'-मात्र है। भामह की वक्रोक्ति, दण्डी के समाधि गुण, वामन के माधुर्य तथा राजशेखर की प्रतिभास-निबन्धनता के मूल में 'धर्माध्यास' है। अध्यास का अर्थ होता है किसी वस्तु में दूसरे धर्म का आरोप करना। किन्तु यह अध्यास प्रतिभास या आभास नहीं है। वह एक प्रतीति है जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य ही है।

उद्भट ने भामह की बातों को स्पष्ट किया और शब्द से द्योतित होने वाली वस्तु के बारे में वैयाकरणों, नैयायिकों तथा साहित्यिकों में चलने वाले विवाद में काव्य के अन्तर्गत लक्षण की व्याख्या की। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानता है और रीति के आधारभूत गुणों की विवेचना करता है। उस काल में अलंकारपूर्ण काव्य या चित्र काव्य लिखने वालों का बोलबाला था। इसीलिए वामन ने प्रथमतः यह बतलाया है कि कवि बनने का अधिकारी कौन है। उसने कालिदास-जैसे महाकवि पर लगाये गए आरोपों को खण्डित करने की प्रतिज्ञा की थी। इसीलिए उसने प्रत्येक गुण के लिए महाकवि के उदाहरण के साथ ही प्रत्युदाहरण भी दिया है। काव्य की शोभा बढ़ाने वाले गुणों को वह धर्म के नाम से पुकारता है। भरतमुनि जिसे लक्षण कहते हैं, भामह उसको अलंकार कहते हैं। दण्डी के ग्रन्थ में दोनों का मिश्रण है। वामन उनको गुण कहता है। इस प्रकार की परम्परा प्रो० देशपांडे ने दिखाई है। इन गुणों की सूची दण्डी ने भरतमुनि से और वामन ने दण्डी से ली है। दण्डी की दृष्टि में जो मार्ग है वही वामन की दृष्टि में रीति है। इसके बाद कुंतक ने उसे फिर मार्ग नाम से पुकारा और रीति के भेदों का वर्णन पैशाची, गौडी और वैदर्भी-जैसे नामों से करने के बजाय सुकुमारमार्ग, विचित्रमार्ग तथा मध्यमार्ग के नामों से किया। उसने इन भेदों का कारण कवि-स्वभाव बताया है। वामन के बाद रुद्रट ने बताया कि अलंकार या वक्रोक्ति के पीछे कवि का हेतु या अभिप्राय रहता है। प्रो० देशपांडे के मतानुसार रुद्रट ने काव्य-शास्त्र की सैद्धान्तिक प्रगति की दिशा में और एक सफलता पाई। काव्यगत अलंकार या वक्रोक्ति वास्तव में कवि के प्रयोजन को प्रकट करती है। रुद्रट की इस विवेचना से रस और शब्दार्थ एक-दूसरे के सामने उपस्थित हुए और इस प्रश्न को हल करने की प्रक्रिया से ही अलंकार-शास्त्र साहित्य-शास्त्र बन गया। पर शब्दार्थ से रस की प्रतीति किस प्रकार होती है?

शब्द और अर्थ का साहचर्य ही साहित्य है। यह साहचर्य या सहभाव व्याकरणमूलक या काव्यमूलक रहता है। काव्यमूलक रहने में दोष नहीं गुण ही रहते हैं। उनमें अलंकार और रस रहता है। काव्य के शब्दों में रस ही अर्थ होता है। आनन्दवर्धन के अनुसार यह अर्थ व्यंग्य या ध्वनित रहता है। ध्वनिकार ने यह मत प्रकट किया कि काव्य में रस ही प्रधान है और तदनुसार ही साहित्य में गुणालंकारों की व्यवस्था की जानी चाहिए। उस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र को पुनर्गठित किया। तत्पश्चात् क्षेमेन्द्र ने जो औचित्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह भी इस प्रतीति के अनुसार ही था। अभिनवगुप्त ने रस को चर्वणारूप या आनन्दमय माना। उनके अनुसार शृङ्गारादि रस आनन्दमय रस के वैचित्र्य दर्शक रूप हैं। इसके बाद प्रो० देशपाण्डे ने इस प्रचलित मत का उल्लेख किया कि विभाव, भाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के संयोग से रसोत्पत्ति होती है और कहा कि यह संयोग कवि, काव्यगतपात्र, या रसिक के स्थायीभाव से नहीं होता बल्कि कलाकृति का दर्शन करते समय रसिक की तदाकार अवस्था से होता है और इसी लिए रसिक को आनन्द मिलता है, यही रस है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिए रसिक को विदग्ध, प्रगल्भ और कुशल होना आवश्यक है। इसी प्रकार संभावना का अभाव, खास देश या काल का अभिमान, अपने सुख-दुखों से प्रभावित होना, प्रतीति के साधन की दुर्बलता, मुख्य वर्ण्य-विषय का पृष्ठभूमि में पड़ना तथा अपरिहार्यता का ज्ञान न होना आदि बातें रस-प्रतीति में बाधक नहीं होनी चाहिए। प्रो० देशपांडे ने बताया कि यह धारणा भी गलत है कि रसाभास रसबाधक है या वह एक निम्नकोटि का आनन्दानुभाव है। उनका कहना है कि मानव से भिन्न वस्तुओं में मानवी भावनाओं का अभ्यास ही रसाभास का कारण है और उन्होंने उदाहरण के तौर पर बालकवि की 'फुल राणी' नामक कविता का उल्लेख किया है।

प्रो० देशपांडे के मत से मम्मट ने काव्य की जो व्याख्या और 'काव्यप्रकाश' की जो रचना की है वह साहित्य-शास्त्र का विकास देखते हुए वास्तविक और मूल्यवान् है। मम्मट के बाद लिखे गए ग्रन्थों में 'काव्यप्रकाश' की प्रणाली ही अपनाई गई है। साहित्य-शास्त्र के विकास के स्तरों का दिग्दर्शन कराते हुए प्रो० देशपांडे ने कहा है कि १. भरत का ग्रन्थ क्रियाकला का, २. भरत से लेकर भामह तक का समय काव्यलक्षणों का, ३. भामह दण्डी से लेकर रुद्रट तक का समय काव्यालंकारों का, ४. तथा आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक का समय साहित्य-शास्त्र का मानना चाहिए। मम्मट से लेकर जगन्नाथ तक के समय को प्रो० देशपांडे ने साहित्य-प्रणाली का समय कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर धर्मवीर भारती

साहित्य की नई मर्यादा

: १ :

अधुनातन परिस्थितियों में साहित्य को लेकर यह प्रश्न अक्सर उठाया जाता रहा है कि सामन्तवादी तथा पूँजीवादी सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के विघटन से जीवन के मूल्यों में जो संकट उपस्थित हो गया है, उसका साहित्य की मर्यादाओं पर क्या प्रभाव पड़ा है। जिन मानव-मूल्यों के आधार पर किसी भी संस्कृति का रूपगठन होता है, वे उसके साहित्य के भी मूल में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से जो सांस्कृतिक संकट अंकुरित होने लगा था वह केवल आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक संकट नहीं वरन् मानव-जीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट है।[1] साहित्य के प्रसंग में इसका विश्लेषण इसलिए और भी अनिवार्य है। किन्तु इस संकट को लेकर निराशा, गतिरोध, अनिवार्य विघटन आदि की जो बातें कही जाती हैं, वे स्थिति का एक ही पक्ष प्रस्तुत कर पाती हैं। इस प्रकार के संकट पहले भी आये हैं और इतिहास इसका साक्षी है कि युद्ध, पराजय, दुर्भिक्ष, जलप्लावन और महामारियों ने मानवीय मूल्यों को जितनी तीव्रता से झकझोरा है, उनका विकास भी उतनी ही तीव्रता से हुआ है। वास्तविकता यह है कि अक्सर जितने गहन ये संकट रहे हैं उतनी ही निर्मल मर्यादाएँ विकसित हुई हैं। आधुनिक संकट भी इसका अपवाद नहीं है। उससे प्रेरित होकर साहित्य की जो नई मर्यादा विकसित हुई है उस पर विस्तार से विचार करना चाहिए।

स्थिति काफी स्पष्ट हो सकेगी यदि हम मूल्य-मर्यादाओं की प्रकृति और साहित्य में उनके विकास की सामान्य प्रक्रिया के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लें। साहित्य, चाहे वह किसी भी धारा अथवा निकाय का क्यों न हो, कुछ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मर्यादाओं द्वारा नियोजित होता है। इन मर्यादाओं की सांस्कृतिक स्थिति बड़ी ही सूक्ष्म और जटिल होती है। एक ही संस्कृति में कभी-कभी विभिन्न क्षेत्रों में कई उपधाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं जिनकी प्रवाह-रेखाएँ एक ही व्यापक दिशा में अलग-अलग घुमावों में चलती रहती हैं। परिणाम यह होता है कि एक ही मूल्य-मर्यादा कई ऐसी चिन्तनधाराओं और साहित्य-निकायों में समान रूप से प्रतिफलित होती है जो सतही तौर पर न केवल एक-दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु उनमें भयानक द्वन्द्व और घात-प्रतिघात चलता रहता है। सैकड़ों वर्ष बाद काल की विराट् पृष्ठभूमि में उनका विवेचन करने से यह ज्ञात होता है कि वे जिन बाह्याचारों पर उलझ रहे थे, इतिहास ने उनको निरर्थक सिद्ध कर दिया है, किन्तु अंशतः वे सभी किसी एक व्यापक मूल्य की स्थापना कर रहे थे और वह मूल्य सर्वस्वीकृत और विकासमान सिद्ध हुआ। आज, शताब्दियों बाद यह कहना सरल है कि कबीर, तुलसी, सूर और जायसी एक ही परम्परा को अनेक रूपों में प्रतिफलित करते हैं।

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'आलोचना' अंक १०, पृ० ५९ से ६९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज तो मध्यकाल के अधिकांश प्रगतिशील धर्मान्दोलन, यूरोप का ईसाई धर्म, मध्य-पूर्व का सूफी धर्म, पूर्वी एशिया के वैष्णव और बौद्ध सम्प्रदाय, हम उन सबों द्वारा स्थापित मूल्यों में अन्तर्निष्ठ एकता पाते हैं। आज का आधुनिकतम इतिहासवेत्ता हरबर्ट बटरफील्ड अपनी नवीनतम कृति में इसी परिणाम पर पहुँचा है और हमें चेतावनी देता है कि १७वीं शताब्दी में जेनेवा में केन्द्रित, राज्यसत्ताओं से समर्थित, सेनाओं से सुसज्जित कैलविन सम्प्रदाय कैथोलिकों के लिए उतना ही आतंककारी सिद्ध हो रहा था जितना आज मास्को में केन्द्रित स्तालिनवाद। किन्तु कौन जानता है कि २०० या ३०० वर्ष बाद आज की प्रबल प्रतिपक्षी शक्तियों का संघर्ष उतना ही निरर्थक न सिद्ध हो जितना मध्यकाल का केलविन और कैथोलिक द्वन्द्व।[1]

इससे राजनीतिक निष्कर्ष क्या निकलते हैं यह हमारा विषय नहीं। हमारा मूल प्रतिपाद्य साहित्य है जिसके विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसमें एक चिरन्तन सहजवृत्ति होती है जिसके कारण वह मूल्यों द्वारा नियोजित मर्यादाओं को स्वीकार करता है और उसके साम्प्रदायिक स्वार्थों और निरर्थक कुतर्कों द्वारा स्थापित संकीर्ण अनुशासनों को अरसिक, असंस्कृत अन्धानुयायियों के लिए छोड़ देता है। इस प्रकार साहित्य को प्रशासित करने वाली मर्यादाओं के द्विविध रूप होते हैं—सम्प्रदायगत और मूल्यगत। सम्प्रदायगत मर्यादा पतनोन्मुख और संकीर्ण होती है—मूल्यगत मर्यादा प्रगतिशील और विकासोन्मुख।[2] प्रगतिशील साहित्य के लिए प्रथम अग्राह्य है, द्वितीय अनिवार्य।

: २ :

पिछले सौ वर्षों के साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि गहन संकट के बावजूद व्यक्ति और समाज-सम्बन्धी वे प्रमुख मानववादी मूल्य जो समाजवाद की मार्क्सीय तथा अन्य पद्धतियों द्वारा स्वीकृत किये गए थे, साहित्य में अपनी सम्प्रदायगत सीमाओं से मुक्त रूप में न केवल ग्रहण किये गए, वरन् सार्वभौम साहित्य-मानस में उनका निरन्तर विकास भी होता रहा। और भी सूक्ष्म निरीक्षण से यह भी आभास मिलता है कि समाजवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषण, नव-कैथोलिक चिन्तन, अरविन्द-दर्शन और सर्वोदय-जैसे कभी-कभी सहयोगी और कभी-कभी घोर विरोधी धाराओं से प्रभावित जो उच्च कोटि का साहित्य लिखा गया, उसमें साम्प्रदायिक संकीर्णताओं का सचेष्ट या अज्ञात-रूपेण बहिष्कार मिलता है। यह इसी से सिद्ध है कि सम्प्रदायगत ईसाइयत और सम्प्रदायगत कम्युनिज़्म में बाहरी विरोध होते हुए भी मार्क्सीय आन्दोलनों के अर्थ समझाने के लिए कलाकारों ने जीसस की बलिदान-कथा के ही प्रतीकों को चुना। इसका कारण यह था कि वे उपमेय और उपमान में साधर्म्य के तत्व को स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में मार्क्सीय आन्दोलन उन्हीं स्थायी मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयत्न है जिनकी प्रतिष्ठा जीसस ने की थी। क्रान्ति के अमर गायक, महानतम आधुनिक रूसी कवि ब्लाक ने क्रान्ति की व्याख्या करते हुए कहा था, "जब कभी यह आदर्श—जो अनादि काल से जनता की आत्मा में सोया हुआ है—करवट बदलता है, अंगड़ाई लेकर जाग उठता है और ऐसी

१. 'क्रिश्चियानिटी, डिप्लोमेसी एण्ड वार'—प्रो० हरबर्ट बटरफील्ड।

२. मूल्यगत मर्यादा के लिए कोई उपयुक्त शब्द न पाकर मुझे मूल्य-मर्यादा शब्द गढ़ना पड़ा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा के रूप में शक्ति संचित कर बढ़ चलता है जिसे कोई भी तटरेखा या बाँध रोक नहीं पाते, तभी क्रान्ति होती है।''[1] अपनी अमर कविता 'ट्वेल्व' में उसने लाल सेना के १२ क्रान्तिकारी सैनिकों को बारह शिष्यों के रूप में परिकल्पित कर अन्तिम पंक्ति में कहा है : ''प्रभु जीसस उनको राह दिखा रहे हैं।'' लगभग २० वर्ष बाद जब स्पेन में फासिस्त शक्तियों के विरुद्ध समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी शक्तियों ने संघर्ष किया, तब उसके एक जत्थे की अमर कथा लिखते हुए पुनः अर्न्स्ट हेमिंग्वे ने एक ईसाई भावना को आधार सूत्र बनाया। उस भावना के अनुसार प्रभु का अर्थ मानव-जाति की प्रगति में निहित है।[2]

यही नहीं वरन् इनकी साम्प्रदायिक परम्परा का परिहार करने के प्रति वे सचेत भी थे, यह जान स्टीनबेक की प्रख्यात कहानी 'द रेड' में मिलता है। डिक और रुट नामक दो श्रमिक कार्यकर्ता जब श्रम-संगठन के प्रयास में स्वतः श्रमजीवियों के ही पत्थरों से घायल होकर पड़े हैं तो रुट डिक को बाइबल के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें जीसस ने कहा है कि उन्हें क्षमा करो क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। डिक, जो उत्साही साम्यवादी है, तुरन्त एक उद्धरण देता है—''धार्मिक पचड़ा बन्द करो। जानते नहीं धर्म जनता के लिए अफीम है।'' रुट तुरन्त अत्यन्त सहजभाव से उत्तर देता है—''धर्म ? इसमें धर्म की बात क्या है ? मुझे ऐसा ही लगा कि यह मैं कहूँ। लगा कि मुझे जो अनुभव हो रहा है उसे ऐसे ही कह सकता हूँ बस।'' इस अत्यन्त मर्मस्पर्शी क्षण का चित्रण करते हुए लेखक ने दोनों पात्रों की संस्कारगत सीमाओं के बावजूद दोनों के लक्ष्य और दोनों की पीड़ा की मूल्यगत एकता का चतुर संकेत किया है। साहित्य सम्प्रदायगत सीमाओं से उबरकर इसी व्यापक मूल्यगत भूमि पर अपना विकास करता रहा है और इसी भूमि पर कट्टर विरोधी दीख पड़ने वाले निकाय भी इतिहास की सूक्ष्म दृष्टि में मिलते हुए दीख पड़ते हैं। साहित्य में इस नई मूल्यमर्यादा के विकास को समझने के लिए हमारी दृष्टि जितनी सूक्ष्म और व्यापक होनी चाहिए, अवैज्ञानिक पूर्वग्रहों से उतनी ही मुक्त भी।

: ३ :

साहित्य की मर्यादा—प्रगति; प्रगति की मर्यादा ?

१८वीं और १९वीं शताब्दी की चिन्तना के फलस्वरूप जिस मर्यादा ने साहित्य में अपने को प्रमुखतम रूप में विकसित किया, वह थी सामाजिक प्रगति की मर्यादा। प्रगति सिद्धान्त की व्याख्याओं के अन्तर्गत मानवीय इतिहास को निरर्थक, निष्प्रयोजन घटनाओं की क्रमागत कड़ी न मानकर उसको प्रयोजन से मुक्त गति माना जाने लगा—एक ऐसी प्रगति जो किसी निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख है। इन सिद्धान्तों में प्रगति की प्रणाली और उसके प्रयोजन लेकर काफी मतभेद था। कुछ वस्तुवादी थे, कुछ भाववादी। हीगेल ने सर्वप्रथम प्रगति की प्रणाली में विरोधी तत्वों को समाहरित कर लेने वाली द्वन्द्वात्मक पद्धति का आरोपण किया था। मार्क्स ने हीगेल के समस्त तर्कों को उलटकर भाववादी द्वन्द्वात्मक पद्धति को भौतिकवादी वर्गसंघर्ष के रूप

१. ब्लाक—स्पिरिट आफ़ म्यूज़िक।
२. "...I am involved in mankinde, so do not send to ask for whome the bell tolls, it tolls for thee."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बदल दिया और हीगेल के किसी अदृश्य मानवोपरि दिव्य-भाव का निषेधकर वर्गहीन समाज को ही ऐतिहासिक प्रगति की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि मार्क्स के कुछ विरोधी इसी आधार पर यह कहते हैं कि उसने भौतिकवाद की अतिरेकता को आरोपित कर मानवीय मूल्यों को कुण्ठित कर दिया, किन्तु भाववादियों की अपेक्षा का यह सिद्धान्त मानववादी मूल्यों की प्रतिष्टा में उस समय अधिक सहायक सिद्ध हुआ क्योंकि वह तत्कालीन संकट की अधिक दुखती हुई रग को पकड़ने की सामर्थ्य रखता था। इसका कारण यह था कि मार्क्स का भौतिकवाद निष्क्रिय जड़वाद नहीं था, वह वस्तु को धारणा द्वारा ग्रहण करने की अपेक्षा उसके साक्षात्कार को क्रिया (practice) के माध्यम के बिना अपूर्ण मानता था और वह क्रिया भी अपने में निरपेक्ष न होकर सामाजिक सम्बन्धों के पुनर्गठन में आत्म-साफल्य पाती थी।[1] मार्क्स भौतिकवादी प्रगति-सिद्धान्त कितना घुमा-फिराकर जैसे मानववादी मूल्यों की स्थापना करता है जो घोर आत्मवादी सम्प्रदायों द्वारा सर्वमान्य हैं, यह स्वतः अपने में अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है। फिलहाल इतना संकेत करना यथेष्ट है कि मार्क्स द्वारा स्थापित प्रगति की मर्यादा में कोई ऐसा मौलिक अभाव नहीं था जो उससे प्रेरित साहित्य को मानववादी उत्कृष्ट साहित्य बनने से रोक देता। बीसवीं शती के प्रथम दो दशकों का बहुत सा कम्युनिस्ट साहित्य, जहाँ तक वह सम्प्रदायगत सीमाओं का तिरस्कार करता है, किसी भी धारा के श्रेष्ठतम साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है क्योंकि उनमें सम्प्रदायगत भेद प्रमुख न रहकर मूल्यगत-अभेद प्रमुख रूप से उभरता है।[2]

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया साहित्य में प्रगति की मूल्य-मर्यादा को सम्प्रदायगत अनुशासनों से मुक्त रखने की अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की गई। साहित्य की सहज स्वाभाविकता तो इसके मूल में थी ही किन्तु इसके कुछ अन्य कारण भी थे। मार्क्स ने साहित्य को वर्ग-संघर्ष का अस्त्र माना था और उभरते हुए वर्ग की आकांक्षाओं और दृष्टियों को प्रतिफलित करने वाले तथा वर्गहीन समाज की विकास-प्रक्रिया में सहायता देने वाले साहित्य को ही उसने

---

१. लुडविग फायरबख का परिशिष्ट। माओ त्से तुंग—'ऑन प्रैक्टिस'। हिन्दी के कई अमार्क्सवादी चिन्तकों ने इसे पहचाना है। पिछले 'आजकल' में प्रकाशित एक लेख में डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी कुछ अस्पष्ट ढंग से और 'क्वासि' की भूमिका में श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' स्पष्ट रूप से मार्क्स के भौतिकवाद की सक्रियता के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

२. अर्द्धराजनीतिक पत्रकार गोर्की से कलाकार गोर्की की दृष्टि कहीं अधिक व्यापक थी और इसमें अध्यात्मवादी कवि ब्लाक तक की मूल्यगत अभिन्नता मिलती थी, इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। अखिल रूसी धार्मिक दार्शनिक संसद की प्रथम बैठक (१६०८) में हरमन वैरिनव ने गोर्की के विरुद्ध जो आरोप लगाए उनका उत्तर देते हुए ब्लाक ने उसी समय 'जनता और बुद्धिजीवी' शीर्षक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था जिसमें रूसी धार्मिक बुद्धिजीवियों तथा लुनाकारर्स्की, गोर्की तथा अन्य समाजवादियों के दृष्टिकोण में मूल्यगत एकता की ओर बड़ी स्पष्टता से संकेत किया था। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय बोलशेविकों के हाथ में सत्ता नहीं थी अतः वे ब्लाक के स्वतंत्र विचार नहीं थे, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगतिशील (प्रगति की मर्यादा से मुक्त) साहित्य माना था। किन्तु प्रश्न यह था कि इस उभरते हुए वर्ग का प्रतिनिधि कौन है, जो इन मर्यादाओं को निर्धारित करेगा ? मार्क्स का उत्तर था : 'कम्युनिस्ट पार्टी'। मार्क्स के समय में यह उत्तर यदि साहित्यिक नहीं तो कम-से-कम राजनीतिक स्तर पर पूर्ण संगत उतरा था। किन्तु आज पूछा जा सकता है : कम्युनिस्ट पार्टी तो कौनसी कम्युनिस्ट पार्टी ? स्तालिन की, या ट्राट्स्की की, या टिटो की ? फिर कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्वीकृत कौनसी व्याख्या ? दो दिन पहले वाली ? या दो दिन बाद वाली ? कहाँ जा सकता है जो नीति मार्क्सीय हो ? पर आज तो हर नई नीति मार्क्स के उद्धरणों के साथ अपनाई जाती है और कुछ दिनों बाद मार्क्स के उद्धरणों के साथ दफ़ना दी जाती है। हर वामपक्षी दल दूसरे वामपक्षी दल पर मार्क्स के प्रति विश्वासघात का दोषारोपण करता फिरता है।[1] इसके बीच सही कौन है इसका निर्णय कौन करेगा ? हमारा विवेक ? यदि हमारा विवेक ही अन्ततोगत्वा प्रमुख निर्णयकर्ता है तो सम्प्रदाय के अनुशासन की क्या सार्थकता ? क्यों न हमारा विवेक ही प्रगति की मर्यादा निर्धारित करे ? क्योंकि साहित्यकार का सहज विवेक निस्सन्देह उसे सम्प्रदायगत संकीर्णताओं का अतिक्रमण कर व्यापक मानववादी मर्यादा-भूमि पर लाकर खड़ा कर देता है जहाँ वह अन्य सभी सम्प्रदायों के मानववादी कलाकारों से मिलकर किसी तात्कालिक राजनीतिक स्वार्थ पर संयुक्त मोर्चा न बनाकर एक व्यापक और स्थायी जनवादी मूल्य की मर्यादाभूमि पर अपने नये सम्बन्ध विकसित करता है, अपने उपलब्ध सत्य को दूसरों द्वारा उपलब्ध सत्य से सम्बन्धित कर उसे पूर्ण और व्यापक बनाता है। तो क्या साहित्य पक्षधर नहीं होता ? यह प्रश्न उठता है। हाँ, होता है, किन्तु वह एक एकांगिता के विरुद्ध दूसरी एकांगिता का पक्ष ग्रहण नहीं करता, वह एक अन्याय के विरुद्ध दूसरे अन्याय का पक्ष ग्रहण नहीं करता—वह एकांगिता के विरुद्ध व्यापकता का, अन्याय के विरुद्ध न्याय का, सीमा के विरुद्ध मूल्य-मर्यादा का पक्ष ग्रहण करता है। सांस्कृतिक स्तर पर पक्षधरता क्यों दलगत न होकर मूल्यगत ही होती है इसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है।[2] सम्प्रदायगत मर्यादाओं के आतंक से प्रगति-भावना की मुक्ति साहित्य-चेतना के विकास में एक ऐसा मोड़ है जो अत्यन्त आशामयी और प्रकाशपूर्ण दिशाओं में ले जाने की सामर्थ्य रखता है।

: ४ :

प्रगति-भावना में एक अन्य मान्यता का विकास भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, जो एक प्रकार से पिछली बात का ही तर्कसंगत अवश्यम्भावी परिणाम है। मार्क्स ने प्रगति-भावना के निर्णयात्मक पक्ष को बाह्य अर्थ-व्यवस्था में स्थित माना था। सम्प्रदाय या पार्टी उसी अनिवार्यता का प्रतिवहन करती है। १८वीं शताब्दी में प्रगति के सम्बन्ध में नियति की-सी अनिवार्यता की धारणा अकेले मार्क्स की नहीं रही है। वस्तुवादी और भाववादी दोनों प्रकार के चिन्तकों ने इस धारणा को प्रश्रय दिया है। किन्तु इस प्रकार का नियतिवादी दर्शन मानव की सहज-स्वतन्त्र आन्तरिक अनुप्रेरणा को कई ढंग से कुण्ठित कर देता है। इस अभाव से उत्पन्न प्राणहीनता

१. एक दूसरे प्रसंग में सार्त्र ने भी यही प्रश्न उठाया है। द्रष्टव्य "एक्ज़िस्टेन्श्यलिज़्म एंड ह्यूमेनिज़्म" का परिशिष्ट।

२. द्रष्टव्य—'आलोचना'—सम्पादकीय। अंक ७ पृष्ठ ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्सर मार्क्सीय पद्धति में भी अनुभव की गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि मानव-स्वातन्त्र्य की स्थिति को मार्क्स ने भी ऐतिहासिक प्रगति का लक्ष्य माना था, यद्यपि वह मानता था कि उसका पूर्ण साक्षात्कार वर्गहीन समाज में ही हो सकता है। अपने नियतिवाद और मानव-स्वातन्त्र्य के प्रति अपनी आस्था में मार्क्स एक संगति स्थापित करना चाहता था और जब एक ही तर्कप्रणाली द्वारा वह सम्भव न हो सका तो उसने कभी इस पर और कभी उस पर बल दिया। बाद में मार्क्स के अनुयायियों के लिए यह अन्तर्विरोध और भी जटिल सिद्ध हुआ और इतिहास में कहाँ तक बाह्य स्थिति मनुष्य की आन्तरिक मूल्यगत चेतना को प्रभावित करती है, कहाँ तक मूल्यपरक चेतना बाह्य स्थितियों को प्रभावित करती है, इस प्रश्न पर मार्क्सवादी शिविरों में भयानक बौद्धिक संग्राम हुए हैं।

इस अन्तर्विरोध के अतिरिक्त और भी मार्क्सीय चिन्तन के कई पक्ष ऐसे हैं जो पिछले सौ वर्ष की वैज्ञानिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। पदार्थ-विज्ञान के सापेक्षतावाद, क्वान्टम सिद्धान्त, इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त ने भौतिकवाद की उन मान्यताओं पर तीव्र आघात पहुँचाया है जिस पर मार्क्स का यान्त्रिक नियतिवादी दर्शन आधारित था।[1] उसके अर्थशास्त्र को स्वतः क्रोचे ने अस्वीकृत कर दिया जो किसी समय मार्क्सवादियों के इतना निकट था कि कम्युनिस्ट पत्र उसे कामरेड क्रोचे कहते थे। इतिहास-दर्शन में भी स्पेंगलर आदि ने रेखाकार प्रगतिवाद के बजाय संस्कृतियों के वृत्ताकार उत्थान और पतन की पद्धतियाँ प्रचारित कीं। इनमें से कौन सत्य है कौन मिथ्या, यह निर्णय करना हमारा उद्देश्य नहीं, यहाँ पर केवल यह संकेत किया जा रहा है कि प्रगति-सिद्धान्त की मार्क्सीय पद्धति के तर्कों को वैज्ञानिक चिन्तन के नवीनतम विकास से बहुत समर्थन नहीं मिलता रहा है। चिन्तनधाराओं की गति के अतिरिक्त पिछले सौ वर्षों में वास्तविक राजनीतिक इतिहास की गति ने कई बार मार्क्सीय पद्धति की अनिवार्यता का अतिक्रमण किया (लेनिन द्वारा आयोजित रूसी क्रान्ति और माओ द्वारा आयोजित चीनी क्रान्ति ही स्वतः इसके सबसे बड़े प्रमाण हैं। अमेरिकन और अंग्रेजी प्रोलेटेरियट द्वारा कम्युनिज़्म की अस्वीकृति भी ऐसी ही घटना है। गांधी द्वारा प्रेरित भारत की अहिंसात्मक क्रान्ति तो उन समस्त मूल्यों के प्रति सबसे बड़ा प्रश्नचिह्न है, यह स्वतः कामरेड रोमारोलां ने घोषित किया था)। जहाँ मार्क्सवादी अनिवार्यता को जीवन की कसौटी पर कसा गया उस सोवियत क्षेत्र में आर्थिक विकास के बावजूद सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति का पूर्ण अभाव रहा और क्रान्ति की भूमिका के रूप में जिस रूस ने तुर्गनेव, डास्टाएव्स्की, टालस्टाय, चेखव, गोर्की, ब्लाक और मायकाव्स्की उत्पन्न किये थे, उसका सांस्कृतिक व्यक्तित्व दिनोंदिन कुण्ठित, बौना और छिछला होता गया। चारों ओर यह अनुभव किया गया कि प्रगति की कसौटी ही बदली जानी चाहिए। प्रगति की कसौटी मनुष्य है—मनुष्य अपनी आन्तरिक मर्यादाओं सहित। और बाह्य परिस्थितियाँ उसका आन्तरिक विकास करें ही, यह आवश्यक नहीं। आन्तरिक विकास के लिए आन्तरिक प्रेरणा होनी चाहिए। इस प्रकार प्रगति की मर्यादा को मानव के अन्तर में आरोपित किया गया। मनुष्य तभी प्रगति करता है जब उसके अन्तर में प्रगति की

१. द्रष्टव्य—'आलोचना' अंक १० में आई० ए० एक्स्ट्रॉस द्वारा लिखित 'वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन' शीर्षक लेख का विज्ञान-सम्बन्धी अंश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक प्रेरणा हो। कोई सर्वदा बाह्य परिस्थिति मानवीय प्रगति का दायित्व नहीं ले सकती। इस प्रकार प्रगति की मर्यादा को न केवल सम्प्रदायगत सीमा से मुक्ति मिली वरन् बाह्य से उसका संचरण अन्तर की ओर हुआ।

यह संक्रमण मार्क्सीय चिन्तना में प्रतिबिम्बित न हुआ हो ऐसी बात नहीं है। वैसे आज का सामान्य मार्क्सीय लेखक अपेक्षाकृत अधिक रूढ़िवादी होता है। और नये विकास को यथासम्भव स्वीकार नहीं करना चाहता। फिर भी साहित्यिक होने के नाते मूल्यगत मर्यादा के प्रति उसमें एक अप्रत्यक्ष निष्ठा होती ही है। परिणामस्वरूप ऐसे बहुत-से मार्क्सीय लेखक हैं, जिनमें यह द्वन्द्व स्पष्ट उभरा है। वे साम्प्रदायिक सीमा को अस्वीकार नहीं कर पाते और फिर भी मनुष्य के आन्तरिक मूल्यों पर पुनः ध्यान आकर्षित करने की अनिवार्यता से प्रेरित होकर ईमानदारी, अच्छाई, बुराई आदि की भावनाओं को किसी तरह मार्क्सीय चिन्तन के ढाँचे में ही विकसित करना चाहते हैं; यद्यपि अभी तक मार्क्सीय चिन्तन में इनको पतनोन्मुखी आत्मनिष्ठ निरर्थक बूर्जुआ शब्दावली कहा जाता रहा है। यही नहीं वरन् अधिकांश प्रजातन्त्रवादी देशों का शान्ति-समस्या पर लिखा गया कम्युनिस्ट-साहित्य एक बार फिर इन्हीं आन्तरिक मूल्यों को अभिहित करने वाली शब्दावली का व्यवहार करने लग गया है। चीनी कम्युनिस्ट-पार्टी के प्रख्यात चिन्तक ल्यू शाओ चि की कृति का शीर्षक "How to be a Good Communist" स्वतः चौंका देने वाला है। यद्यपि उसने मनुष्य के वर्गाश्रित स्वभाव की व्याख्या की है किन्तु चीनी दर्शन से परिचित कोई भी व्यक्ति पहचान सकता है कि इस संकट के समाधान के लिए ल्यू शाओ चि बार-बार मार्क्स को खींच-खींचकर कन्फ्यूशस के द्वार पर ले गया है। यह सब अभी अंकुर रूप में ही है किन्तु इस बात की पूर्व सूचना है कि मार्क्सवाद के अन्तर्गत संकीर्ण साम्प्रदायिक रूढ़ि से मुक्त, व्यापक मूल्य-मर्यादा से युक्त महायान को विकसित होना ही है, यद्यपि अभी वह सम्प्रदायगत रूढ़िवादिता से जोर आजमाइश कर रहा है।

: ५ :

आधुनिकतम वैज्ञानिक चिन्तन का झुकाव इस मत की ओर अधिक है कि प्रगति की मर्यादा मनुष्य की आन्तरिक मर्यादा है। गिन्सबर्ग ने बड़ी कुशलता से पिछली तीन शताब्दियों की वास्तविक प्रगति और उनकी व्याख्या करने वाले प्रगति-सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण करके यह निर्धारित किया है कि विवेक पर आधारित न्याय के प्रति मानववादी आग्रह ही प्रगति की मूल प्रेरणा है और एक विवेकवादी सामाजिक नैतिकता ही उसकी मूल्य-मर्यादा हो सकती है। वह यह भी मानता है कि इस विवेकवादी नैतिकता में सभी के लिए कोई यान्त्रिक अधिनियम या सभी के लिए एक-सी पोशाक नहीं होती।[1] इसमें मानवता के विभिन्न आयामों के पूर्णतम उदय (सर्वोदय) की सुविधा है। प्रगति की ओर मनुष्य को उन्मुख करने वाली इस वृत्ति को विभिन्न विचारकों ने विभिन्न नाम दिये हैं। गिन्सबर्ग इसे विवेकवादी नैतिकता कहता है, अधिकांश ईसाई-चिन्तक (चाहे वे कैथोलिक हों, प्रोटेस्टेण्ट हों या अस्तित्ववादी) इसको ईसाई संज्ञा देते हैं, गांधी-विनोबा इसे सर्वोदय-वृत्ति कहते हैं, अरविन्द इसको मनुष्य की भविष्यत्मुखी चेतना कहते हैं।

यहाँ पर पुनः एक सूक्ष्म खतरे को समझ लेना आवश्यक है। यह विवेकवादी नैतिकता

१. मारिस गिन्सबर्ग—'आइडिया ऑफ़ प्रोग्रेस'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बात पर आग्रह करती है कि हम भविष्य में जिन मानवीय मूल्यों के विकास का स्वप्न देखते हैं उन्हें हम इसी क्षण अपने आचरण और जीवन-पद्धति में प्रतिष्ठित करें। यदि हम ऐसा नहीं करते और भविष्य के किसी अदृश्य वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर मानववादी मूल्यों का तिरस्कार करते हैं तो हम प्रगति की आस्था को आन्तरिक रूप से पराजित करके एक प्रकार के नये भाग्यवाद को प्रश्रय देने लगते हैं। जिस प्रकार पुराना परम्परा-पूजक भाग्यवादी "होइहै सोइ जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावइ साखा" कहकर निष्क्रिय होकर बैठ रहता है, उसी प्रकार अपने स्वतन्त्र चिन्तन और विवेक को तिलांजलि देकर बाह्यारोपित प्रगति-भावना को एक क्रूर मालिक की भाँति स्वीकार करके हम सारी निरंकुशता को चुपचाप सहकर भविष्य के सहारे बैठ रहने के आदी हो जाते हैं। हम समझते हैं कि इतिहास एक बँधे हुए द्वन्द्वात्मक साँचे में ढल रहा है; अतः यदि उसके दौरान में झूठ बोले जाते हैं, राजनीतिक बन्दियों के कैम्प खोले जाते हैं, नीतियाँ बदलते ही दस-बीस व्यक्ति बिना किसी खुले मुकदमे के फाँसी पर लटका दिए जाते हैं तो यह सब जायज है; क्योंकि इतिहास तो अपने ढंग से ही चलेगा। आज यह सब उचित है; क्योंकि भविष्य में यह सब उचित नहीं रहेगा। वर्गहीन समाज में सत्य, प्रेम, मानवता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता सभी विकसित होंगे; अतः यदि आज उसके लिए सत्य की हत्या होती है, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण होता है तो कोई हानि नहीं। किन्तु यह भाग्यवादी रुग्ण दृष्टिकोण है, प्रगतिशील स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं। प्रथम प्रकार का भाग्यवाद परम्परा के नाम पर नैतिक निष्क्रियता को उचित मानता है, यह नये प्रकार का भाग्यवाद स्वतः प्रगति के नाम पर नैतिक निष्क्रियता और प्रगति के औचित्य को स्थापित करने का प्रयास करता है।

बर्डेव इसकी एक नई व्याख्या देता है। वह इसको पलायन-प्रवृत्ति मानता है, जो वर्तमान की कायरता और निष्क्रियता की क्षति-पूर्ति भविष्य के कल्पित स्वप्न में करती है। मनुष्य जैसे वर्तमान की विवशता, दासता, पीड़ा और कुण्ठा को भुलाने के लिए कभी-कभी अतीत की मधुर कल्पनाओं में आश्रय ग्रहण करता है—वर्तमान को बदलने का प्रयास नहीं करता, उसी तरह आज का कोई भी लेखक; जो सत्य के नाम पर असत्य, प्रेम के नाम पर आतंक, शान्ति के नाम पर युद्ध, स्वतन्त्रता के नाम पर दासता सहन कर लेता है, वास्तव में प्रगतिवादी नहीं है—पलायनवादी है। भविष्य, वर्तमान से सर्वथा विच्छिन्न वस्तु नहीं है; समाज का वह रूप, जो हम आज बना रहे हैं, वही कल बनकर अवतरित होगा। समय को टुकड़ों में तोड़ देने की हमारी आदत हमें इस बात का अधिकार नहीं देती कि हम अन्तिम टुकड़े (भविष्य) को मध्य के टुकड़े (वर्तमान) से अधिक वास्तविक समझें। प्रगति की मर्यादा इसी क्षण की मर्यादा है, जिसका औचित्य किसी परिकल्पित अनुमानित भविष्य में नहीं वरन् इसी क्षण की ठोस और यथार्थ परिस्थितियों में किये गए हमारे विवेकपूर्ण आचरण में है।

: ६ :

प्रगति की मर्यादा-आचरण;
आचरण की मर्यादा?

मूल्य-मर्यादा की ही भाँति आचरण भी एक विशेषार्थक शब्द है और जब हम कहते हैं कि कोई बाह्यारोपित व्यवस्था नहीं वरन् विकास की दिशा में हमारा आचरण ही वास्तविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतिहासिक प्रगति है, तो आचरण की प्रगति को समझ लेना आवश्यक है।

आचरण के लिए प्राथमिक शर्त है—स्वतन्त्र विवेकपूर्ण मानवीय संकल्प। पानी का बहना, पहिये का घूमना और घड़ी का बन्द हो जाना उनका आचरण नहीं है। किन्तु मनुष्य का कड़वी बात बोलना, आक्रमण करना या सहायता देना—उसका आचरण है; क्योंकि पहिये का घूमना उसके विवेकपूर्ण निर्णय और स्वतन्त्र संकल्प का परिणाम नहीं है। मनुष्य के व्यवहार उसके विवेकपूर्ण संकल्प के परिणाम हैं; अतः वे आचरण हैं, जिनके लिए वह उत्तरदायी है। आचरण की इस प्रकृति को स्वतन्त्र और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत देश इस सीमा तक मानते हैं कि वह मनुष्य की उन क्रियाओं को भी उसका दायित्वपूर्ण आचरण नहीं मानते जो वह बेहोशी में, नींद में, पागलपन में या विवेक-रहित चरम भावावेश में करता है।

चूँकि प्रगति का विधायक है मनुष्य का स्वतन्त्र विवेकपूर्ण आचरण, अतः इतिहास में जिन प्रतिक्रियावादी राज-सत्ताओं, धार्मिक सम्प्रदायों या अर्थ-व्यवस्थाओं ने मनुष्य का विकास और प्रगति रोकनी चाही है उनका यही प्रयास रहा है कि किसी तरह मनुष्य के स्वतन्त्र विवेक को भौतिक अभाव, कुरुचि या अनुशासन द्वारा पराभूत करके उसकी क्रिया को विवेक से रहित पागलपन, मूर्छा या भावावेश की क्रिया-मात्र बना दिया जाय। ऐसी स्थिति में मनुष्य पशुधर्मी या वस्तुधर्मी हो जाता है और उस पर दुकानदार की तरह या चरवाहे की तरह अधिकार रखा जा सकता है, उसे बेचा जा सकता है या हाँका जा सकता है। यदि वह सत्ता पूँजीवादी है तो आर्थिक विभिन्नता द्वारा सुरक्षा से वंचित करके उसके विवेक को पराभूत कर देती है, उसके संकल्पात्मक साहस को नष्ट कर देती है, यदि वह फासिस्त है तो अतीत के प्रति गलत गर्व जगाकर, कल्पित आर्य जाति का स्वाभिमान और यहूदियों के प्रति अविवेकपूर्ण घृणा जगाकर उनको मन्त्रमुग्ध कर लेती है। कम्युनिस्ट है तो उसके विचारों और ज्ञान के साधनों पर नियन्त्रण करके, प्रचार के राष्ट्र व्यापी साधनों द्वारा उसको अर्द्ध ज्ञान और अज्ञान के स्तर पर हिप्नोटाइज करके उसके आचरण के विवेक को हर लेती है और विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। आचरण और विवेक के बीच की यह खाई शायद मानव-संस्कृति का सबसे बड़ा संकट है, जिसकी पीड़ा की चरम अनुभूति टी० एस० इलियट ने व्यक्त की थी :

> Between the idea
> And the reality
> Between the motion
> And the act
> Fallas the shadow[1]

प्रसादजी ने भी लगभग इसी शब्दावली में यह पीड़ा व्यक्त की है :

> **ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है**
> **क्यों इच्छा पूरी हो मन की;**
> **एक दूसरे से न मिल सके,**
> **यह विडम्बना है जीवन की।**

इसी संकट को कार्ल यास्पर्स-जैसा गहन चिन्तक भी व्यक्त करते हुए पीड़ा से व्यथित होकर दर्शन की नहीं काव्य की भाषा बोलने लगता है। वह कहता है : "विवेक वास्तव में

१. टी० एस० इलियट—'द हॉलो मेन'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्निहित एकता का संकल्प है लेकिन इन व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों द्वारा बार बार किसकी हत्या हो रही है? कौन है जो इन गलत पगडण्डियों पर बार-बार हमसे छूटा जा रहा है? वह है मनुष्य के अस्तित्व के विकास की सम्भावना; जिसका साधन है—मानव-विवेक।"[1] यही नहीं वह यह भी मानता है कि इन दूषित परिस्थितियों ने विवेकपूर्ण सिद्धान्तों का तिरस्कार करके उन बाजीगरों और ज्योतिषियों को मान्यता दिलाई है जो मानव-विवेक पर नहीं बल्कि संकट-काल में उभरने वाली उसकी अन्ध-विश्वासी प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करते हैं। पतनशीलता के क्षणों में, निराशा और कायरता की घड़ियों में बार-बार जनता ने इन नटों, बाजीगरों, तांत्रिकों, ऐन्द्रजालिकों और चमत्कारवादियों को मान्यता प्रदान की है; जो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण के मन्त्र और अनुष्ठान बनाते हैं और अपनी झोली में हर व्याधि की दवा रखने का दावा करते हैं। वह मार्क्सवाद और बूर्ज्आ मनोविज्ञान दोनों को ही मानव के स्वतन्त्र विवेक का शत्रु मानता है, जो केवल संकट के क्षणों के भावावेश का सहारा लेकर पोषित हो रहे हैं।

: ७ :

लेकिन कार्ल यास्पर्स के निष्कर्ष से बहुत अंशों तक सहमत होते हुए भी आचरण पर मूल्य-मर्यादा की व्यापकता के आधार पर हम उसके आकलन के सर्वांश से सहमत नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए यह कहना अन्याय होगा कि मार्क्स ने आचरण की मर्यादा स्वीकार ही नहीं की। यह पहले कहा जा चुका है कि मार्क्स ने अपने भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कहा था कि वस्तुसत्य को धारणा द्वारा नहीं वरन् सक्रियता द्वारा हृदयंगम करना चाहिए। इसलिए बार-बार मार्क्सीय शासकों द्वारा यह बताया जाता है कि सैद्धान्तिक चिन्तन ही नहीं वरन् क्रान्तिकारी सक्रियता (revolutionary practice) मानव-सत्य के मार्क्सीय रूप को समझने के लिए अनिवार्य है।[2] लेकिन मार्क्स का यदि आशय यह था कि वह इस सक्रियता को ही आचरण का स्थानापन्न बना दे तो वह सम्भव न हो सका; क्योंकि इस प्रकार की अनुशासित, आयोजित और नियन्त्रित सक्रियता कल-कारखानों के मशीनी पुर्जों के लिए उपादेय है, और मानवीय आचरण के लिए सर्वथा अस्वाभाविक; क्योंकि उसमें विवेक की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं रहती। लेकिन मार्क्स के चिन्तन की इस हदबन्दी से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि मार्क्स इसके महत्त्व से अवगत नहीं था और न यही निष्कर्ष निकलता है कि अधुनातन कम्युनिस्ट कमिस्सार कलाकार के आचरण और विवेक के इस विभाजन द्वारा आ जाने वाले गतिरोध और कुण्ठा से अवगत नहीं हैं। ज़्डैनव के तीव्र भर्त्सनात्मक वक्तव्य तथा कुओ मो जो और चाउ एन लाई के चीनी कलाकारों के प्रति उद्बोधनात्मक सन्देशों में इस आन्तरिक संकट की गहरी चेतना मिलती है किन्तु उनकी सम्प्रदायगत सीमाएँ मानव-विवेक को स्वाधीनता देने के पक्ष में नहीं हैं; अतः उनका चिन्तन विकासोन्मुख न होकर एक अन्य वृत्त में ही घूमकर रह जाता है।

मार्क्सवाद के बाद इस सांस्कृतिक संकट के दौरान में दूसरा इन्द्रजाल मनोविश्लेषण का रहा है, ऐसा कार्ल यास्पर्स कहता है। इसका कारण यह है कि मनोविश्लेषण ने भी ऐसे सिद्धान्त प्रचारित किये हैं जो मानव-आचरण को उसके स्वतन्त्र विवेक और वैयक्तिक संकल्प का परिणाम

१. कार्ल यास्पर्स—'रीज़न एण्ड एण्टी रीज़न इन अवर टाइम्स'।
२. माओ-त्से-तुङ्ग—'ऑन प्रैक्टिस'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न मानकर उसकी ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो मनुष्य को एक सभ्य पशु या अनपहचाना हुआ विक्षिप्त मानती हैं; जिनके अनुसार मनुष्य का तथाकथित विवेकपूर्ण व्यवहार भी विश्लेषण के बाद उसके अचेतन में स्थित दमित वासनाओं, अन्ध प्रवृत्तियों और कुण्ठित कामनाओं की यान्त्रिक प्रतिक्रिया-मात्र सिद्ध होता था। फ्रायड ने स्पष्ट कहा था कि हमारे मन की चेतन परत तो केवल एक तिहाई होती है। उसके नीचे दो तिहाई अर्द्ध चेतन और अचेतन मानसिकता है, जिसका बोध नहीं रहता। उन जमींदोज तहखानों, सुरंगों और काल कोठरियों में हमारे पुराने भय, पुरानी आशंकाएँ, पुरानी घृणाएँ बहुत गहरे उतरकर छिपकर बैठ जाती हैं और वे चेतन स्तर पर होने वाले निर्णयों को अदृश्य सूत्र द्वारा कठपुतली की तरह संचालित करती रहती हैं।

इस प्रकार वास्तव में यास्पर्स का यह आरोप सही सिद्ध होता है कि मनोविश्लेषण एक दूसरे प्रकार की यान्त्रिकता का प्रतिपादन करता है और स्वतन्त्र विवेक और संकल्प को अस्वीकार करके मनुष्य की विकासोन्मुख दिशाओं को अवरुद्ध करता है। फ्रायड के चिन्तन की इसी सीमा को पहचानकर उसके दोनों शिष्य युङ्ग और एडलर उसके जीवन-काल में ही उससे पृथक् हो गए थे, युङ्ग ने इस यान्त्रिकता के परिहार के लिए व्यक्तित्व के सृजनात्मक सन्तुलन का सिद्धान्त विकसित किया, जिसे वह आत्मा का स्थानापन्न मानता है। एडलर ने मानव-व्यक्तित्व को उसके सामाजिक सम्बन्धों में आँकने की दिशा अपनाई, ग्रोडेक ने अहम् के अतिरिक्त अन्तर्जगत् में इदम् की आन्तरिक व्याख्या प्रस्तुत की और उसके बाद के बहुत-से चिन्तक विभिन्न दिशाओं में मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का जो विकास कर रहे हैं वह दिनानुदिन मानव-विवेक और संकल्प के महत्त्व को पुनः स्थापित कर रहा है।

किन्तु यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि मानवीय मूल्य मर्यादाओं को अपनी सहज प्रकृति से ग्रहण करने वाले साहित्य ने मनोविश्लेषण की यान्त्रिकता को कभी भी यथावत् नहीं स्वीकार किया था। फ्रायड के पहले भी कलाकार अन्तर्जगत् के इन रहस्यों से अपरिचित नहीं था और फ्रायड के दस-बीस वर्ष पूर्व ही डास्टावस्की की वे अमर कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं, जिन्हें मनुष्य के अज्ञात अचेतन जगत् का विराट् मानचित्र कहा जाता है। लेकिन फ्रायड ने जब डास्टावस्की का अध्ययन किया तो उसे कहीं कुछ ऐसा मिला, जो उसके यान्त्रिक मनोविश्लेषण के संकीर्ण सिद्धान्त में नहीं बँध पाता था। उसने स्पष्ट कहा कि इस साहित्य में कहीं कुछ है जिसके सामने मनोविश्लेषण को अपने हथियार रख देने पड़ते हैं। वह कुछ क्या है?

आज इस प्रश्न का उत्तर सरल है। डास्टावस्की इन अन्ध चेतनाओं की पराजय और मानव-संकल्प की विजय को बड़ी सूक्ष्मता से स्थापित करता है। यद्यपि वह बार-बार ईसाई साम्प्रदायिक चिन्तन की भाषा में बोलता है किन्तु वह इन आसुरी शक्तियों पर जीसस की विजय को अनिवार्य मानता है। जीसस वास्तव में मानवीय संकल्प के विकासोन्मुख रूप का प्रतीक है, जो करुणा और क्षमा द्वारा मनुष्य के अन्तर में बैठी हुई अन्ध आसुरी शक्तियों को क्षीण कर देता है।[1] हिन्दी के उन लेखकों में भी, जिन्होंने मनोविश्लेषण का सहारा लिया, अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से यह संस्कार रहा है। इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' की भूमिका में मन की अतल गहराई में स्थित नरक में ही स्वर्ग के अवतरण की कल्पना की थी और अन्तिम कृति 'जिप्सी' में तो वे जीसस की ही कथा के प्रतीकों को ले आए हैं। अज्ञेय के 'शेखर' के द्वितीय भाग में बाबा मदनसिंह

१. द्रष्टव्य—द डेविल्स, ब्रदर्स कारॉमज़व—'ए लिटिल मीक गर्ल'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का चरित्र और उनके सूत्र, जिनमें दर्द के द्वारा विश्वास की उपलब्धि बताई गई है, इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। उनकी कुछ कविताओं में तो यह भी कहा गया है कि यह दर्द जिनको माँजता है उन्हें मुक्त करता है और उन्हीं को यह दृष्टि भी देता है कि वे दूसरों को मुक्त रखें।

: ८ :

इधर अन्तर्जगत् की एक नई व्याख्या अरविन्द ने की है, जिसकी स्थापनाओं से चाहे लोग पूर्णतया न सहमत हों किन्तु जिसका प्रभाव भारतीय साहित्यिकों पर काफी रहा है। फ्रायड के अचेतन और अर्द्ध चेतन की ही तरह अरविन्द ने चेतन स्तर के बाद ऊर्ध्व चेतना के स्तर परिकल्पित किये और उनके लिए डार्विन के विकासवाद के कुछ तर्क अपनाए। अरविन्द ने कहा कि अमीबा से लेकर मनुष्य तक जीव की चेतना का निरन्तर विकास होता गया है; किन्तु मनुष्य तक आकर ही उसका विकास रुक जाय-इसका कोई कारण नहीं दृष्टिगोचर होता। इसके साथ-ही-साथ पाश्चात्य मनोविज्ञान मनुष्य के आचरण की प्रेरणा उसके अतीत में मानता है, लेकिन उसका भविष्य-विकास भी उसके वर्तमान आचरण का कारण (प्रयोजन के रूप में) बन सकता है इसकी ओर से वह दृष्टि फेर लेता है।[1] अरविन्द और उनके प्रतिभाशाली अनुयायियों ने इस प्रकार ऊर्ध्व चेतना के विकासोन्मुख स्वभाव की प्रतिष्ठा करके उसमें संकल्प की वृत्ति जगाकर उसके आचरण को सार्थक और प्रयोजनवान बनाया; यह उनकी बहुत बड़ी देन है। किन्तु जहाँ वे आचरण की मर्यादा को वर्तमान जीवन के बजाय किसी रहस्यमय भविष्य और मानवोपरि दिव्य सत्य की ओर उन्मुख मानने लगते हैं, वहीं वे लगभग उसी प्रकार के पलायन का प्रतिपादन करते हुए से प्रतीत होते हैं जिसका दोषी मार्क्सीय भाग्यवाद है; जो भविष्य के स्वप्न में मानसिक क्षति-पूर्ति करता है। रहस्यवादी चिन्तनों की इस दुर्बलता की ओर आर्थर केस्लर ने अपने प्रख्यात निबन्ध 'योगी एण्ड द कूमिस्सार' में संकेत किया है जहाँ वह यह कहता है कि अक्सर अपने द्वारा प्रतिपादित मूल्य-मर्यादाओं की स्थापना समाज में न कर पाकर योगी किसी कल्पित दिव्यता या परमत्व में आश्वासन खोजने लगता है। अरविन्द के दर्शन का यह अंश आचरण के प्रति मानव-संकल्प को कहीं दुर्बल तो नहीं कर देता इसके विषय में अभी काफी आशंकाएँ हैं।

: ६ :

संकल्प और आचरण की एकतापरक मर्यादाओं का सबसे स्पष्ट निरूपण उन नई विचार-धाराओं में मिलता है जो मानवीय आचरण की सार्थकता एक ऐसी सामाजिक सन्तुलित वैयक्तिकता में मानते हैं जो कुछ स्थायी किन्तु विकासशील मूल्यों द्वारा मर्यादित होती है। पश्चिम में ऐसी अधिकांश चिन्तन-धाराएँ, चाहे वे कैथोलिक हों या ईसाई अस्तित्ववादी, 'बाइबल' में जीसस के प्रवचन की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं और पूर्व में इन नई चिन्तनाओं का आधार गीता की नई व्याख्या है। इन दोनों में अद्भुत समानता है। यह गांधी के चिन्तन-विकास से ही स्पष्ट है; जो एक ओर गीता और दूसरी ओर रस्किन के 'अन टु दिस लास्ट', टाल्सटाय के निबन्धों

---

१. इस विषय में इण्डियन फिलासफिकल कांग्रेस (१६४६) में मनोविज्ञान परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया डॉ० इन्द्रसेन का भाषण पठनीय है; जिसमें उन्होंने अरविन्द की कसौटी पर मनोविज्ञान के आधुनिकतम निकायों की परीक्षा की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जीसस के पर्वत-प्रवचन से प्रेरित है। गांधी द्वारा प्रस्तुत जीवन-दर्शन में मानव-विवेक की स्वतन्त्रता की एक क्रान्तिकारी व्याख्या की गई है। उनका यह कहना था कि आचरण में न केवल संकल्प वरन् साध्य और साधन की एकता भी आवश्यक है, क्योंकि यदि हमारा साध्य समता और प्रेम है और उसकी स्थापना के लिए हम विषमता और घृणा को प्रयुक्त करते हैं तो वास्तव में हम अपने विवेक को पराधीन ही बना लेते हैं। क्योंकि हमारा आचरण हमारे द्वारा स्वीकृत मूल्य पर आधारित नहीं रहा; वह तो प्रतिपक्षी का जवाब देने के लिए उसीके साधन द्वारा अनुशासित विवेक हो गया। **"सामने वाला जैसा होगा वैसा हम बनेंगे,"** इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायगा वैसा ही हम नाचेंगे। आरम्भ शक्ति या पहल (इनिशिएटिव) हमने उसके हाथ सौंप दी। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्ट चक्र तैयार होता है। दुर्जनता का एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए।'[1] इस प्रकार साध्य और साधन के बीच जो खाई पड़ गई थी उसकी यह सबसे नाजुक दरार थी और हमारे विवेक को पराधीन बनाने वाली सबसे बारीक मगर सबसे मजबूत जंजीर थी जिसकी ओर गांधी ने संकेत करके विश्व की विचार-धारा को सबसे अधिक झकझोरा है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है रोमारोलाँ, स्टीफेन ज्वीग, आल्डुअस हक्सले, केस्लर, आडेन, स्पेण्डर, इशरवुड, इलियट, हरबर्ट रीड, गेब्रीला यिस्त्राल, लिनयुतांग, सभी एक के बाद एक गांधी-विनोबा की साध्य-साधन-एकता के सिद्धान्त को ही अन्तिम औषधि के रूप में स्वीकार करते गए हैं। कृष्ण द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्म की मूल्य-मर्यादा को नये ढंग से विकसित किये बिना, मानव-विवेक की इस अन्तिम हिंसा-परक, मिथ्या-परक जंजीर को तोड़े बिना भविष्य का स्वप्न सन्दिग्ध है, इसी तथ्य की ओर टी० एस० इलियट का संकेत है, जब वह कहता है :

> I sometimes wonder if that is what Krishna meant—
> Among other things—or one way of putting the same thing:
> That the future is a faded song,, a royal rose or a lavender spray
> Of wistful regret of those who are not yet here to regret
> Pressed between yellow leaves of a book that has never been opened.[2]

भविष्य को प्रकाश में लाने के लिए इस पुस्तक को पहली बार खोलना बिलकुल हमारे हाथ में है। यह इनिशिएटिव, यह पहल हमारे हाथ में है कि हम अपने द्वारा उपलब्ध मूल्य को इसी क्षण आचरण में व्यक्त करके भविष्य का निर्माण करते हैं या नहीं, यदि नहीं तो कोई और भविष्य का निर्माण करने नहीं जा रहा है, वह भविष्य इलियट के शब्दों में विवर्ण संगीत सिद्ध होगा—ऐसे लोगों के लिए भग्न-हृदय पश्चात्ताप; जो अभी पश्चात्ताप करने के लिए पैदा ही नहीं हुए और चूँकि इतनी बड़ी जिम्मेवारी हम पर है, अतः हमें सत्य की निष्ठा के लिए कोई समझौता नहीं करना चाहिए, अपने विवेक पर बाँधी जाने वाली कोई भी जंजीर नहीं सहनी चाहिए और हम अपने विवेक द्वारा जिस परिणाम पर पहुँचते हैं, यदि सारी दुनिया भी उसके विरुद्ध हो तो हमें उस पर अटल रहना चाहिए—गांधी-विनोबा ने बार-बार इस आशय की बात कही है। इसको हम चरम व्यक्तिवादी अराजकता के रूप में स्वीकार न करके इसके क्रान्तिपरक

१. **विनोबा—'सर्वोदय विचार', पृष्ठ २।**
२. **टी० एस० इलियट—'द ड्राई सैल्वेजेज़'।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ समझ सकेंगे; यदि हम एमर्सन का वह कथन याद रखें कि "हर महान् जन-क्रान्ति पहले-पहल किसी एक व्यक्ति के मानस में विचार-बीज के रूप में स्थित रही है।"

इसीसे यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर यह आग्रह १९वीं शताब्दी की बूर्जुआ व्यक्तिवादी चिन्तन-धाराओं के आग्रह से बिलकुल अलग है। वे चिन्तन-धाराएँ या तो व्यक्ति को केवल एक राजनीतिक वोट मानती थीं, या श्रम कर सकने वाली एक बिकने योग्य वस्तु। बिना आर्थिक सुविधा के व्यक्ति की राजनीतिक या आर्थिक स्वतन्त्रता की बात करना एक बूर्जुआ भ्रम था, क्योंकि आर्थिक स्तर पर एक वर्ग का व्यक्ति अपना श्रम बेचने को 'विवश' है, और दूसरा उसे खरीदने को 'स्वतन्त्र', एक व्यक्ति पिसने को 'विवश' है और दूसरा पीसने को 'स्वतन्त्र'। मार्क्स ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता का रहस्य भली भाँति उद्घाटित किया था।

लेकिन आज की पूर्वीय और पच्छिमी वैयक्तिकतापरक विचार-सरणियाँ वैयक्तिकता के जिस पक्ष को विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता देने का आग्रह कर रही हैं उसका एक अनिवार्य प्रगतिपरक सामाजिक महत्त्व है। इसीलिए मूनियर, बर्डेव, कीट्स, मैरिटेन—सभी बूर्जुआ प्रतिक्रियापरक व्यक्तिवादिता से अपने वैयक्तिकतावाद को पृथक् मानते हैं।[1] इसके लिए वे दो पृथक् शब्दों का व्यवहार करते हैं—Individualism और Personalism। इन दोनों का अन्तर बताते हुए बर्डेव यह कहता है कि individualism वह सीमाबद्ध मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक अन्ध-प्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के रूप से हमारे व्यक्तित्व में उदित हो जाती है और हमें व्यक्तिगत स्वार्थों और सीमाओं की ओर उन्मुख करती है। personalism व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुख सृजनात्मक वृत्ति है; जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी समग्र सम्पूर्णता में पहचानकर उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार करके अपने व्यवहार को मर्यादित करती है। इस वैयक्तिकता को सुरक्षित रखना आवश्यक है, क्योंकि वैयक्तिकता

---

१. वैयक्तिकतावाद का इतिहास बड़ा ही स्फूर्तिदायक और रोमांचक है। वैसे तो ये विचार लाट्ज़े के ही समय से विकसित हो रहे थे और कैथोलिक चिन्तकों, अस्तित्व-वादियों तथा नवमार्क्सवादियों (मैनहीम, लास्की) ने इसके विकास में सहायता दी, किन्तु सबसे पहले मूनियर नामक फ्रेन्च विचारक ने १९३२ में वैयक्तिकतावादी घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। उसके बाद समस्त यूरोप और अमेरिका में साहित्य, अर्थशास्त्र, अध्यात्म-चिन्तन, राजनीति, समाज-शास्त्र-ज्ञान के सभी क्षेत्रों में यह सिद्धान्त छा-सा गया। इसके विकास की कई घटनाएँ बड़ी रोमांचक हैं। मूनियर का पत्र Espirit ही इसका मुखपत्र था। फ्रान्स का पतन होते ही फाशिस्टों के प्रभाव से मार्शल पेताँ ने मूनियर को कैद कर लिया और पत्र को बन्द करवा दिया। किसी तरह फिर पत्र चला। हालैण्ड में जर्मनों ने बहुत से राजनीतिक बन्दियों को कैम्पों में नज़रबन्द कर रखा था। वे द्वितीय युद्ध के दौरान में नाज़ी जर्मनी, पूँजीवादी अमेरिका और स्तालिनवादी रूस तीनों से असन्तुष्ट थे। उनमें से कुछ आस्तिक थे, कुछ नास्तिक। जब उनके पास Espirit की प्रतियाँ गुप्त रूप से पहुँचीं तो उन्होंने पाया कि वे जिन प्रश्नों का समाधान ढूँढ रहे थे, वह इसी दृष्टिकोण में है। एक विशेषता इसकी यह है कि मूनियर इसे कोई 'वाद' न कहकर एक दृष्टि कहता है। ठीक जैसे विनोबा सर्वोदय को 'दल' न कहकर 'समाज' कहते हैं, 'वाद' न कहकर 'वृत्ति' कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्फुरण मानवीय मूल्य की समग्रता की खोज और उसकी स्थापना में ही होता है, प्रत्येक विकासोन्मुख संस्कृति में अधिक-से-अधिक महान् लेखक, चिन्तक, कलाकार और वैज्ञानिक होते हैं, क्योंकि उसमें वैयक्तिकता को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और अधिक-से-अधिक व्यक्ति मानवता के स्थायी मूल्यों की खोज, साक्षात्कार और स्थापना में तल्लीन रहते हैं, अपने ढंग से, अपनी तात्कालिक ऐतिहासिक स्थिति में उस मूल्य की व्याख्या करते हुए सामूहिक प्रगति या विकास करने को स्वतन्त्र रहते हैं।

प्रख्यात फ्रेंच अस्तित्ववादी नाटककार एब्रील मार्सेल इसकी व्याख्या बड़े स्पष्ट शब्दों में करता है—"हम आज कहते हैं कि हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है। इसके अर्थ क्या हैं? क्या कोई भूचाल उसे नष्ट कर रहा है, क्या कोई जल-प्रलय आ रहा है, या ऊँची-ऊँची पक्की इमारतों की छतें गिर रही हैं, या कोई महामारी फैल रही है। नहीं, बाह्य जगत् में यह-सब-कुछ नहीं होने जा रहा है। मरणोन्मुख संस्कृत से मतलब यह होता है कि हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्य में आन्तरिक रुग्णता आ गई है। क्या यह आन्तरिक रुग्णता केवल एक शिविर में या एक व्यवस्था की संस्कृति में है? नहीं। हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सत्ताएँ प्रगति की शत्रु हैं, अतः वे जान-बूझकर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकता के विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु-युद्ध के तरीके बड़े ही विचित्र और नृशंस हैं। व्यक्ति में भय का संचार किया जाता है, उसके स्वाभिमान को तोड़ा जाता है, घृणा और हिंसा के भावावेश में लाया जाता है, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिकता पर अधिकार खो बैठता है, जिन कर्मों को वह करता है उसका उत्तरदायी अपने को नहीं मानता और जिन कर्मों को नहीं करता उनका अपराधी अपने को मानकर झूठे बयान पर स्वेच्छा से हस्ताक्षर कर आता है, धीरे-धीरे वह विवेक से शून्य स्वतन्त्र संकल्प से रहित, भावावेशों, बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित मानव-यन्त्र-मात्र रह जाता है। भय-संचार की इस टेक्नीक का पूर्णतम विकास पूँजीवादी देशों में अणुबम के रूप में हुआ है और साम्यवादी देशों में चिन्तन-पारतन्त्र्य के रूप में।"[1]

इसीलिए आज इस नये प्रसंग में वैयक्तिकता की स्वतन्त्रता की माँग का अर्थ प्रगति की स्वतन्त्रता की माँग करना है, संस्कृति को रुग्णता से मुक्त रखने की माँग करना है। वैयक्तिकता की सुरक्षा की हुंकार बड़े स्पष्ट रूप से लुई मैकनीस ने अपनी एक कविता में की है जहाँ एक अनजन्मा शिशु जन्म के पूर्व अपनी कुछ शर्तें रखता है :

I am not yet born : O hear me
Let not the blood sucking rat or the bat or the stoat or the
clubfooted ghoul come near me.
I am not yet born : console me
I fear that the human race with tall walls wall me,
with strong drugs dope me, with wise lies lure me,
on black racks rack me, in blood baths roll me.

१. गैब्रील मार्सेल—'मेन अगेन्स्ट ह्यूमेनिटी।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

I am not yet born; O fill me
with strength against those who would freeze my
humanity, would dragoon me into a lethal autowaton
would make me a cog in the machine, a thing with
one face, a thing, against all those
who would dissipate my entirety, would
blow me like a thistle down hither and
thither or hither and thither,
like water held in hand spill me.
Let them not make me a stone and let them not spill me
Otherwise kill me.[1]

: १० :

आचरण की मर्यादा—स्वातन्त्र्य;
स्वातन्त्र्य की मर्यादा?

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की इस अदम्य घोषणा का अर्थ अराजकता, उच्छृङ्खलता, निरंकुशता और दायित्वहीनता नहीं है। उसके साथ एक दायित्व भी है—मूल्यों की खोज, उनकी मानववादी सामाजिक व्याख्या और आचरण में इसकी सक्रिय परिणति। पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकों की भाषा में यह वैयक्तिकता मूल्यों के ग्रहण और विकास की दिशा में स्व-संचालित गति है, जिसमें स्वातन्त्र्य और दायित्व का आन्तरिक विकासोन्मुख समन्वय रहता है।[2] गीता की भाषा में विनोबा ने स्वातन्त्र्य और सामाजिक मूल्यगत दायित्व के इस समन्वय को स्वधर्म (स्व + धर्म) की संज्ञा दी है: **"स्वधर्म कितना ही विगुण क्यों न हो…उसीमें रहने से विकास हो सकता है। यही विकास का सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है, न छोटा। वह हमारे ब्यौंत भर का होता है।"**[3] अपने ब्यौंत के अनुसार, अपने 'स्व' के अनुसार धर्म या दायित्व की स्वीकृति हर व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक सार्थकता प्रदान करती है, इसीके द्वारा उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को नये सामाजिक अर्थ मिलते हैं और वह विकासोन्मुख संस्कृति की प्राणवान इकाई बनने में समर्थ हो पाता है। मानवीय संस्कृति का विकास केवल नये बाँध, नई रेलें, नये नगरों का विकास नहीं है, वह मानव की आन्तरिकता का विकास है; जो दर्शन, चिन्तन, कला, संगीत, साहित्य, स्थापत्य, अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में मूल्यों के नित्य नवीन विकास को नियोजित करता है। यह उसी सांस्कृतिक व्याख्या में सम्भव है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और अपने दायित्व को खोजकर, उससे अपनत्व अनुभव करके, उसे अपना स्वधर्म मानकर उसीमें अपने अस्तित्व की सार्थकता मानता है।

१. लुई मैकनीस—'प्रेयर ऑफ़ एन अनबार्न चाइल्ड'।
२. तत्सम्बन्धी पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकों के विस्तृत विचार जानने के लिए द्रष्टव्य—'द क्राइसिस ऑफ़ ह्यूमन परसन'—जे० बी० कोट्स।
३. विनोबा—'गीता प्रवचन', पृष्ठ ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यपरक दायित्व को स्वीकार न करके जो मूल्यहीन स्वतन्त्रता पर ही आग्रह करते हैं उनकी वैयक्तिकता कितनी बंजर और शून्य, कुहायुक्त, दिशाहीन भूल-भुलैयाँ में भटक जाती है इसका शायद सबसे रोचक और सबसे ताजा उदाहरण जाँ पाल सार्त्र और उसका नास्तिक अस्तित्ववाद है। सार्त्र ने स्थायी मानव-मूल्यों को आमूल अस्वीकृत करके व्यक्ति की अबाध किन्तु अस्वाभाविक और अमर्यादित स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। वह मनुष्य को बिलकुल स्वतन्त्र, निरपेक्ष सत्ता मानता है, जिसकी कोई मर्यादाएँ नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई नैतिकता नहीं, कोई प्रभु नहीं, कोई पूर्व-निश्चित मानवीय स्वभाव नहीं—वह परम स्वतन्त्र है, काल और दिशा से भी मुक्त, केवल स्वतन्त्रता की एक सत्ता। अपनी इस स्थिति में सार्त्र एक तीव्र संहारकारी अनास्था मात्र है, एक विराट्काय विध्वंसकारी संशय, जो सारी स्थापित मर्यादाओं के मूल को ही नहीं मानता, जो एक सीमाहीन शून्यता के सागर में निरुद्देश्य डोल रहा है।[1]

किन्तु केवल यही सार्त्र के कला-व्यक्तित्व का विराम-चिह्न होता तो शायद उसका साहित्य इस तरह यूरोप पर न छा गया होता। किसी तरह मूल्यगत दायित्व की गुरुता और आचरण का संकल्प अपनी ही चिन्तन-सीमा में विकसित करने की उसकी प्यास भी इतनी तीखी रही है कि उसने एक वक्तव्य में विचित्र तर्कों द्वारा अपने अस्तित्ववाद को मानववाद की ही शाखा सिद्ध करने का प्रयास किया है। पाठक सहज में ही उन स्थापनाओं से सहमत नहीं हो पाता तो भी इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि वह अपनी दायित्वहीन निरर्थक स्वतन्त्रता की यातनापूर्ण यात्रा में एक क्षण भी उसे नहीं भूल पाया है जिसे छोड़कर (यास्पर्स के शब्दों में) हम बार-बार ग़लत पगडण्डियों पर भटकने लगते हैं। एलेन के शब्दों में सार्त्र उन चिन्तकों में से हैं जो प्रभु (मूल्य-मर्यादा) को स्वीकार भी नहीं करते, पर उसे भूल भी नहीं पाते। साहित्यकार की सहज आन्तरिक निष्ठा ने ही धीरे-धीरे सार्त्र को भी उसकी चिन्तन-धारा से मुक्ति दिलाकर व्यापक मूल्यगत दायित्व को स्वीकार करने के प्रति उन्मुख किया है और धीरे-धीरे वह भी एक नैतिक विवेक को स्वीकार करता जा रहा है जो मूल्यगत दायित्व से युक्त है और जिसके प्रसंग में उसकी मित्र, शिष्या और समीक्षक इरिस मर्डाक का कहना है कि उसकी वर्तमान गति पूँजीवादी जर्जर व्यक्तिवाद और कम्युनिस्ट दलानुशासन के बीच एक मध्यमार्ग की ओर है, जहाँ मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बन सकता है।

साहित्य में मूल्यगत मर्यादा के विकास की सहज प्रकृति सदैव ही स्वातन्त्र्य और दायित्व के इस समन्वय को मान्यता प्रदान करती रही है, यह न केवल आधुनिक वरन् मध्य काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों से भी प्रमाणित होता है। वैष्णव मानववादी चिन्तन और साहित्य-परम्परा में जहाँ एक ओर कलाकार में अपनी वैयक्तिकता के प्रति अदम्य आत्माभिमान था, वहीं एक विराट् मूल्य-मर्यादा, एक महान दायित्व के प्रति आत्म-समर्पण भी था। वैष्णव कवि जब एक ओर कहता था **"आजु हौं एक-एक करि टरिहौं। कै हम हीं, कै तुम ही माधव, अपुन भरोसे लरिहौं"** तो दूसरी ओर उसका समर्पण भी अद्भुत था—**"तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकम् तस्मिन्नेव करणीयम्।"** मध्यकालीन वैष्णव चिन्तक के लिए वास्तव में प्रभु मानवीय मूल्य की चरम पूर्णता का ही पर्याय था, उस मूल्य-मर्यादा को ग्रहण करने का पथ उच्छृङ्खलता का नहीं वरन् स्वतन्त्रता और दायित्व से समन्वित 'स्वधर्म' का पथ है, भक्ति का पथ

१. **सार्त्र के पहले दो उपन्यासों के नायकों की मनःस्थिति।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है; जो तुलसी के शब्दों में 'विरति' और 'विवेक' से 'संजुत' है। मानववादी साहित्य की यह एक स्थायी प्रकृति है जो बराबर विकसित होकर युग के दायित्व को ग्रहण करती चलती है। इसीलिए आज का मानववादी कलाकार भी भक्ति की ही मर्यादा को ग्रहण करता है:

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

(पर इसकी अपनी अद्वितीयता है, वैयक्तिकता है :)

यह जन है, गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में ही काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसीने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में
वह सदा द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त नेत्र
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर अखण्ड-अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो।[1]

यह दीप वास्तव में कवि की वैयक्तिकता है जो अद्वितीय है। अखण्ड अपनापा है। गर्व-भरा है, किन्तु मानवीय मूल्य-मर्यादा के प्रति स्नेह-भरा भी। उसमें अपनी आग है, किन्तु भक्ति को, पंक्ति को, प्रकाश को अर्पित होने में ही उसकी सार्थकता है। यह अर्पण उस पर लादा हुआ नहीं है, उसका स्वधर्म है, उसके 'स्व' से विकसित है—यह मैं स्वयं विसर्जित!

स्वातन्त्र्य और दायित्व की इसी सामंजस्यमयी मर्यादा की ओर आधुनिक कैथोलिक कवि चार्ल्स पेगी अपनी 'फ्रीडम' शीर्षक कविता में संकेत करते हुए मनुष्य की तुलना एक ऐसे शिशु से करता है जो अभी तैरना सीख रहा है। पिता शिशु को हाथ का सहारा-मात्र देकर उसे धारा में छोड़कर तैरना सिखाता है, क्योंकि यदि वह उसे धारा में मुक्त न छोड़े तो बिना इस स्वतन्त्रता के वह कभी तैरना नहीं सीख सकता और यदि वह उसे बिलकुल मुक्त छोड़ दे, हाथ का भी सहारा न दे तो वह उसी समय डूब जायगा। आश्चर्यजनक यह है कि बिलकुल यही रूपक वैष्णव चिन्तन में भी मिलता है; जहाँ प्रभु (या मूल्य-मर्यादा) द्वारा निरुद्ध जीव भव-सागर में बहते हुए उस फूल के समान है जिसे प्रभु ने जल में हथेली डालकर अंजलि में निरुद्ध कर लिया है, इस प्रकार वह 'जन' भवसागर में भी है, और प्रभु की अंजलि में भी। दूसरी भाषा में इसे कहें तो इसका रूपक यह है कि स्वतन्त्रता और दायित्व से युक्त व्यक्तित्व वैयक्तिक स्थिति में स्वतन्त्र भी है और फूल की तरह मूल्य की विराट् अंजलि में भी। किन्तु यदि हम मूल्यगत दायित्व की मर्यादा से वंचित हो जाते हैं तो हमारी वैयक्तिकता प्राणहीन, गतिहीन होकर मूल्यहीनता के अथाह सागर में डूब जाती है—"हरिणा ये विनिर्मुक्ता ते मग्ना भवसागरे।"

१. अज्ञेय—'यह दीप अकेला'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

भक्ति की यह भावनामयी शैली किसी दिव्य मानवोपरि भ्रम की ओर हमें न ले जाय इसलिए यह संकेत कर देना आवश्यक है कि अन्ततोगत्वा हमारा यह दायित्व मानवीय मूल्य के ही प्रति है। रूपक की भाषा में कवि ने उसे प्रभु कहा हो, किन्तु उसका तात्पर्य मानवीय मूल्यों की समग्रता से ही है, जिसका प्रतिपालन हमारे सक्रिय जीवन में होता है। इस तथ्य को साहित्य ने अपनी सहज प्रकृति द्वारा सदैव पहचाना है। मध्ययुग का सन्त कवि कहता है : "जेती चलूँ तेती परदखना जो कुछ करूँ सो पूजा।" आधुनिक प्रयोगशील अंग्रेजी काव्य का प्रवर्त्तक गेरार्ड मेन्ले हापकिन्स कहता है : "निहाई पर हथौड़ा चलाना, शहतीर चीरना, दीवारों पर सफेदी करना, घोड़े हाँकना, सड़क बुहारना यह सब प्रभु के गौरव का परिवर्द्धन करते हैं,...... अतः मेरे बन्धुओं, जिन्दगी जियो!" क्योंकि इसी जीवन-प्रक्रिया के द्वारा हम मानवीय मूल्य को, प्रभु को सतत निर्मित और विकसित करते चलते हैं। रिल्क प्रभु से कहता है :

"We are all workmen : prentice, journeymen
Or master...... building you—you towering nave."

इसीको प्रतिध्वनित करते हुए सेसिल डेल्यूइस कहता है :

"God is a proposition
And we who prove him are his priests : his chosen."

इतना ही नहीं, रिल्क तो स्पष्ट चुनौती के स्वर में यह भी घोषणा करता है कि प्रभु की सार्थकता भी मनुष्य ही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु मानवीय मूल्यों की ही समग्रता का परम रूप है :

What will you do, God, when I die?
When I your pitcher, broken, lie?
When I your drink, go stale or dry?
I am your garb, the trade you ply
You lose your meaning losing me.

अन्ततोगत्वा हमारा दायित्व मानवीय मूल्य के ही प्रति है, यह न केवल रिल्क और हापकिन्स की भाँति आस्तिक मानववादियों ने स्वीकार किया वरन् नास्तिक समाजवादियों का भी झुकाव इसी ओर रहा। सोवियत साहित्य भी बार-बार अपने को सामाजिक मानववाद या नव-मानववाद की संज्ञा से अभिहित करता रहा, किन्तु वहाँ रह-रहकर यह तथ्य भुला दिया गया कि साहित्य केवल मूल्यगत मर्यादा ही ग्रहण कर सकता है, सम्प्रदायगत मर्यादा नहीं। जिन समाजवादी कलाकारों को मानवीय मूल्य के पक्ष में सम्प्रदाय को तिलांजलि देनी पड़ी है वे इस सूक्ष्म सत्य को भली भाँति हृदयंगम कर पाए हैं। तोगलियाती, थेलमैन और स्टालिन के सहयोगी सक्रिय कम्युनिस्ट लेखक इगनात्सियों सिलोने ने पार्टी छोड़ने के बाद जो कहा वह बहुत महत्वपूर्ण है : "समाजवाद में मेरा विश्वास आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक दृढ़ है।... मैं भाग्य-जैसी चीज नहीं मानता......मैं मानता हूँ मनुष्य सबके ऊपर है। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ जो आज उसका गला दबाती हैं, जब उसकी दास बनेंगी तभी समाज का कल्याण होगा। साल-पर-साल बीतते गए हैं और मुझमें एक श्रद्धा का भाव तीव्रतर होता गया है, मानव और उसकी उस विकासोन्मुख चेतना के प्रति भी जो उसे कभी भी चैन नहीं लेने देती।......लेकिन मेरा खयाल है जैसे समाजवाद में विश्वास रखने वाला केवल मैं अकेला नहीं हूँ। 'ये पागलपन से भरे हुए सत्य' तो मार्क्सवाद से भी

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराने हैं।........अधिक अध्ययन और अनुभूति के फलस्वरूप (मार्क्सवाद के) वर्तमान सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध हो सकते हैं किन्तु समाजवादी धारा फिर भी चलती रहेगी। समाजवाद किसी एक पद्धति का दास नहीं, वह तो एक आस्था है। समाजवादी चिन्तन-सम्प्रदाय अपने को वैज्ञानिक सिद्ध करने की जितनी चीख़-पुकार मचाते हैं उतने ही क्षणभंगुर सिद्ध होते जा रहे हैं। समाजवादी मूल्य स्थायी हैं। सम्प्रदाय और मूल्य के भेद पर आज ध्यान नहीं दिया जा रहा है, किन्तु वह भेद मूलगत है। सम्प्रदाय का संगठन करके एक पन्थ चलाया जा सकता है, किन्तु मूल्यों के आधार पर सभ्यता और संस्कृति का गठन होता है, नये जीवन की सृष्टि होती है।"

: ११ :

नया दायित्व

मानवीय मूल्य के प्रति प्रत्येक शिविर और प्रत्येक धारा में उभरकर आने वाली यह आस्था हमारी उस प्राथमिक स्थापना को सिद्ध करती है कि इस संकट में भी मनुष्य हारा नहीं है, बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर दिया है और दिनों-दिन उसने और भी सशक्त स्वरों में घोषित किया है कि वह प्रगति का सूत्रधार और इतिहास का निर्माता है। साम्प्रदायिक अनुशासन जहाँ भी उसकी प्रगति-चेतना में आड़े आए हैं, उनका उसने साहसपूर्वक अतिक्रमण किया है। उसकी यह यात्रा सरल नहीं रही है, किन्तु सेसिल डे ल्यूइस के शब्दों में उसने **निराशा में से जिन्दगी की चिनगारी ढूँढ़ी है और इस्पात में से गीत जगाये हैं।**

यह नई मर्यादा एक सक्रिय दायित्व के रूप में विकसित हुई है, अतः यह एक जागरूक, अनवरत, अथक क्रियाशीलता के प्रति सशक्त आह्वान है। मानवीय मूल्य विराट् मानव-जीवन की अगणित शिराओं में संचारित होता रहता है। जहाँ भी यह रक्त-प्रवाह रुका वहीं अंग पक्षाघात से आहत होकर सूख जाता है, बेकाम हो जाता है। हमारी मानव-संस्कृति में आज पूरे देश, पूरी जातियाँ, पूरे सम्प्रदाय, पूरी चिन्तन-धाराएँ और पूरे-के-पूरे साहित्यिक निकाय इस मूल्यहीनता से, इस पक्षाघात से अशक्त होकर प्रगति और विकास की दिशाओं से भटक गए हैं। हमारे सामने मानवीय मूल्य को पूरी संस्कृति के प्राणों में प्रतिष्ठित करने का जटिलतम दायित्व है।

मैं यह नहीं स्वीकार कर पाता कि यह कार्य अपने-आप होगा। यह 'अपने-आप' विकास होने की बात चाहे बाह्य अर्थ-व्यवस्था के रूपक में कही जाय या आन्तरिक चेतना के रूपक में, किन्तु यह हमारे दायित्व के महत्त्व को घटा देती है। यह दायित्व हमारा है, हम विकास करेंगे तो विकास होगा; नहीं करेंगे तो नहीं होगा। नहीं करने की सम्भावना भी अप्रिय सम्भावना है, किन्तु असम्भव नहीं। क्योंकि जहाँ इतिहास एक ओर मनुष्य के साहस का साक्षी रहा है, वहीं वह इस बात का भी साक्षी है कि अक्सर ऐतिहासिक निर्णय के क्षणों में मनुष्य ने कायरता दिखाई है, उसने स्वातन्त्र्य अस्वीकार किया है, दासता स्वीकार की है; क्योंकि दायित्व वहन करना साहस का काम है, और दासता में दायित्व का कोई प्रश्न नहीं उठता। दास तो केवल दूसरों के आदेश वहन करता है।[1]

आज की व्यापक सांस्कृतिक रुग्णता में यह दासत्व भावना और प्रगति-विरोधी निष्क्रियता

१. बर्डेव—'स्लेवरी एण्ड फ्रीडम'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत सहज सम्भाव्य है, क्योंकि टी० एस० इलियट के शब्दों में हमारा हृदय हमसे अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग़ प्याज़ के छिलकों की तरह उतर गया है—क्योंकि हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते।[1] यह भय बड़े गुप्त रूप से सभी प्रतिक्रियावादी राज्यसत्ताओं, सम्प्रदायों और व्यवस्थाओं द्वारा मानव-संस्कृति की शिराओं में विषैले कीटाणुओं की तरह सूइयों द्वारा पहुँचाया गया है, ताकि अन्दर-ही-अन्दर यह मानवीय मूल्य के प्रति हमारी आस्था को जर्जर और रुग्ण कर दे और हमारी विकासोन्मुख चेतना अन्धी हो जाय—इतनी अन्धी कि हम दासता को, निष्क्रियता को ही एक-मात्र समाधान मान लें। इस अत्यन्त लज्जाजनक और करुण स्थिति का एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्रण महानतम आधुनिक ग्रीक कवि कैवेफी ने किया है। अपनी एक मार्मिक कविता 'बर्बरों की प्रतीक्षा' में वह लिखता है :

चौराहों पर एकत्रित हम किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ?
आज बर्बर लोग नगर में, प्रवेश करेंगे।
सीनेट कोई निर्णय क्यों नहीं लेती।
इतने तड़के से हमारा सम्राट् जागकर,
मुकुट पहनकर, नगर-द्वार के पास सिंहासन डलवाकर,
क्यों बैठ गया है ?
वह बर्बर सरदार का इस्तकबाल करेगा
वह उसे शिरोपेच भी देगा
और खिताब भी।
हमारे महान् वक्ता आज चुप क्यों हैं ?
बर्बर लोग नगर में प्रवेश करेंगे, वे कलात्मक भाषण पसन्द नहीं करते
यह शोर और हलचल क्यों ?
(सहसा सबके चेहरे कितने गिर गए)
सड़कें और चौराहे खाली होने लगे
सब उदास अपने घर लौट रहे हैं।
क्योंकि रात हो गई और बर्बर विजेता नहीं आए
सरहदों से एलची लौट आए,
वे कहते हैं कि बर्बर विजेता अब नहीं रहे।
ओह बिना बर्बर विजेताओं के अब हम क्या करेंगे ?
वे लोग कम-से-कम कुछ समाधान तो प्रस्तुत कर देते थे !

समकालीन संकट की उलझनों से भरी हुई जटिलता में मानवीय मूल्य-मर्यादा को स्थापित और विकसित करने के स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का साहस न कर सकने वाले कितने ही चिन्तक, लेखक और कलाकार इस दासता के तथाथित कायरतापूर्ण सरल समाधान को जुए की तरह स्वीकार करके इस भय के शिकार बन चुके हैं। प्रगति और विकास की दिशा में मानव-इतिहास को मोड़ने के लिए प्रत्येक जागरूक साहित्यकार को इस भय के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करना है। यह भय मनुष्य की शिराओं में मानवीय मूल्य के स्वस्थ रक्त को कीटाणुओं की तरह

१. 'मर्डर इन द कैथेड्रल।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूषित कर रहा है। यह भय इस शिविर या उस शिविर में ही सीमित नहीं है, यह एकदम घोटने वाले वातावरण की तरह पूरी धरती को घेरे हुए है। समकालीन कथाकार विलियम फॉकनर ने नोबुल पुरस्कार के स्वीकृति-भाषण में कहा है—"हमारा संकट यह है कि एक सर्वव्यापी भय हममें समा गया है, जिसे हमने इतने दिनों तक वहन किया है कि अब हम उसे सहने भी लगे हैं।....लेकिन नये साहित्यकार को यह सीखना है कि संसार की सबसे पतित भावना है—भय की भावना!" बिलकुल यही बात प्रकारान्तर से वियना के शान्ति-सम्मेलन में जाँ पाल सार्त्र ने कही थी कि—समकालीन राजनीति और चिन्तन-पद्धतियाँ, चाहे वे किसी भी शिविर की हों, भय पर आधारित हैं; अतः वे मिथ्या को प्रश्रय देती हैं और पारस्परिक हिंसा को प्रेरित करती हैं। उनके कारण हमारे बीच में भय की दीवारें हैं। शिविर और दल मिथ्या हैं। हम सत्य हैं; क्योंकि हम जो जीते हैं वही इतिहास है।

साहित्यकार का यह नया दायित्व इतिहास-निर्माण का दायित्व है, मानव-संस्कृति के मूल्यात्मक विकास का दायित्व है और सामान्य व्यक्ति के दायित्व से कई गुना अधिक जटिल दायित्व है; क्योंकि साहित्यकार की पक्षधरता और संघर्ष विवेक का स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव-अस्तित्व की गहन परतों में उतरकर उसकी रक्त-शिराओं में चलने वाले भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है, उसके छोटे-से-छोटे क्षण में जीवन-प्रक्रिया को उद्बुद्ध करना है, उसकी भावनाओं के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तन्तु में स्फुरित होने वाले मानवीय मूल्य की विराट्ता को पहचानना है; यही नहीं, वरन् उसे इस संकट-काल के उखड़े-पुखड़े हुए, अर्धध्वस्त, प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचे में हरेक भटके हुए व्यक्ति की जीवन-प्रक्रिया से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके, उसके जीवन के क्षणों को स्वतः जीकर उसके द्वारा की गई मूल्यों की निजी खोज और उनके विकास के मर्म को समझ लेना है और इन समस्त उपलब्धियों को साहसपूर्वक मानव-इतिहास के एक नये और सबसे पूर्ण, प्रांजल और प्रकाशमान युग की ओर प्रेरित करना है। साहित्य की यह नई मर्यादा सरल नहीं है, किन्तु यदि इसी क्षण साहित्यकार इसे स्वीकार नहीं करता—भय के कारण, संशय के कारण या असमंजस के कारण, तो वह एक खतरनाक मोड़ पर क्रान्ति और इतिहास के प्रति विश्वासघात करता है।

इस दायित्व को पूर्ण करने के लिए साहित्यकार के पास एक ही माध्यम है—शब्द। इस संकट ने शायद शब्द को, भाषा को सबसे अधिक क्षत-विक्षत किया है। भाषा हमारी जीवन-प्रक्रिया में उपलब्ध रागात्मक मूल्यों को अभिव्यक्त करके, एक व्यक्ति के उपलब्ध सत्य को दूसरे व्यक्ति द्वारा उपलब्ध सत्य से जोड़कर एक सामाजिक सेतु बनती है। मानवीय मूल्यों में संकट आते ही भाषा की यह सार्थकता जाती रही। वह यथार्थ से विभिन्न होकर अपने स्वतन्त्र नियम और सिद्धान्त विकसित करने लगी—अर्थरहित प्रतीक, टूटे चित्र, स्वप्नों की-सी अराजकता, संगीत की-सी निरर्थकता। दूसरी ओर राज-सत्ताओं ने भाषा की सामाजिक उपयोगिता पहचानी और उन्होंने उनका गर्हित दुरुपयोग करना प्रारम्भ किया। उन्होंने शब्दों के अर्थ बदलने प्रारम्भ किये—शान्ति के अर्थ आक्रमण की तैयारी, मैत्री के अर्थ आर्थिक और सामरिक पारतन्त्र्य। यही नहीं वरन् प्रेस, रंगमंच, साहित्य, रेडियो और बुलेटिनों के द्वारा हर शब्द को इस गुप्त कीटाणु-युद्ध का साधन बनाने के लिए, भावावेश, पागलपन, भय और मूर्छा से विषाक्त कर दिया गया।

इतनी दूषित भाषा के द्वारा इतना जटिल दायित्व पूरा करना है। इसका एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान है। लिखते समय हर शब्द को अपने निर्मम विवेक की कसौटी पर कसकर देख लेना है कि वह खरा सोना है या नहीं। यदि नहीं, तो अपनी गहनतम अनुभूतियों से हर शब्द को मानवीय मूल्य से पुनः अभिषिक्त करके तब उसे कलम पर उतारने का साहस करना चाहिए। भाषा के सम्बन्ध में हमारा यही क्रान्तिकारी दायित्व है। विनोबा ने भी एक स्थल पर कहा है—"पुराने शब्दों पर नये अर्थों की कलम लगाना ही विचार-क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।" ये नये अर्थ मूल्यगत अर्थ हैं। यही कारण है कि साहित्य में शब्द तभी समर्थ, प्रेषणीय और प्राणवान बनते हैं जब उनमें मानवीय मूल्य आन्तरिक रूप से प्रतिष्ठित रहता है, अन्यथा वे बाँस पर लटकाये गए चीथड़ों की तरह पशुओं के लिए भयोत्पादक और विवेकपूर्ण तथा मनुष्य के लिए हास्योत्पादक बन जाते हैं। क्रान्ति के नाम पर आने वाले, मूल्य-मर्यादा से रहित बहुत-से आवेशपूर्ण साहित्य का यही भाग्य रहा है।

साहित्य की इस नई मर्यादा का उदय इतिहास के धूल-भरे पन्नों में खोजने वाली एक विस्मृत कथा बनेगा, या नव-निर्माण की, प्रगति की, विकास की भूमिका—यह हमारे इसी क्षण के चुनाव पर निर्भर करता है। प्रश्न सम्प्रदायों और सत्ताओं का नहीं है, बल्कि मानवीय मूल्य-मर्यादा, उसकी साहसपूर्ण स्वीकृति और निष्ठापूर्ण आचरण का है। चुनाव स्पष्ट है। हम चाहें तो भय से वाणी को रुग्ण और जर्जर बना डालें—चाहें तो साहस का वरण करके अपनी वाणी को इस नई मर्यादा की अपराजेय तेजस्विता से अभिषिक्त कर इतिहास को नया मोड़ दे दें। अज्ञात भविष्य में हमारा साहित्य कहाँ तक स्थायी रहेगा यह भी इसी पर निर्भर करता है कि हम इसी क्षण अपने कृतित्व में स्थायी मानवीय मूल्य के समस्त सम्भावित विकास का कहाँ तक और कितनी गहराई तक साक्षात्कार करा पाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बलदेव उपाध्याय

वेद में गीति-काव्य का उद्गम

कवि काव्य-सृष्टि का प्रजापति है। जिस प्रकार शिव अपनी शक्तिभूता प्रतिभा के सहयोग से नई रंगीन सृष्टि का उद्गम करता है उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन सौन्दर्यमय काव्य-जगत् का निर्माण करता है। कवि में अन्तर्दर्शन की सत्ता नितान्त आवश्यक है। कवि सुन्दर पदार्थ के दर्शन में जब तक अपनी पृथक् सत्ता का विसर्जन करके उससे तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता तब तक वह भावमयी कविता की सृष्टि नहीं कर सकता। 'अन्तर्दर्शन' कवि को वस्तु-तत्त्व के अन्तस्तल के निरीक्षण की क्षमता प्रदान करता है, तो 'वर्णन' उसकी अनुभूत भावना को बोधगम्य अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अतः कवि के लिए वर्णन उतना ही आवश्यक है जितना अन्तर्दर्शन। दर्शन के द्वारा प्रातिभ चक्षु के उन्मेष होने पर वाल्मीकि को कवि की पदवी तभी प्राप्त हुई जब दर्शन वर्णन के बाह्य रूप में छलक उठा। अन्तर्दर्शन कवि की निजी विभूति है जो उसके हृदय को नाना भावनाओं का आकर्षण-केन्द्र बनाती है, परन्तु वर्णन कवि की बाह्य विभूति है जिसके द्वारा वह पाठकों के हृदयावर्जन में समर्थ कोमल कविता को जन्म देता है।

दर्शन तथा वर्णन से स्निग्ध ऋषि की वाणी के भव्य उदाहरण हैं वेद के महनीय मन्त्र। मन्त्र आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान की निधि हैं तथा कर्मकाण्ड के जागरूक साधन; इसमें तो विवाद या सन्देह के लिए लेश-मात्र भी स्थान नहीं है; परन्तु ये मन्त्र ही निश्चयपूर्वक कमनीय काव्य-कला के आद्य निदर्शन भी माने जा सकते हैं। वैदिक ऋषियों की वाणी में दिव्यता अपने भव्य रूप में स्वर्गीय सुगन्ध के साथ विलसित हो रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से वैदिक मन्त्र उदात्त तत्त्व-ज्ञान के निःसन्देह परिचायक हैं। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्ष चक्षुओं के द्वारा अनुभूत तत्त्वों के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक हैं। वैदिक ऋषि मनोभिलषित भावों को थोड़े-से चुने हुए सुबोध शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय-समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलंकारों के विधान करने में भी पराङ्मुख नहीं होता। अलंकारों की रानी उपमा का अत्यन्त भव्य, मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य-संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव। आनन्द से सिक्त कवि-हृदय की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध करती है। अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए उन्हें सरलतापूर्वक पाठक के हृदय तक पहुँचाने के निमित्त कवि की वाणी जिन अन्तरंग मधुमय कोमल साधनों का उपयोग किया करती है अलंकार उन्हीं का अन्यतम रूप है। हम ऐसे काव्य-युग की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें भाव-भङ्गी में कोमल विलास के संचार-हेतु कवि किसी-न-किसी प्रकार के साम्य विधान का आश्रय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं लेता है।

वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विलास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा-विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य-भावना का आधिक्य है, तो इन्द्र-विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप-वर्णन में यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है, तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक चिह्न है भावों की सरल सहज अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।

इन्द्र की स्तुति के अवसर पर आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि की यह उक्ति है कि त्वष्टा के द्वारा निर्मित स्वरयुक्त वज्र के द्वारा जब इन्द्र ने पर्वत में आश्रय लेकर निवास करने वाले वृत्र को मारा, तब रँभाती हुई धेनुओं के समान जल जोरों से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला :

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥[1]

यहाँ 'वाश्रा धेनवः' की उपमा से सायंकाल चरागाहों से लौटने वाली, अपने बछड़ों के लिए उतावली से जोरों से रँभाती हुई और दौड़ती हुई गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने झूलने लगता है। जोरों से बहने वाले, घोर रोर करने वाले, बहुत दिनों तक रुके रहने के बाद प्रवाहित होने वाले जल के लिए इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान क्या हो सकता है? इसी वैदिक कल्पना को हमारे महान् कवियों ने भी अपने काव्यों में बड़ी रुचिरता के साथ अपनाया है।

हृदय-वृत्तियों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए वरुण-सूक्तों का अनुशीलन विशेष सहायक सिद्ध होगा। महर्षि वशिष्ठ ने एक अत्यन्त भावप्रवण सूक्त में अपने आराध्यदेव वरुण के प्रति अपना कोमल उद्गार प्रकट किया है। वह सुन्दर शब्दों में कह रहे हैं कि मैं अपने-आप पूछ रहा हूँ कि कब मैं वरुण के साथ मैत्री-सूत्र में बँध जाऊँगा। क्रोधरहित होकर वरुण प्रसन्न चित्त से क्या मेरे द्वारा दी गई हवि को ग्रहण करेंगे? अब मैं प्रसन्नमानस होकर उनकी दया को देखूँगा :

उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥[2]

जब विद्वानों की मीमांसा से उसे वरुण के कोप का पता चलता है तब कह उठता है कि हे देव, पितरों के द्वारा किये गए द्रोहों को दूर कर दीजिए और उन द्रोहों तथा विरोधों को भी दूर हटाइए जिन्हें हमने अपने शरीर से स्वयं किया है। जिस प्रकार पशु को चुराने वाले चोर को तथा बछड़े को रस्सी से लोग छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार आप भी अपराध की रस्सी में बँधे वशिष्ठ को भी मुक्त कीजिए :

---

१. ऋग्वेद—१।३२।२
२. वही—७।८६।२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजानोऽव या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥[1]

नम्रता तथा दीनता; अपराध-स्वीकृति तथा आत्म-समर्पण की भव्य भावनाओं से मण्डित यह सूक्त वैष्णव भक्तों की उस वाणी की सुध दिलाता है जिसमें उन्होंने अपने को हजारों अपराधों का भाजन बताकर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है।

उषा की सुषमा

उषादेवी के विषय में उपलब्ध सूक्तों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे काव्य की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्य भावना-मण्डित हैं। प्रातःकाल अरुणिमा से मण्डित सुवर्ण छटा से विच्छुरित प्राची नभोमण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक के हृदय में कोमल भावना का उदय नहीं होता ? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेम भरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्य छटा पर रीझ उठता है। उषा मानवी के रूप में कवि हृदय के नितान्त पास आती है। यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणी-मात्र होती, इस विश्व से परे ऊर्ध्व लोक में अपनी दिव्य छवि छहराती रहती, मानव-जगत् के ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने में ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय में केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं। जब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि हम अपनी पृथक् सत्ता का सर्वथा निर्मूलन करके प्रकृति की सत्ता के भीतर नर-सत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं तब अनन्यता की भावना जन्म लेती है। इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में, कभी गृहिणी के रूप में और कभी माता के रूप में देखता है। बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनुभव करता है। उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए माता की ममता की प्रतीक बन जाती है।

वैदिक ऋषि उषा के स्वरूप की भावना को तीव्र रूप से प्रकट करने के लिए नाना अलंकारों का विधान प्रस्तुत करता है। उषा अपने शुभ्र उज्ज्वल रूप को धारण करती हुई स्नान करने वाली सुन्दरी की भाँति आकाश में प्रकट होती है, तो कभी वह भ्रातृ-विहीन भगिनी के समान अपने दाय-भाग को लेने के लिए पितृ-स्थानीय सूर्य के पास आती है, कभी वह सुन्दर वस्त्र पहनकर पति को अपने प्रेम-पाश में बाँधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के समान अपने पति के सामने अपने सुन्दर रूप को प्रकट करती है :

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ॥[2]

कवि की दृष्टि उषा के रम्य रूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है—हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मित-वदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो :

१. ऋग्वेद—७।८६।५
२. वही—१।१२४।७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥[1]

यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है। यहाँ उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की भावना से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है। उषा के ऊपर की गई अन्य कल्पनाओं के भीतर भी उतना ही औचित्य दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अपने प्रकाश द्वारा संसार को उसी प्रकार संस्कृत करती है जिस प्रकार योद्धा अपने शस्त्रों को घिसकर उनका संस्कार करता है :

अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून् बाधते तमो अजिरो न वोळा ॥[2]

उषा अपने प्रकाश को उसी प्रकार फैलाती है जिस प्रकार ग्वाला चरागाह में गौओं को विस्तृत करता है अथवा नदी अपने जल को विस्तृत करती है :

पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना सिन्धुर्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत् ॥ [3]

उषा का नित्य-प्रति उदित होना उसके अमरत्व की पताका है :

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ॥[4]

उषा का नित्यप्रति एकाकार रूप से आना कवि की दृष्टि में चक्र के आवर्तन के समान है। चक्र सदा आवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार उषा भी अपना आवर्तन किया करती है—

समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥[5]

इन उदाहरणों में उपमा का विधान उषा की रूप-भावना को तीव्र बनाने के लिए कितने उचित ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

उषा-विषयक मन्त्रों के अनुशीलन से हम वैदिक ऋषियों की प्रकृति के प्रति उदात्त भावना को भी भलीभाँति समझ सकते हैं। प्रकृति का चित्रण दो प्रकार का है—

(१) *अनावृत वर्णन*—प्रकृति का स्वतः आलम्बनत्वेन वर्णन, जहाँ प्रकृति की नैसर्गिक माधुरी कवि-हृदय को आकृष्ट करती है और अपने आनन्द से कवि-मानस को सिक्त करती है।

(२) *अलंकृत वर्णन*—जिसमें प्रकृति तथा उसके व्यापारों का मानवीकरण किया गया है। प्रकृति निश्चेष्ट न होकर चेतन प्राणी के समान नाना व्यापारों का सम्पादन करती है। वह कभी स्मितवदना सुन्दरी के समान दर्शकों का हृदय आकृष्ट करती है तो कभी उग्ररूपा भीषण जन्तु के समान हमारे हृदय में भय तथा क्षोभ उत्पन्न करती है।

वैदिक कवि की इस द्विविध भावना का स्फुट निदर्शन हमें उषा-सम्बन्धी भावनाओं में मिलता है। प्राची क्षितिज पर सुवर्ण के समान अरुण छटा छिटकाने वाली उषा का साक्षात्कार करते समय कवि का हृदय इस कोमल चित्र में रम जाता है—और वह उल्लासमयी भाषा में पुकार उठता है :

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥[6]

१. ऋग्वेद, १।१२३।१०। २. वही, ६।६४।३। ३. वही, १।९२।१२।
४. वही, ३।६।३। ५. वही, ३।६१।३। ६. वही, ३।३१।२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर आमरणशील बनकर चमको। तुम्हारे उदय के समय पक्षीगण सुन्दर रसमय वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर शिक्षित पृथुबल से सम्पन्न सुवर्ण वर्ण वाले घोड़े तुम्हें वहन करें।

अलंकृत वर्णन के अवसर पर उषा से सम्बद्ध रूप तथा व्यापारों पर मानवीय रूप तथा व्यापारों का बड़ा ही हृदयरञ्जक आरोप किया गया है। एक स्थल पर कवि उषा की रूप-माधुरी का वर्णन करते समय शोभनवस्त्रा युवती के साथ उसकी तुलना करता है :

जायेव पत्य उशती सुवासा। उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ॥[1]

यहाँ कवि नारी के कोमल हृदय को स्पर्श कर रहा है। पति के सामने कौन सुन्दरी अपने हृदय के उल्लास तथा मन की वासना को गुप्त रख सकती है? और कौन ऐसी स्त्री होगी जो पति के सामने अपने सुन्दरतम सज्जा-सम्पन्न रूप को प्रकट करना नहीं चाहती? अपने पति-भूत सूर्य का अनुगमन करने वाली उषा के आचरण में कवि साध्वी सती के आचरण की स्फुट अभिव्यक्ति पाता है।[2] एक स्थान पर कवि भय से शंकित होकर कह उठता है कि कहीं उषा के सुकुमार शरीर को सूर्य की तीक्ष्ण किरणें सन्तप्त न कर दें, जिस प्रकार राजा चोर को या शत्रु को सन्तप्त करता है :

नेत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति। सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते ॥[3]

अन्यत्र रंगमंच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातःकाल प्राची क्षितिज के रंगमंच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली उषा के साथ करता हुआ अपनी कलाप्रियता का परिचय देता है :

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ॥[4]

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में प्रकृति के इस द्विविध रूप की भव्य झाँकी प्रस्तुत की है। 'ऋतु संहार' में प्रकृति अपने अनावृत रूप में पाठकों के सामने अपनी रमणीय छवि दिखलाती है, तो 'मेघदूत' में वह अलंकारों की सजावट से चमत्कृत तथा कोमल हार्दिक भावभङ्गिमाओं से स्निग्ध रमणी के रूप में आकर प्रस्तुत होती है। कालिदास का यह प्रकृति-चित्रण ऋग्वेदीय मञ्जुल धारा के ही अन्तर्गत है।

---

१. ऋग्वेद—१।१२४।७।
२. वही, ७।७६।३।
३. वही, ५।८०।६।
४. वही, १।९२।४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

चन्द्रबली पाण्डे

वीरगाथा का विरोध क्यों ?

'वीरगाथा' का इतिहास कुछ भी हो किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि 'हिन्दी-साहित्य' के 'आदि काल' का नाम पड़ा है 'वीरगाथा-काल' स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ही की कृपा से। उनका स्पष्ट कथन भी है :

"आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा-काल' रखा है।"

क्यों रखा है, इसका विवरण भी उनके 'इतिहास' के 'वक्तव्य' में आ गया है, अतएव हम यहाँ उसके अवतरण की आवश्यकता नहीं समझते और न यही कहना चाहते हैं कि उनके जीवन-काल में ही इसकी आलोचना हुई और तब से अब तक बराबर होती आ रही है। फिर भी यह कहा ही जा सकता है कि अभी तक मान्य यही समझा जाता है। इसके स्थान पर इधर बड़े आव-ताव और दबदबे के साथ जिस नाम का प्रतिपादन किया गया है वह है 'सिद्ध-सामन्त' का संयुक्त नाम। और नहीं, हिन्दी के यशस्वी समालोचक आचार्य डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते वा 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' की भरी मण्डली में भाषण करते हुए कहते हैं :

"विषय-वस्तु को दृष्टि में रखकर इस काल के लिए राहुल जी ने एक और नाम सुझाया है, जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह नाम है 'सिद्ध-सामन्त-काल'। इस काल का जो भी साहित्य मिलता है उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रहीं जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति। वस्तुतः काल-प्रवृत्ति प्राप्य ग्रन्थों की संख्या द्वारा नहीं निर्णीत हो सकती, बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकती है। प्रभाव-उत्पादक और प्रेरणा-संचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नाम-करण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है।"[1]

ठीक, परन्तु सच तो कहें, किसी 'काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु' का पता चलता कैसे है और उसका नाता साहित्य से कुछ होता भी है या नहीं? आचार्य शुक्लजी का पक्ष है :

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, सं० २००६ वि०—पृष्ठ २३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्त-वृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है।"[1]

तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल जी 'कार्य' को 'इतिहास' का विषय बनाते हैं और आचार्य द्विवेदी जी 'कारण' को। फलतः उनका 'आदिकाल' कारण का पुञ्ज बन गया है, 'सामंजस्य' का उसमें नाम नहीं। देखिए न, उसी क्रम में आचार्य द्विवेदी जी किस प्रकार कहते हैं :

"फिर 'सामन्तकाल' में 'सामन्त' शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा-स्रोत का भी पता चलता है। 'सामन्त' जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है उसमें उसकी झूठी सच्ची विजयों और कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगों का होना उचित ही है। एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृङ्गार रस का आलम्बन। सामन्त को दोनों ही चाहिएँ। इस प्रकार इस शब्द में इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का गुण है।"

प्रश्न उठता है किस शब्द में ? 'सामन्त' या 'सिद्ध-सामन्त' में ? 'सामन्त' में ही न ? कारण यह कि इसीके आगे आप और भी स्पष्ट करते हैं :

"'प्राकृतपैंगलम्' में उदाहरण रूप में उद्धृत पद्यों में इस प्रकार की राजस्तुतिमूलक रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हैं और तत्कालीन संस्कृत-काव्य में इस श्रेणी की रचनाएँ बहुत अधिक हुई हैं। सो ये राजस्तुतिपरक रचनाएँ 'वीरगाथा' उतनी नहीं हैं जितनी राजस्तुति हैं। उनकी लड़ाइयों और विवाहों की कथाओं में कल्पना अधिक है, तथ्य कम।"

आचार्य द्विवेदी जी 'तथ्य' और 'कल्पना' का द्वन्द्व छेड़कर जो कुछ दिखाना चाहते हैं उसकी जाँच के पहले यह ही जानिए कि उन्होंने 'सिद्ध' और 'सामन्त' को देखा किस दृष्टि से है। सो 'सिद्ध' के सम्बन्ध में उनका विवेचन है :

"इस मत के योग-मत और योग-सम्प्रदाय नाम तो सार्थक ही हैं; क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध-मार्ग इसलिए कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' है जिसे अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी के पंडित बलभद्र ने संक्षिप्त करके 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। इन ग्रन्थों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध मत' कहा जा रहा है।"[2]

तथा इसी क्रम में आप ही तो और भी स्पष्ट करते हैं :-

"गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के शुरू में ही 'सिद्ध मत' की भक्ति-हीनता की ओर इशारा किया है। गोस्वामी जी के ग्रन्थों से पता चलता है कि वे यह

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आरम्भ।
२. नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद—पृष्ठ १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था। मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' के आरम्भ में शिव की वन्दना के प्रसंग में जब उन्होंने कहा था कि 'श्रद्धा' और 'विश्वास' के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव हैं; इन्हीं दो गुणों (अर्थात् श्रद्धा और विश्वास) के अभाव में 'सिद्ध' लोग भी अपने ही भीतर विद्यमान ईश्वर को नहीं देख पाते, तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपंथियों से था। यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामी जी इस मत को 'सिद्ध मत' ही कहते थे। यह नाम सम्प्रदाय में भी बहुत समाहत है और इसकी परम्परा बहुत पुरानी मालूम होती है।"

तो क्या कोई भी विचारशील व्यक्ति यह कहने में हिचक सकता है कि वास्तव में हिन्दी-साहित्य के 'सिद्ध-सामन्त' काल में 'सिद्ध' का संकेत होगा 'नाथपंथी' ही। रहा 'सामन्त', तो उसकी यह स्थिति है : "शुक्रनीति के अनुसार जिसकी वार्षिक आय (भूमि से) एक लाख चाँदी के कार्षापण होती थी वह सामन्त कहलाता था।"[1]

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के इस अध्ययन की छाया में डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का उक्त 'सामन्त' कहाँ टिकेगा, कह नहीं सकता। उनके 'सिद्ध' की वह गति और उनके 'सामन्त' की स्थिति यह। फिर किस आधार पर क्या बताने के लिए खड़ा होगा आचार्य द्विवेदी का 'बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट' करने वाला यह 'सिद्ध-सामन्त' नाम ? स्मरण रहे राहुल बाबा की साखी भी यहाँ कुछ और ही करतब दिखायगी। कारण, उनका तो 'सिद्ध-सामन्त काल' है सन् ७६० से सन् १३०० ई० तक और आपका आदिकाल है अज्ञात, अथवा ज्ञात है तो यही कि आपकी ही वाणी में :

"साधारणतः सन् ईसवी की दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' कहा जाता है। शुक्लजी के मत से संवत् १०५० (सन् ९९३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहना चाहिए।"[2]

आचार्य द्विवेदी ने 'साधारणतः सन् ईसवी' का उल्लेख किस आधार पर किया है, कह नहीं सकता। कारण कि इसका अर्थ तो यह होता है कि 'हिन्दी-साहित्य' के इतिहास-लेखक साधारणतः ईसवी सन् का प्रयोग करते हैं और उसके 'आदिकाल' का भोग मानते हैं सन् ९०१ ई० से १४०० ई० अर्थात् सं० ९५८ वि० से सं० १४५७ वि० तक। परन्तु जहाँ तक इस जन को पता है वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आचार्य द्विवेदी कहने को कह जाते हैं :

"इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगने-मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य-क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरितमानस' भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य-सीमा के भीतर

१. हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, सं० २०१०—पृष्ठ २१९-२२०।

२. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं घुस सकेगा।" [1]

परन्तु तब न, जब हिन्दी के लोग इतने विवेकशून्य हो जायँ ! पता नहीं ऐसा सोचने का कारण क्या है ! राहुल जी की 'काव्य-धारा' में किया क्या गया है जो उन पर इस प्रकार का मिथ्यारोप लगाया जाय ! यह सम्भव तभी है जब 'सिद्ध-सामन्त' का मोह छोड़कर 'संक्रान्ति' को समझा जाय और साहित्य को प्रचार का अस्त्र न बनाकर जीवन का शास्त्र माना जाय, अन्यथा 'सिद्ध-सामन्त' का नामकरण तो सबसे पहले इन्हीं जैन कवियों को चर जायगा।

हाँ, तो इतना स्फुट रहे कि 'वीरगाथा' में यह दोष नहीं। 'गाथा' का प्रयोग 'चरित' के लिए भी होता है न ? यदि कुछ भी सन्देह हो तो कृपा करके 'रामचरितमानस' का पाठ करें। श्रीगणेश किया नहीं कि आपको गोचर हुआ :

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

तुलसी ने यहाँ 'गाथा' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है वहीं 'वीरगाथा' के 'गाथा' शब्द में भी चरितार्थ होता है। 'गाथा' शब्द के इतिहास में जाने से लाभ नहीं। स्मरणीय यहाँ इतना ही है कि 'वीरगाथा' का 'गाथा' शब्द स्व० शुक्लजी का कोई अपना शब्द नहीं, वह तो हिन्दी भाषा का एक अत्यन्त प्रचलित और व्यवहृत शब्द है। यहाँ तक कि राजस्थानी इतिहास के अद्वितीय पण्डित महामहोपाध्याय डॉक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी 'ढोला-मारू रा दूहा' के विषय में लिखते हैं :

"यह एक विचित्र (रोमैंटिक) प्रेम-गाथा है और इसमें मानव-हृदय के कोमल मनोभावों एवं बाह्य प्रकृति के मनोहर चित्र अंकित किये गए हैं।" [2]

और इसके सम्पादक त्रय इसकी आलोचना में इसकी स्थिति स्पष्ट करते हैं :

"यद्यपि रीति और साहित्य-शास्त्र के बहाव में सदियों तक बह चुकने के बाद आज हमारी कल्पना काव्योत्पत्ति के इस प्रकार को संभाव्य और युक्तिसंगत समझने में असमर्थ है, परन्तु यदि हम प्राचीन समय के मौखिक परम्परागत साहित्य के प्रवाह और परिस्थिति को ध्यानपूर्वक देखें तो यह बात सहज ही समझ में आ सकेगी। इन सिद्धान्तों के अनुसार ढोला-मारू की प्रेम-गाथा को किसी व्यक्ति-विशेष कवि की कृति न मानकर भी हमको यह कल्पना करने में कठिनाई नहीं होती कि यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य-युग की एक विशेष कृति है और संभव है कि तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए उससे प्रेरित होकर किसी प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने जनता-प्रीत्यर्थ उसीके मनोभावों को वर्तमान काव्य-रूप में बद्ध करके उसके समक्ष उपस्थित कर दिया हो और जनता ने बड़ी प्रसन्नता से इसे अपनी ही सामूहिक कृति मानकर कण्ठस्थ किया हो।" [3]

आचार्य द्विवेदी जी को 'ढोला-मारू की प्रेमगाथा' में कितना 'तथ्य' और कितनी 'कल्पना'

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ ११।
२. ढोला-मारू रा दूहा—ना० प्र० सभा, काशी; सं० १९९१—प्रवचन, पृष्ठ ८।
३. वही, पृष्ठ ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई देती है और उनकी दृष्टि में 'गाथा' का स्वरूप क्या है, पाठक इसको उन्हींसे समझने का प्रयत्न करें। हाँ, उसकी परम्परा के सम्बन्ध में इतना अवश्य जान लें कि काशी विश्व विद्यालय के प्राध्यापक श्री बलदेव उपाध्याय जी के मतानुसार :

"विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया है। वह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है। जैसे ग्रीक महाकवि होमर का 'इलियड' और 'ऑडेसी' नामक युगल महाकाव्य। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है, परन्तु गाथा-चक्रों के रूप में वे प्राचीन काल से बन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे।"[1]

कहा जा सकता है कि इस 'पाश्चात्य मत' से आचार्य द्विवेदी जी को लेना क्या, जो अपने 'आदिकाल' में इसका उल्लेख करते। निवेदन है, उन्हींका तो वचन है :

"मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिसने मुझे हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के 'काव्य-रूपों' के उद्भव और विकास की कहानी कहने का अवसर दिया है।"[2]

फिर किसी 'विकसित' काव्य-रूप की उपेक्षा क्यों ? प्राणी और प्रतीक में भेद क्या ? क्या आचार्य द्विवेदी को इसका पता नहीं कि किसी की 'कल्पना' किसी का 'तथ्य' बन जाती है और वह लोक में सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है ? इसका भी कुछ इतिहास है। वही उपाध्याय जी उसी प्रसंग में उसीके आगे लिखते हैं :

"महाकाव्य की रचना की प्रेरणा भारतीय कवियों को वेदों से ही प्राप्त हुई है। वेदों में देव-स्तुति के अतिरिक्त प्राचीन काल के प्रसिद्ध राजाओं की प्रशंसाएँ भी हैं, जिन्हें 'नाराशंसी' कहते हैं।....इतना ही नहीं, ऋग्वेद के समय की बहुत-सी गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं जिनमें किसी प्राचीन ऐतिहासिक राजा के विषय में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख रहता है अथवा किसी विषय का सुन्दर तथा रोचक वर्णन किया गया रहता है। ऐसी गाथाएँ 'ऐतरय ब्राह्मण' में 'शुनः शेप' के कथानक में दी गई हैं। इन्हीं समग्र साधनों का उपयोग करके पिछले कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों आदि के वर्णन से पुष्ट कर महाकाव्य को जन्म दिया।"[3]

भाव यह कि आज का 'वीरगाथा' शब्द इसी 'नाराशंसी गाथा' या 'नाराशंसी' का प्रतिभू है। 'गाथा' हिन्दी का एक चिरपरिचित और बहुत व्यवहृत शब्द है। उसका सम्बन्ध 'तथ्य' से भी है, 'कल्पना' से भी है और है साथ ही अभिरुचि तथा संस्कार से भी। अधिक क्या ? 'दानवीर' के प्रसंग में विद्यापति लिखते हैं :

"तद्दानपरितुष्टास्ते सर्वत्र तस्या कीर्तिगाथां गायन्ति। राजोवाच। वैतालिक सत्यमेतत् ?"

अर्थात् 'गाथा' शब्द 'सत्य' की गारंटी नहीं और 'स्तुति' शब्द 'कल्पना' का प्रतीक नहीं जो इस 'कीर्ति-गाथा' को 'दान-स्तुति' न समझा जाय और 'गाथा' को कोई 'इतिवृत्त' का वाचक माना जाय। विद्यापति का कथन है कि :

१. शारदा मन्दिर, काशी, सं० २००२, पृष्ठ ७९।
२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ १।
३. वही, पृष्ठ ८०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दानवीरो हरिश्चन्द्रो दयावीरः शिविर्नृपः
युद्धवीरोऽभवत् पार्थस्सत्यवीरो युधिष्ठिरः ॥[1]

किन्तु 'युगान्तर पुरुष' से वर्तमान का काम नहीं सधता। अतएव विद्यापति ने 'कलि' के जीवों को ही 'परीक्षा' का विषय बनाया और 'दानवीर' के लिए 'विक्रमादित्य' को, 'दयावीर' के लिए 'हम्मीर' को, 'सत्यवीर' के लिए 'नरसिंहदेव' तथा 'चाचिकदेव' को, एवं 'युद्धवीर' के लिए 'मल्लदेव' को चुना। इनमें से 'हम्मीर' और 'मल्लदेव' की कथा विचारणीय थी। परन्तु आचार्य द्विवेदी को इसकी गन्ध कहाँ? यदि सचमुच उनको इनका कुछ पता होता तो 'शार्ङ्गधर' और 'जज्जल' के विषय में स्यात् उनका मत आचार्य शुक्ल जी के साथ होता।

जो हो, जानना यहाँ यह है कि वास्तव में 'वीर' के भीतर सभी 'वीर' आ जाते हैं, कुछ निरे 'युद्धवीर' को ही 'वीर' नहीं कहते। फलतः 'वीरगाथा' का संकेत है सभी प्रकार के 'वीरों' की 'गाथा' से। हाँ, यहीं यह भी स्पष्ट हो ले कि साहित्य-शास्त्र में 'सत्यवीर' को 'धर्मवीर' कहा गया है जिसे 'रस' के सभी प्राणी भली भाँति समझते हैं।

'वीर' के इतने विवेचन के बाद बताना अब यह रहा कि जो 'विपुल सामग्री' इधर 'उपलब्ध हुई है' वह आप ही इस 'वीर' के भीतर सिमट आती है। कारण यह है कि स्वयं आचार्य द्विवेदी का वचन है:

"ये ग्रन्थ अधिकतर जैन-ग्रन्थ-भाण्डारों से ही प्राप्त हुए हैं और अधिकांश जैन कवियों के लिखे हुए हैं। स्वभावतः ही इनमें जैन धर्म की महिमा बताई गई है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है।"[2]

तो फिर आप ही कहें कि इस 'धर्मवीरता' के नाते इन्हें 'वीरगाथा' नहीं तो और क्या कहें? इनका 'चरितनायक' 'सिद्ध' है क्या? स्मरण रहे, इस काल का लेखा लेने पर 'सूरि' 'सिद्ध' को नगण्य कर देगा तो 'राजा' 'सामन्त' को। फिर यह 'सिद्ध-सामन्त' की गोहार कैसी? हाँ, 'सिद्ध' से अति अनुराग हो तो इसे 'सिद्धि-काल' कह लें, अन्यथा राहुल जी की शरण से लाभ क्या? उनका काल-विभाजन तो कुछ और ही है न? देखिए न। उनके पाँच युग हैं—

१. सिद्ध-सामन्त-युग, २. सूफी-युग, ३. भक्त-युग, ४. दरबारी-युग, और ५. नवजागरण युग। अस्तु उनका पंथ आपके लिए सुगम नहीं, भयावह है। 'वीर कौल' तो आप बन नहीं पाते, फिर 'सिद्ध' की चिन्ता क्या? उस दशा में भी 'वीर' अपना करतब दिखायगा। आप कहते हैं:

"एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृंगार रस का आलंबन।"[3]

तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि आपके 'सिद्ध-सामन्त-काल' का 'सामन्त' बस वाग्वीरता में मग्न रहता है और कभी भूलकर भी किसी नायिका में रत नहीं होता? यदि हाँ, तो आप के युग की सृष्टि ही निराली है।

---

१. पुरुष-परीक्षा—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९११ ई०।
२. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ ५।
३. वही, पृष्ठ २३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचन्द्र तिवारी

सन्त-सम्प्रदायों की राजनीतिक परिणति

हिन्दी-प्रदेश में सन्त-मत का पूर्णोद्भव सन्त कबीर के समुदय के साथ हुआ। कबीर ने एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया। इस चेतना का आदि स्रोत सर्वथा नवीन नहीं था। बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक आचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म हुआ था। रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ संकीर्ण और उदार होती हुई यह भावना जन-जीवन-प्रवाह के साथ बहती चली आई थी। कबीर ने इस भावना में आत्मविश्वास की दृढ़ता फूँकी, इसे संकीर्णताओं से मुक्त किया, हीनता की भावना को दूर किया तथा समता की दृष्टि दी। इस प्रकार विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया।

कबीर के समसामयिक अन्य सन्तों—सेन, पीपा, रैदास, कमाल, धन्ना, नानक आदि—की जीवन-साधना एवं धार्मिक दृष्टि भी ठीक इसी प्रकार की थी। ये सभी सन्त सरल थे। रूढ़ियाँ सभीको अप्रिय थीं तथा शुद्धाचरण सभी को मान्य था। इनका व्यक्तित्व-संगठन स्पष्टता और स्वतन्त्रता के आधार पर हुआ था। जीवन के मूल्यों के आकलन के लिए इनके पास एक ही कसौटी थी—अनुभव एवं विवेक। इनकी वाणियों में अखण्ड आत्म-विश्वास भरा था। इन सभी ने कबीर द्वारा पोषित नूतन सांस्कृतिक चेतना के समुदाय और विकास में सच्चा सहयोग दिया।

अपने समुदय-काल में यह सन्त-मत किसी प्रकार की संगठन की मनोवृत्ति लेकर नहीं चला था। इसमें संगठन की प्रवृत्ति के समागम तथा साम्प्रदायिक भावना के प्रवेश की कहानी हिन्दी-प्रदेश में इस्लामी प्रभाव के साथ प्रारम्भ होती है। हिन्दी-प्रदेश की चिन्ता-धारा के मध्य-युगीन विकास के अध्येताओं के लिए यह कहानी मनोरंजक ही नहीं महत्त्वपूर्ण भी है।

११वीं शती वि० में हिन्दी-प्रदेश में जिस इस्लामी संस्कृति का प्रवेश हुआ वह अपनी सम्पूर्ण उदारता में भी साम्प्रदायिक भावना से मुक्त न थी। इस्लाम-अनुमोदित आचारस-मता, जातीय एकता, भ्रातृ-भावना, एकेश्वरवादी विश्वास आदि सभीके पीछे कट्टरता का पुछल्ला लगा था। इस संस्कृति के पोषक मुस्लिम जन-समुदाय ने अपने से सर्वथा प्रतिकूल प्रवृत्ति रखने वाली हिन्दू जाति को पराजित करने के लिए अपनी धार्मिक कट्टरता को पूरे बल से पकड़ रखा। हिन्दी-प्रदेशीय मुसलमानों से इतर जन-समुदाय को जीवन के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में इस कट्टरता का सामना करना पड़ा।

हिन्दू जनता में इस धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। निम्नवर्गीय हिन्दू जातियाँ जो सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से हीन थीं और जिन्हें शताब्दियों से उच्चवर्ग की उपेक्षा, अवहेलना, घृणा तथा अपमान के बीच घुटना पड़ रहा था, स्वेच्छा से इस्लाम स्वीकार करने लगीं। दूसरी ओर उच्चवर्ग अपने को सभी इतर वर्गों से सर्वथा पृथक् बनाए रखने के लिए रूढ़िग्रस्त धार्मिक आचारों-संस्कारों तथा जातिगत विषमताओं से और भी चिपकने लगा।[1]

१. मुस्लिम शासन के प्रारम्भ में ही ऐसी ८४ हिन्दू जातियों का उल्लेख मिलता है जिनका परस्पर खान-पान नहीं था—'लाइफ एण्ड कण्डीशन ऑफ़ दी पीपुल ऑफ़ हिन्दुस्तान' —अशरफ़, पृष्ठ १९३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दोनों के बीच एक ऐसा हिन्दू समुदाय भी था जो युग-युग की इस बद्ध धारणा—"स्वधर्मे मरणं श्रेयः"—से चिपका होने के कारण अनेक कष्ट सहन करने पर भी इस्लाम न स्वीकार कर सका था किन्तु उच्चवर्गीय कुलीन हिन्दुओं से उसे सम्मान भी न प्राप्त था। सन्तों की सरल वानियों से सर्वाधिक स्फूर्ति, सम्बल और प्रेरणा इसी समुदाय को प्राप्त हुई।

सन्त-मत का प्रवेश जब इस सामान्य जन-समुदाय में हुआ तो उसका स्वरूप भी जन-जीवन की मनःस्थिति के अनुसार ढलने लगा। युग-युग से शोषण, घुटन और आत्महीनता के वातावरण में रहने के कारण निम्न जन-समुदाय सन्तों के स्वतन्त्र विचारों एवं समतामूलक जीवन-दृष्टि का बौद्धिक समर्थन तो करता रहा किन्तु उनके जीवन-सिद्धान्तों और आदर्शों को अपने जीवनाचारों में उतार न सका। फलतः सन्तों से प्रभावित यह जन-वर्ग अपनी हीन भावना को छिपाने के लिए कुलीन हिन्दुओं के समानान्तर पृथक् धार्मिक रूढ़ियों एवं संस्कारों के माया जाल का सृजन करने लगा। इस प्रकार सन्त-समुदाय के पृथक् पर्व, त्योहार, धर्माचार-संस्कार आदि संगठित होने लगे। मन्दिरों और मठों में प्रवेश निषिद्ध होने के कारण गुरुद्वारों का निर्माण हुआ। गोविन्द का स्वरूप-ज्ञान अगम्य होने के कारण गुरु को ही गोविन्द माना गया। मूर्ति-स्पर्श वर्जित होने के कारण गुरु-ग्रन्थ की ही पूजा होने लगी। पण्डितों द्वारा प्रयुक्त पूजा-मन्त्रों का ज्ञान न होने के कारण उसीके वज़न पर अनुस्वारादि लगाकर सधुक्कड़ी भाषा में मन्त्रावलियाँ बनाई गईं। इसी प्रकार गुरु जयन्ती, ग्रन्थ-जयन्ती आदि रूपों में पृथक् त्योहारों का श्रीगणेश हुआ। अन्ततः प्रत्येक प्रसिद्ध सन्त से प्रभावित श्रद्धालु जनवर्ग पन्थ और सम्प्रदाय का रूप ले बैठा। संवत् १७०० वि० के कुछ पूर्व तक उत्तरी भारत में कबीर पंथ, नानक पंथ, साध सम्प्रदाय, लाल पंथ, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, बावरी पंथ, मलूक पंथ आदि अनेक पंथों और सम्प्रदायों का जाल बिछ गया।

अभी तक सम्प्रदाय-संगठन का स्वरूप सांस्कृतिक ही था। इसमें राजनीतिक प्रयोजन का प्रवेश नहीं हुआ था। सं० १६३१ वि० में बाबा तुलसीदास ने पंथ-प्रवर्त्तन की इस प्रवृत्ति को लक्ष्य किया था किन्तु उनका व्यंग्य इनके धार्मिक स्वरूप पर ही तीव्रतम रूप में प्रकट हुआ था।[1] यदि उस समय इन सम्प्रदायों के संगठन के मूल में किसी प्रकार का राजनीतिक प्रयोजन भी होता तो उनकी सतर्क दृष्टि उसे अवश्य लक्ष्य करती और उनकी वाणी व्यंग्य करने से न चूकती। कबीर ने अवश्य बन्दूक चलाने वाले कच्चे सिद्धों की मखौल उड़ाई थी,[2] किन्तु 'बीजक' में समाविष्ट सभी कथनों में उनके निज के कितने हैं यह कह सकना अत्यन्त कठिन है।

अकबर के समय में मुस्लिम धार्मिक नीति पर्याप्त उदार हो गई। उसने सर्व-धर्म-समन्वय पर बल दिया। उसकी परिवर्तित नीति ने न केवल हिन्दुओं और मुसलमानों को निकट ला दिया वरन् सन्त-सम्प्रदायों में भी समन्वय और सम्पर्क की भावना बढ़ने लगी। वे एक-दूसरे के निकट आने लगे। उच्चवर्गीय हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं के प्रति उनमें विद्रोह की भावना क्षीण होने लगी। यही नहीं आगे चलकर सूफ़ियों, जैनियों और ईसाइयों के धार्मिक आचारों का प्रवेश भी सन्तों के विभिन्न सम्प्रदायों में होने लगा।[3]

---

१. 'दम्भिन निज मत कलपि करि प्रगट किये बहु पंथ'—'मानस उत्तर काण्ड' पृष्ठ ६७।
२. 'कबीर'—हज़ारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ १२६।
३. 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा'—पृष्ठ ५१७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ धार्मिक उदारता बनाए रखने का प्रयत्न किया। फलतः सन्तों में समन्वयात्मक प्रवृत्ति का विकास होता रहा। औरंगज़ेब के शासन में मुस्लिम धार्मिक नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता सीमा पार कर गई। उसकी राजनीति का परिचालन धर्मनीति के आधार पर ही होता था। उसकी आर्थिक नीति का आधार भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति थी। वह अपनी छाया से भी सशंक रहता था। जजिया फिर से लगाया गया। मन्दिर और पाठशालाएँ ध्वस्त की गईं। मस्जिदें और मकतब निर्मित हुए। हिन्दू-विक्रेताओं पर कर लगाया गया। सामूहिक इस्लाम-प्रवेश को प्रोत्साहन दिया गया। वस्तुतः इस धार्मिक कट्टरता की विद्वेषपूर्ण हिंसात्मक प्रतिक्रिया ने ही सन्त-सम्प्रदायों को राजनीतिक क्षेत्र में सशस्त्र प्रवेश करने के लिए बाध्य कर दिया।

औरंगज़ेब की धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। एक तो मुसलमानों में ही सूफियों से प्रभावित उदार दल औरंगज़ेब के विरुद्ध खड़ा हो गया। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व दारा-शिकोह को प्राप्त हुआ। परवर्ती सन्त-सम्प्रदायों में कई दारा शिकोह के सम्पर्क में आए थे। दूसरे पुनरुत्थान की प्रवृत्ति अपनी सम्पूर्ण उग्रता के साथ जाग उठी।

हिन्दू पुनरुत्थान की प्रवृत्ति भी कई रूपों में प्रकट हुई। युद्धप्रिय वीर जातियों ने सशस्त्र विद्रोह किया। हिन्दी-कवियों ने ओजपूर्ण वीर रसात्मक काव्य-कृतियों में यशस्वी हिन्दू-वीरों का गुण-गान प्रारम्भ किया। धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधारों पर संगठित अनेक सन्त-सम्प्रदाय सशस्त्र सैनिक संगठन के रूप में बदल गए। सम्प्रदायों से पृथक् कुछ स्वतन्त्र प्रकृति के हिन्दू सन्तों ने जाग्रत हिन्दू जातियों के संगठन में परोक्ष रूप से भी सहायता पहुँचाई।

युद्धप्रिय वीर विद्रोही जातियों का स्वातन्त्र्य-संग्राम सर्वविदित है। इतिहास के पृष्ठ उसके साक्षी हैं। शिवाजी के नेतृत्व में मरहटों का विद्रोह और राज्य-स्थापन, राठौर वीर दुर्गादास का राणा राजसिंह की सहायता से मारवाड़ तथा मेवाड़ की रक्षा के लिए सतत शौर्य-प्रदर्शन, मथुरा में गोकुल जाट का घोर संघर्ष तथा बुन्देलखण्ड के अप्रतिम वीर छत्रसाल की दुर्जेय वीरता सभीके पीछे हिन्दू पुनरुत्थान की भावना कार्य कर रही थी। धार्मिक सन्त-सम्प्रदायों में सिख, नागा (दादू पन्थ की उपशाखा) सतनामी और साध ऐसे सम्प्रदाय हैं जिन्होंने प्रत्यक्षतः अपने सांस्कृतिक संगठन को राजनीतिक स्वरूप दे दिया।

सिक्खों के प्रथम चार गुरुओं ने अपना कार्य धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखा था। पाँचवें गुरु अर्जुन को जहाँगीर ने खुसरो का समर्थन करने के कारण बन्दीगृह में डाल दिया था। वहीं (१६०६ ई०) उनकी मृत्यु हो गई। इस हत्या ने सिखों में विद्रोह का बीज वपन किया। फलतः अपने नवीन गुरु हरगोविन्दसिंह के नायकत्व में इस सम्प्रदाय ने अपने को सैनिक संघ के रूप में परिवर्तित कर लिया। नवें गुरु तेगबहादुर ने औरंगज़ेब की कट्टर धार्मिक नीति का विरोध खुलकर किया। वे पकड़े गए। उनकी निर्मम हत्या की गई। गुरु ने **'सिर दिया पर सार न दिया'**। इसके बाद गुरु गोविन्दसिंह ने आजीवन संगठित संग्राम जारी रखा। स्पष्ट है कि सिखों के राजनीतिक संगटन का एक-मात्र कारण औरंगज़ेब की धार्मिक कट्टरता थी।

सतनामी सम्प्रदाय वालों ने सं० १७२६–३० में विद्रोह किया था। इस विद्रोह के पूर्व इनके संगटन का क्या स्वरूप था, यह कहा नहीं जा सकता। इस विद्रोह का मूल कारण आर्थिक था। वस्तुतः यह विद्रोह किसान-विद्रोह था। यह अवश्य है कि ये किसान समान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक विश्वास रखने के कारण विद्रोह में भ्रातृ-भावना के साथ एक होकर सम्मिलित हो सके थे। युद्ध में इनकी उग्रता, संगठन और शस्त्र-संचालन की कुशलता का वर्णन पढ़कर यह प्रतीत होता है कि पहले से ही इस धार्मिक सम्प्रदाय का शस्त्रास्त्रों से पूर्ण परिचय था। कुछ भी हो इससे हमारी इस धारणा में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वस्तुतः धार्मिक सम्प्रदायों का राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने का बहुत बड़ा कारण औरंगज़ेब की कट्टरता थी।

साध-सम्प्रदाय का वास्तविक ऐतिहासिक विवरण अन्धकार में ही है। इस सम्प्रदाय की प्रायः सत्तनामियों से एकता स्थापित की गई है। यदि यह सम्प्रदाय सत्तनामियों से भिन्न था तो इसके सैनिक संगठन का ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं दिया जा सकता। किंवदन्ती है कि उदादास जब दिल्ली के आस-पास इस सम्प्रदाय का प्रचार कर रहे थे तो औरंगज़ेब ने इसके विरुद्ध युद्ध करने के लिए सैनिक भेजे थे। वह स्वयं भी युद्ध में उपस्थित हुआ था और उदादास उसके हाथ से मारे गए थे। उदादास के दो प्रधान शिष्य जोगीदास और वीरभान थे। डॉ० यदुनाथ सरकार के अनुसार सन् १६५८ ई० (१७१५ वि०) में धौलपुर के निकट महाराज महासिंह ने दारा-शिकोह की ओर से औरंगज़ेब के विरुद्ध युद्ध अवश्य किया था किन्तु वहाँ किसी साध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जोगीदास का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1] जनश्रुति को ही यदि विश्वसनीय माना जाय और यह सम्भावना हो कि दिल्ली के निकट धौलपुर वाले युद्ध में महासिंह के साथ जोगी-दास ने भी युद्ध किया था तो निश्चय ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन के मूल में राजनीतिक प्रयोजन भी कार्य कर रहा था।

दादू पन्थ की उपशाखा नागा सम्प्रदाय का संगठन औरंगज़ेब के राजत्व-काल के बाद की घटना है। अतः इस सम्प्रदाय के सैनिक संगठन का कारण उसकी धार्मिक नीति नहीं मानी जा सकती। नागा सम्प्रदाय का सम्बन्ध जयपुर राज्य से सं० १८०० के आस-पास से ही सिद्ध होता है। इनके संगठन का कारण निश्चय ही सम्प्रदाय की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति ज्ञात होती है। मुगल साम्राज्य के ध्वंस होने के बाद घोर अराजकता के युग में धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति जनता में श्रद्धा और सम्मान की भावना नहीं रह गई थी। ऐसी स्थिति में उदर-पूर्ति के लिए सैनिक संगठन आवश्यक था। इस संगठन के कारण आपस में लड़ने वाले राजा और सामन्त भी किराये पर इनका प्रयोग अपने सैनिकों के साथ कर लिया करते थे और कभी-कभी ये स्वयं ही किसी छोटे-मोटे सामन्त को लूट लेते थे। नागा सम्प्रदाय का संगठन इसी प्रकार का प्रतीत होता है। वि० क्रुक ने जयपुर राज्य की ओर से निकटवर्ती गावों में रहने वाले नागाओं को वेतन दिये जाने का उल्लेख भी किया है।

उपर्युक्त प्रमुख सैनिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त धामी, शिवनारायणी, चरणदासी, गरीब पन्थी और नागी (राधास्वामी सम्प्रदाय की एक उपशाखा) सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनके मूल में भी राजनीतिक प्रयोजन सन्निहित है। धामी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त प्राणनाथ का छत्रसाल से ठीक वैसा ही सम्बन्ध बताया जाता है जैसा शिवाजी से समर्थ गुरु रामदास जी का। छत्रसाल के हृदय में हिन्दुत्व की भावना भरने का बहुत-कुछ श्रेय प्राणनाथ को दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन के मूल में हिन्दुत्व-जागरण की भावना उनके हृदय में अवश्य कार्य कर रही थी। यह भावना उस समय विशुद्ध राजनीतिक भावना थी। यह होने पर भी धामी

१. 'उत्तरी-भारत की सन्त-परम्परा'—पृष्ठ ३६४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदाय अपने संगठित रूप में एक धार्मिक संगठन ही रहा।

शिवनारायणी सम्प्रदाय का संगठन मुहम्मदशाह के समय में हुआ था। प्रारम्भ में यह सम्प्रदाय विशेषकर राजपूतों में ही प्रचार पा सका था। प्रारम्भ में इसके संगठन का क्या स्वरूप था? निश्चित रूप से इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सम्प्रदाय में किंवदन्ती है कि 'पोत' न देने के कारण एक बार बादशाह ने शिवनारायण साहब को पकड़ लिया था। वे अपने अलौकिक प्रभाव के कारण बन्दीगृह से छूट आए थे। इस किंवदन्ती का ऐतिहासिक मूल्य भले ही न हो, इससे यह अवश्य सूचित होता है कि सम्प्रदाय वालों की मनःस्थिति में शासन के प्रति विद्वेष की भावना अवश्य कार्य करती रही है। आजकल अपने पर्वों और त्योहारों में जुलूस इत्यादि निकालते समय ये लोग सैनिक-क्रीड़ाओं का प्रदर्शन ठीक उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार सिख लोग। कहते हैं यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्प्रदाय के महन्तों का संगठन भी सैनिक-संगठन-जैसा प्रतीत होता है। 'टोली महन्त', 'समाज महन्त', 'ब्रिगेड महन्त', 'हुक्मी महन्त' और 'मुल्की महन्त' क्रमशः निम्नतम से उच्चतम श्रेणी के महन्तों की उपाधियाँ हैं।[1] महन्तों की इस प्रकार की संज्ञा का कारण यही है कि विशेषकर सैनिकों में प्रचलित होने के कारण सम्प्रदाय के लोगों ने सैनिक ढंग से ही सम्प्रदाय-संगठन भी कर लिया। यह होते हुए भी किसी समसामयिक हिन्दू या मुसलमान सामन्त से इस सम्प्रदाय के युद्ध होने का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता।

चरणदास, गरीबदास और नांगी सम्प्रदाय के प्रवर्तक डेढ़राज के भी क्रमशः नादिरशाह, अकबरशाह द्वितीय तथा नारनौल के शासक नजाबत अली खाँ द्वारा बन्दी बनाए जाने और अन्त में किसी-न-किसी अलौकिक चमत्कार के कारण मुक्त होने की चर्चा की जाती है। इससे भी यह स्पष्ट है कि इन सम्प्रदायों के अनुयायियों के हृदय में तत्कालीन शासन के प्रति धार्मिक और आर्थिक कारणों से असन्तोष रहा है। इस असन्तोष ने साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के बढ़ाने तथा उसके आधार पर जन-सम्प्रदाय को संगठित करने में बहुत-कुछ योग दिया है। इन सम्प्रदायों के अनुयायियों के सैनिक संगठन का उल्लेख नहीं मिलता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के साथ सन्त-मत के रूप में जिस सांस्कृतिक चेतना का अभ्युदय हुआ था, वह क्रमशः मुसलमान शासकों की कट्टर धर्मनीति और साम्प्रदायिक आधार पर संगठित मुस्लिम समुदाय की मनोवृत्ति के प्रभाव से संगठन की ओर अग्रसर हुई। प्रारम्भ में यह संगठन सांस्कृतिक ही रहा, पर औरंगज़ेब की कट्टर धर्मनीति की प्रतिक्रिया से राजनीतिक संगठन के रूप में परिणत होता गया। आगे चलकर आर्थिक आधार पर भी संगठन हुए और यह सदा आवश्यक नहीं था कि साम्प्रदायिक संगठन प्रत्यक्ष रूप से युद्धों में भाग ही लें।

१. देखिए—सम्प्रदाय की प्रकाशित नियमावली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

डॉक्टर जगदीश गुप्त

आधुनिक हिन्दी-काव्य का एक विशिष्ट आध्यात्मिक स्वर

इससे पहले कि 'माता', 'क्वासि' और 'सुहागिन' की काव्यगत समीक्षा प्रस्तुत की जाय उनकी भूमिकाओं में व्यक्त विचारोंकी ओर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है, क्योंकि तीनों कवियों ने जीवन तथा साहित्य के मूल्यांकन-विषयक कतिपय मौलिक प्रश्नों को उठाया है। इन प्रश्नों का सीधा सम्बन्ध कवियों की अपनी रचनाओं से ही है किन्तु प्रकारान्तर से इनकी व्याप्ति कहीं अधिक है। कुछ बँधी-बँधाई धारणाओं की लीक से हटकर नये सिरे से सोचने की अपील की गई है।

'माता' की भूमिका में माखनलाल जी ने छायावाद युग से लेकर अब तक की समस्त हिन्दी कविता के मूल्य-निर्धारण की समस्या उठाई है—और वह भी उन कविताओं की तुलना में जो संघर्षशील परिस्थितियों से जूझने वाले कवियों के द्वारा रची गई हैं। उनका कहना है :

"कभी प्रणय, कभी छायावाद, कभी प्रगति और भविष्य में कभी कुछ और कभी कुछ—इन सबके गोरखधन्धों में मन तो बहलाया जा सकता है, किन्तु क्या शाश्वत मानव, कभी अपने इन धन्धों से पकड़ में आ सकता है?"

'चौहान' और 'नवीन' का उदाहरण देते हुए वे बलपूर्वक आरोपित करते हैं कि हिन्दी-साहित्य में उन लोगों को अभी तक नहीं पहचाना गया है **'जिन्होंने जीवन और गायन दोनों के खतरों-भरे पंथ का बोझ ढोया है।'** उनके कथन का निष्कर्ष है कि कला-कौशल और जीवन की सरल अनुभूतियों से प्रेरित एवं निर्मित प्रणय-गीतों से वे गीत श्रेष्ठ हैं जो कठोर परिस्थितियों में रचे गए। कठोर परिस्थितियों या 'खतरों' का स्पष्टीकरण उन्होंने स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लेने वालों की जेल-यात्राओं, क्रान्तियों, राजनीतिक बन्धनों, नियन्त्रणों और अपमानों के रूप में स्वयं ही कर दिया है। जिस वर्ग के दो-एक कवियों का उल्लेख चतुर्वेदी जी ने किया है उसके पुरातन पुरुष वे स्वयं ही हैं, अतएव उनका कथन सबसे पहले उन्हीं पर लागू होता है। हिन्दी-काव्य की राष्ट्रीय धारा के कवियों के वास्तविक मूल्यांकन के प्रश्न से कुछ देर के लिए इस प्रश्न को पृथक् करके देखा जाय तो सिद्धान्त रूप में उनकी स्थापना को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथम तो यह कि अपने अनभिव्यक्त मूल रूप में साहित्य में व्यक्त अनुभूतियाँ कितनी भी गहन क्यों न रही हों, उनका जन्म कितनी भी विषम परिस्थितियों में क्यों न हुआ हो किन्तु यदि वे उसी तरह प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त न की जा सकी हों तो अभिव्यक्ति से पूर्व की उनकी सारी स्थितियों का साहित्यिक कृतित्व की दृष्टि से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। राजनीतिक इतिहास में उनका चाहे जो भी मूल्य हो। द्वितीय यह कि सामान्य-सी परिस्थिति भी समवेदनशील हृदय में असामान्य भाव-संवेग उत्पन्न कर सकती है और असामान्य-से-असामान्य स्थिति भी कभी-कभी कृतिकार के हृदय को अछूता छोड़ जाय तो आश्चर्य नहीं। इसीलिए भारतीय साहित्य शास्त्र ने मूल्यांकन का प्रश्न व्यक्त अनुभूतियों और उनके प्रभाव तक ही सीमित रखा। उसके लिए अभिव्यक्ति से पूर्व अनुभूतियों की सामान्यता-असामान्यता तथा विगत परिस्थितियों के इतिहास की साक्षी को आवश्यक नहीं माना। साहित्य-समीक्षा की आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रणाली में भी कृतित्व से पूर्व की परिस्थितियों का जो विश्लेषण किया जाता है वह साहित्यकार के व्यक्तित्व को अधिक गहनता से समझने के लिए ही किया जाता है, सापेक्षिक मूल्यांकन का उद्देश्य कदाचित् उसमें प्रधान नहीं रहता। जब काव्य की एक विशिष्ट धारा की श्रेष्ठता के लिए 'खतरों' और परिस्थितियों की दुहाई देने की आवश्यकता पड़ जाय तो सचमुच समस्या जटिल और विचारणीय हो जाती है। सम्भव है राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेने वाले सेनानियों के व्यक्तिगत प्रणय-गीतों तथा राष्ट्रीय कविताओं में अन्तर्निहित गुणों और उनके महत्त्वपूर्ण अर्थों की ओर अभी आलोचक-वर्ग का ध्यान समुचित रूप में न गया हो—उनके प्रति अन्याय हुआ हो पर हिन्दी-जगत् ने इन कवियों का कम समादर किया है यह कहना कठिन है। पर जिस व्यथा और आक्रोश-मिश्रित क्षोभ के साथ माखनलाल जी द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है उसे समझने की आवश्यकता है। अपनी कल्पना के अनुसार प्रतिदान न पाने की व्यथा और क्षोभ को तो मैं समझ सकता हूँ—क्योंकि साहित्यिकों में प्रायः इस भाव के दर्शन होते हैं, परन्तु छायावाद के अन्य कवियों के काव्य को जो महत्ता हिन्दी-साहित्य में मिली है उसके प्रति आक्रोश के भाव को—और विशेषकर उनके हृदय में—मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। 'क्वासि की यह टेर मेरी' शीर्षक से नवीन जी ने भी साहित्य के मूल्यांकन के ही प्रश्न को उठाया है किन्तु दूसरे धरातल पर और भिन्न प्रसंग में। एक प्रगतिशील आलोचक के द्वारा लगाये गए आरोप—**'प्रगतिशील नवीन तो मर गए, अब बच रहे हैं केवल दार्शनिक नवीन'**—का उत्तर देते हुए उन्होंने दार्शनिक आधार पर साहित्य के मूल्यों की व्याख्या की। माखनलाल जी ने छायावादी, प्रगतिशील आदि सभी काव्य-धाराओं को दृष्टि में रखकर अपनी बात कही थी पर नवीन जी ने प्रगतिशील साहित्य के मूल-प्रेरक पदार्थवादी जीवन-दर्शन को ही अपना लक्ष्य बनाया। मार्क्स के पूर्ववर्ती जर्मन दार्शनिक फ्योरबाख (Feuerbach) का उल्लेख करते हुए उसके विचारों से प्रेरित होकर लिखे गए मार्क्स के ही एक सूत्र से उन्होंने दो बातों की निष्पत्ति मानी। प्रथम तो यह कि मार्क्स से पहले पदार्थवाद की धारणा जड़ थी और मार्क्स ने ही उसे 'ऐन्द्रिय मानवीय सक्रियता' की ओर उन्मुख किया, दूसरे यह कि जो कुछ यथार्थ है वह केवल-मात्र वह पदार्थ, वह वस्तु है, जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। नवीनजी ने सूत्र की प्रथम निष्पत्ति पर मार्क्स की हार्दिक सराहना करते हुए दूसरी निष्पत्ति से अपनी पूर्ण असहमति प्रकट की। यही नहीं यथार्थ सत्य के ग्रहण को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने भारतीय औपनिषदिक आध्यात्मिक चिन्ता-धारा की तुलना में मार्क्स की पदार्थवादी विचार-धारा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवैज्ञानिक, निर्गतिवादी और प्रतिक्रियावादी तक कह डाला है। दार्शनिक आधार को लेकर किये गए इस विवेचन की परिसमाप्ति पर इसे साहित्य और उसके मूल्यांकन से सम्बद्ध कर दिया—वस्तुतः यही उनका उद्देश्य भी था। निष्कर्ष रूप में उनकी धारणा उल्लेखनीय है :

"इस दर्शन-सिद्धान्त पर जो भी साहित्य-कला-सौन्दर्य-शास्त्र आधारित होगा, वह पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता। इस प्रकार का शास्त्र, उस अंश तक जिस तक वह अपने को पदार्थवादी दर्शन का अनुगामी बना लेता है, मानव-प्रगति को रोकने वाला, अतः मानवोन्नति-बाधक, गति-अवरोधक, अचल तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा। इस प्रकार के साहित्य-कला-सौन्दर्य-शास्त्र में केवल उसी सीमा तक गति होगी जिस सीमा तक वह जीवन के तथ्य को स्पर्श, विकसित और प्रस्फुटित करेगा। किन्तु जिस समय वह शास्त्र जीवन के तथ्य को केवल भौतिकता में बाँधने का दुराग्रह करने लगेगा, उसी समय वह विचार-विकास-विरोधी के रूप में प्रकट हो जायगा।"[1]

इस प्रकार नवीन जी ने इन्द्रियातीत सत्य के प्रति अपनी गम्भीर आन्तरिक आस्था प्रकट की और आत्मदर्शन, सत्-वरण तथा बन्धन-मोक्ष को ही इस देश की विशेषता बताते हुए उसी को भारतीय वाङ्मय की मूल प्रेरणा स्वीकार किया और साथ ही अपनी 'क्वासि' को इन्द्रियातीत सत्य से 'आत्मैकता प्रदान करने वाली प्रणोदना' तथा उसके प्रति 'शाश्वत टोहभाव' से अनुप्रेरित एवं विनिर्मित घोषित किया। उनका यह दावा कहाँ तक यथार्थ है इसका विश्लेषण और विवेचन 'क्वासि' की कविताओं को लेकर आगे किया जायगा, यहाँ उनकी स्थापनाओं का परिचय ही अभीप्सित है। भारतीय परम्परा की जिज्ञासा को नवीन जी ने वर्तमान विज्ञान-जिज्ञासा से परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में भिन्न मानते हुए उनमें आन्तरिक और बाह्य का भेद प्रदर्शित किया है। क्या वास्तव में ऐसा है ? यह सोचने की बात है। उनकी यह भी धारणा है कि श्रेणी-हितों से सम्बद्ध 'मार्क्स-ऐंगल्स-लेनिन का पक्षावलम्बी सिद्धान्त' भारतीय साहित्य-सम्बन्धी स्थापनाओं पर लागू नहीं होता। निष्कर्ष रूप में उनका कथन उन्हींके शब्दों में इस प्रकार है :

"मानव केवल भौतिक उफान की सनसनाहट-मात्र नहीं, वह इसके अतिरिक्त भी और कुछ है। हमारे साहित्य-मनीषियों और तत्त्वदर्शियों ने मानव को जो परमात्म-अंश के रूप में माना है वह कोई योंही उन्माद-प्रलाप-मात्र नहीं है..........अपने को, स्वयं को—अपने मानव को सुसंस्कृत करने का प्रयत्न ही भारतीय साहित्य का—हिन्दी-साहित्य का—ध्येय रहा है, और है.........संस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है राग-वशीकरण, संस्कृति है भाव-उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाय, वही सत् साहित्य है।"[2]

नवीन जी के विचारों से बहुत अंशों में सहमत होते भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, विशेषकर हिन्दी-साहित्य का ध्येय प्रारम्भ से आज तक सर्वथा एक ही रहा है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि पहले साहित्य का ध्येय मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना था और अब असंस्कृत बनाना हो गया है। वास्तविक सत्य यह है कि वर्तमान युग की नवीन प्रगति के साथ संस्कृत होने या बनाने की धारणा में ही मौलिक परिवर्तन उपस्थित हो गया है।

१. क्वासि—पृष्ठ १३, भूमिका।
२. वही—पृष्ठ २४-२५, भूमिका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञात की चिन्ता यदि ज्ञात की उपेक्षा बनकर आती है तो नवीन मानवीय चेतना से उसका मेल अब सम्भव नहीं रह गया है। इसी तरह व्यक्तिगत कल्याण-भावना सामाजिक अभ्युत्थान की कामना के समकक्ष कम प्रेरक और कम आकर्षक प्रतीत होने लगी है। प्राचीन सत्यान्वेषण-वृत्ति को नये तथ्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करके नवीन अर्थों में अपने को व्यक्त करना पड़ रहा है। जहाँ तक हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध है ध्येयगत, यह सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भारतेन्दु के पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य के मूल स्वरों की तुलना करने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है। आज 'क्वाखि' की टेर लगाने वाले और 'अतीन्द्रिय' प्रिय के विरह में तड़पने वाले व्यक्ति को उसकी 'सेन्द्रियता' से पृथक् करके नहीं वरन् दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण रूप में समझना होगा और उसका मूल्यांकन भी मानवता के नये विकास की पृष्ठभूमि में ही होगा—औपनिषदिक युग के आधार पर नहीं।

सृष्टि का अन्तिम सत्य क्या है इसको पूर्णतया निश्चित समझकर आग्रहपूर्वक किसी विशिष्ट विचार-धारा के पोषक साहित्य को ही श्रेष्ठ कह देना एक प्रकार की बौद्धिक जड़ता को जन्म देता है फिर यह दृष्टिकोण इस भ्रान्ति को भी उत्पन्न करता है कि साहित्य की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता उसके वस्तुपक्ष पर ही आधारित रहती है जब कि साहित्य के मूल्यांकन में कला अथवा अभिव्यक्ति-पक्ष की किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तु, अनुभूति और अभिव्यक्ति को विवेचन की दृष्टि से भले ही हम पृथक् कर लें परन्तु अपने मूल रूप में वे साहित्य-सर्जन की एक ही प्रक्रिया के अभिन्न अंग-मात्र हैं। अतएव वस्तुपक्ष को ही निर्णायक तत्त्व नहीं माना जा सकता। 'भनित भदेस वस्तु भलि वरनी' कहने वाले को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि 'जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।'

जो मन और इन्द्रियों से परे है—इन्द्रियातीत या अव्यक्त है—वह काव्य का विषय हो भी सकता है यह संदिग्ध है, क्योंकि उसकी अनुभूति होना ही असम्भव है। सम्भव है केवल जिज्ञासा भाव, जो किसी भाव-तत्त्व से संयुक्त हुए बिना किसी प्रकार काव्य का प्रेरक नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में मुझे छायावादी कवियों के रहस्यवाद का विवेचन करते हुए जो मत शुक्लजी ने व्यक्त किया वही यथार्थ प्रतीत होता है। उनके कुछ सुनिश्चित विचार द्रष्टव्य हैं :

"व्यक्त और अव्यक्त में कोई पारमार्थिक भेद नहीं। ये दोनों सापेक्ष और व्यावहारिक शब्द हैं और केवल मनुष्य के ज्ञान की परिमिति के द्योतक हैं। अज्ञात की 'जिज्ञासा' ही का कुछ अर्थ होता है उसकी 'लालसा' या प्रेम का नहीं।[1]

"वाद या सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभाव-सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरों के हृदय में इस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, हम सच्चे कवि का काम नहीं मानते; मतवादी का काम मानते हैं।"[2]

छायावादी-युग के काव्य को दृष्टि में रखते हुए रहस्यवादी काव्य में शुक्लजी ने दो बातों को सबसे अधिक विरक्तिजनक बताया है—एक तो भावों में सचाई का अभाव, दूसरे व्यंजना की कृत्रिमता यानी insincerity और artificiality (पृष्ठ १३३)। जहाँ तक नवीन जी का

१. **चिंतामणि—द्वितीय भाग, पृष्ठ ६२।**
२. **काव्य में रहस्यवाद।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध है उनकी ईमानदारी में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। उन्होंने जो भी विचार व्यक्त किये हैं वे अपने अन्दर निहित सचाई को पूरी तरह ध्वनित करते हैं। साहित्यकार के स्वाध्याय, कल्पना-शक्ति आदि, जो दस गुण अपनी भूमिका में उन्होंने बताये हैं उनमें अन्तिम गुण 'आर्जव—ईमानदारी' भी है, परन्तु ईमानदारी को स्वीकार करने के बाद भी समस्या ज्यों-की-त्यों शेष रह जाती है, क्योंकि रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति की चिन्तन-पद्धति एक विशेष प्रकार की होती है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपने Mysticism and Logic नामक निबन्ध में रहस्यवादियों की चिन्तन एवं विचार-पद्धति की मार्मिक विवेचना की है। उसका कथन है कि भावावेगजन्य प्रतीति की तीव्रता समाप्त हो जाने पर तर्कशील रहस्यवादी उन विश्वासों की पोषक बुद्धि संगत भूमिका खोजने लगता है, जो अपने अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं। लेकिन क्योंकि वे विश्वास पहले से ही प्रस्तुत रहते हैं इसलिए वह वैसी किसी भी बौद्धिक व्याख्या को सहज ही स्वीकार कर लेता है जो उनके द्वारा स्वतः उत्पन्न हो जाती है। जिन अन्तर्विरोधों को ऊपरी तौर पर वह बौद्धिक व्याख्या द्वारा सिद्ध समझ लेता है वे वस्तुतः उसकी रहस्यानुभूति के अन्तविरोध होते हैं और यदि उसकी तर्क-बुद्धि को उसकी आत्म-प्रत्यक्ष अनुभूति का साथ देना है तो उन अन्तर्विरोधों के बीच की खाई को पाटना ही उसके चिन्तन का चरम लक्ष्य बन जाता है। परिणामस्वरूप जो तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किये जाते हैं वे अधिकांश दार्शनिकों को विज्ञान द्वारा ज्ञात जगत् और प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन को समझने में अशक्त बना देते हैं।[१]

निस्सन्देह नवीन जी की कविता में ऐसे अन्तर्विरोध मिलते हैं जिनका निर्देश 'क्वासि' की कविताओं पर विचार करते समय आगे किया जायगा।

आध्यात्मिकता का समर्थन तथा वर्तमान जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों के पुनर्संस्थापन का आग्रह कोकिल जी ने भी व्यक्त किया है, किन्तु उनका दृष्टिकोण नवीन जी के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है और यह भिन्नता काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। जहाँ नवीन जी ने आधुनिक पदार्थवादी वैज्ञानिक सम्पन्नता और भौतिक प्रगति के विरोध में प्राचीन अध्यात्मवाद का स्वर उठाया है वहाँ कोकिल जी ने उस सम्पन्नता और प्रगति को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके नवीन आध्यात्मिक चेतना पर बल दिया है। मानव-संस्कृति के क्षेत्र में होने वाले जिस मूलभूत परिवर्तन को नवीन जी कदाचित् लक्षित नहीं कर सके उसे कोकिल जी ने स्पष्ट रूप से परिलक्षित कर लिया है और उसे मानव-विकास के इतिहास में एक नई घटना माना है। उनका कहना है कि—"विज्ञान **काल और दिशा का मापक ही नहीं एक नव्य भव्य रागात्मकता का जनक भी है। इतिहास में यह एक नई घटना है। प्रथम बार समाज में इतने बड़े पैमाने पर मानसिक और सांस्कृतिक परिवर्तन बिना किसी धार्मिक आन्दोलन के हुआ।**" रागवशीकरण को ही संस्कृति का स्वरूप मानने वाली विचार-पद्धति से भिन्न उन्होंने सांसारिक मनोरागों के बीच ही आध्यात्मिक अर्थों और स्थितियों की उपलब्धि के मार्ग की ओर संकेत किया तथा रागात्मकता के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की। वे लिखती हैं।

"आज की अभिनव रागात्मकता और नव-प्रसूत श्रद्धा में मेरा पूर्ण विश्वास है। बौद्धिकता के साथ रागात्मकता भी समान रूप से विकसित होती है·······विज्ञान के द्वारा एक सबसे बड़ा काम इस युग में जो हुआ है वह है सांसारिकता के साथ आध्यात्मिकता

१. Mysticism and Logic—Page 25.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का गठबन्धन। आध्यात्मिकता या तो इतनी ऊँची वस्तु थी जो सर्वसाधारण के परे थी, या वह कोरा कर्मकाण्ड मात्र रह गई थी। पर इस नये सम्मिलन से दोनों का स्तर बहुत ऊँचा उठा है। सांसारिकता आध्यात्मिकता के संसर्ग से ऊँची उठी और आध्यात्मिकता सांसारिकता के संसर्ग से व्यापक बनी।"[1]

नवीन जी ही क्या सत्य का यह रूप आध्यात्मिक साधना को प्राचीन अर्थ में ग्रहण करने वाले लोगों में से बहुत कम लोग परख पाए हैं। इसीलिए शायद हजारीप्रसाद जी को 'सुहागिन' के गीत पढ़कर ऐसा लगा जैसे वे कुछ नया सुन रहे हों। कोकिल जी की आध्यात्मिक वृत्ति प्राचीन ऋषियों द्वारा खोजे गए औपनिषदिक सत्यों से उतनी प्रेरणा नहीं पाती जितनी कि आस-पास के साधारण किन्तु चिरन्तन रूप में प्रवाहित जीवन से। साधारण जीवन और असाधारण आध्यात्मिक अनुभूतियों के बीच के सामंजस्य को उन्होंने पा लिया है, ऐसा कहना अनुचित होगा। उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है कि **"इस सामंजस्य का पूर्ण परिपाक अभी हमारी दृष्टि से ओझल है।"** उनकी 'सुहागिन' **'पंक-भरे जीवन पर तैरती हुई दिव्यता'** के दर्शन से सहज रूप में उत्पन्न होने वाला 'आश्चर्यवाक्'-मात्र है। उसको इच्छा-आकांक्षाओं से भरे लोक-जीवन और लौकिक भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति करने वाले लोकगीतों से पोषण मिलता रहा है। तर्क द्वारा उन्होंने अपनी अनुभूतियों के बीच के व्यवधान को भरने का प्रयास नहीं किया है वरन् उनकी सहज अनुभूति की पकड़ में सत्य का जितना अंश आ सका है उसको उन्होंने वैसे ही व्यक्त कर दिया है। कृत्रिमता की छाया उसमें प्रतीत नहीं होती।

'माता', 'क्वासि' और 'सुहागिन' में संग्रहीत कविताएँ समग्र रूप से सन् १९०४ से लेकर १९५२ तक के लम्बे समय के भावात्मक-विकास को व्यक्त करती हैं। लगभग आधी शताब्दी का इतिहास इनमें प्रतिबिम्बित है। 'माता' में १९०४ से '४९ तक की, 'क्वासि' में '३० से '५० तक की और 'सुहागिन' में '४० से '५२ तक की रचनाएँ मिलती हैं जिससे इन कवियों के कृतित्व का पूर्वापर क्रम स्वतः निर्धारित हो जाता है।

परिस्थितिवश संग्रह रूप में माखनलाल जी की रचनाएँ देर से प्रकाश में आईं। 'हिम-किरीटिनी' (१९४२) और 'हिमतरंगिनी' (१९४९) के बाद 'माता' (१९५१) उनका तीसरा काव्य-संग्रह है। इसकी अधिकांश कविताएँ '२० से '४० के बीच की हैं और यही छाया-वाद के आविर्भाव और अभ्युत्थान का समय है। राष्ट्रीय भाव-धारा और छायावादी भावना का विकास लगभग समान सामाजिक पृष्ठभूमि में विभिन्न दिशाओं में एक साथ ही हुआ। स्वदेश में देवत्व की भावना करके तथा उसके चरणों पर अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का उत्सर्ग करके तिलक और माधवराव सप्रे की क्रान्तिकारी देशभक्ति के आवेग में 'एक भारतीय आत्मा' ने बलि-पन्थ स्वीकार किया और वे निसर्गप्रिय आत्मनिष्ठ छायावादी कवियों से पृथक् हो गए। नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान को राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेते हुए काव्य रचने की प्रेरणा बहुत-कुछ माखनलाल जी से ही मिली। राष्ट्रीय जागरण के साथ प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन को नये रूप में ग्रहण करने की भावना उत्पन्न हुई और गांधी-रवीन्द्र के विचारों से प्रभावित होकर युग-चेतना ने आध्यात्मिकता को नये आग्रह से स्वीकार किया। आत्म-समर्पण की वृत्ति वैष्णव परि-वारों में संस्कार रूप में सुरक्षित थी और अब भी है। माखनलाल जी के काव्य में उक्त सभी तत्त्व

१. सुहागिन—आमुख, पृष्ठ २-३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विशिष्ट सामंजस्य के साथ उपलब्ध होते हैं। उनकी आस्तिक वैष्णवता की परिणति भारत-माता की 'हिमकिरीटनी' प्रतिमा के निर्माण में हुई, जिसे वे कभी कौशल्या कभी यशोदा कहते हैं। 'माता' नाम देकर सम्भवतः इसी भाव को व्यक्त किया गया है और राष्ट्र-पूजा का यह प्रतीक उनके सम्पूर्ण साहित्य में सर्वप्रमुख स्थान रखता है। यों 'मुझको कहते हैं माता' शीर्षक एक कविता भी इसमें संग्रहीत है जो न केवल इस संग्रह की वरन् माखनलाल जी की सभी रचनाओं में से चुनी हुई श्रेष्ठतम कृतियों में से एक कही जा सकती है। उनकी अधिकांश कविताएँ जेल जाने की तैयारी में या जेल में लिखी गईं। केवल निम्न लिखित एक पंक्ति उनके संघर्षशील जीवन में पलने वाली आस्तिक राष्ट्रीय भावना का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

'चरण समझते हुए सींखचों पर मैं शीश झुकाता हूँ।'

देश-प्रेम का अर्थ उन दिनों आत्म-बलिदान था, इसीलिए माखनलाल जी की कविताओं में 'बलि' और 'सूली' के प्रतीक स्नेह और पूजा-भावना के साथ संगुफित मिलते हैं। स्थान-स्थान पर वे 'प्रणय' और 'प्रलय' का साथ-साथ प्रयोग करते हैं। राष्ट्रीय संग्राम में उन्हें अपने स्नेह का ही नहीं अपने स्नेहपात्रों का भी बलिदान करना पड़ा। कदाचित् इसीलिए वे अन्य प्रणय-गीतों से अपने और अपने वर्ग के कवियों के प्रणय-गीतों की भिन्नता को परखने का प्रस्ताव करते हैं। उनका यह प्रस्ताव साहित्यिक मूल्यांकन के प्रश्न को उठाने का प्रस्ताव न होकर उस दर्द, उस व्यथा की अभिव्यक्ति-मात्र है जो राजनीतिक संघर्ष में उन्हें आजीवन झेलनी पड़ी और जिसने उन्हें अन्तर-बाह्य सभी रूपों में जर्जर कर दिया। उनकी आस्तिकतापूर्ण आध्यात्मिकता ने ही उनके भावगत और चिन्तनगत ओज को अब तक सुरक्षित रखा है। मूलतः जिस पथ पर उनकी कविता चली है वह सन्तों और भक्तों का उदारता और समर्पण से पूर्ण पथ है—देश-प्रेम-जन्य क्रान्तिमय प्रयत्नों ने उसे 'बलि पन्थ' बना दिया। 'माता' में संग्रहीत 'कविता कल्याणी' नामक रचना की कुछ पंक्तियाँ उनके काव्य-पथ के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होंगी :

कविते ! क्या जाना अपना पथ शत-शत खो-खोकर पाना है।
सम्मानों से बच जाना है, अपमानों को अपनाना है।
उन प्रणय-प्रलय के डोरों का ताना-बाना बुन लेना है।
प्राणों की रेखा, विधि-रेखा को अमर चुनौती देना है।
यह पथ कबीर के साहब का, इस पर मीरा थी दीवानी।
आओ, सूझों के रथ बैठी मानव की कविता कल्याणी।[1]

'कुंकुम', 'रश्मिरेखा' तथा 'क्वासि' आदि के रचयिता नवीन जी भी माखनलाल जी की परम्परा का संवहन करने वाले राष्ट्रीय-धारा के कवि हैं किन्तु 'एक भारतीय आत्मा'-जैसी अन्तरस्पर्शिनी पूजामिश्रित गहन राष्ट्रीय प्रेम-भावना के स्थान पर उनमें व्यक्तिगत प्रेमोन्माद की मात्रा कहीं अधिक है। प्रारम्भ में जो विद्रोहात्मक स्वर था वह क्रमशः इसी प्रेमोन्माद में पर्यवसित होता गया। 'कुंकुम' में रहस्यवादी शब्दावली में जो कला की परिभाषा उन्होंने प्रस्तुत की है वह इसका प्रमाण है। परिभाषा यों है : **'कला तो एक प्रकार के व्यक्तिगत उन्माद की भावनामूलक कल्पना सहगामिनी सत् चित् आनन्दमयी अभिव्यक्ति है।'** उनकी यह परिभाषा अन्यत्र चाहे चरितार्थ न होती हो पर 'क्वासि' की कविताओं पर तो पूर्णतया घटित होती है।

---

१. माता—पृष्ठ ११८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे उनकी काव्य-कला का स्वरूप भी व्यक्त होता है।

नवीन जी की यह 'व्यक्तिगत उन्माद की भावनामूलक कल्पना' कभी उनको सूफ़ियों की तरह, 'कूज़े' और शराब की ओर खींच ले जाती रही है, और कभी कबीर के 'गगनमंडल' की ओर। प्रिय के औरों की ओर उन्मुख हो उठने की सम्भावना समझकर कभी उपालम्भ देते हुए वे लिखते हैं :

मुसकाकर छोड़ चले मेरी मधु-शाला तुम ?
प्रिय ! अब क्या चक्खोगे औरों की हाला तुम ?[1]

और कभी सान्ध्य नभ में उनका 'मन-विहग' 'अनहद नाद' से स्वनित हो उठता है :

स्वनित उड्डीयन-ध्वनित गति जनित अनहद नाद से यह।
दिग्दिगन्ताकाश वक्षस्थल रहा है गूँज अहरह।
ऊर्ध्व गति ने ध्यानमग्ना गीत-यति को आन घेरा।
उड़ चला इस सान्ध्य नभ में मन-विहग तज निज बसेरा।[2]

'क्वासि' में सन्तों की प्राचीन रहस्यवादी शब्दावली का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है, जैसे स्वर-शर, निरंजन, सुरति-आह्वान, सुरति-क्षेत्र आदि। अव्यक्त सत्ता को 'सजन' या 'साजन' मानकर शृङ्गारिक रूपकों के आश्रय से भावाभिव्यक्ति भी उसी परम्परा की द्योतक है। जिसका अपने साजन से क्रय-विक्रय पूर्ण हो चुका है ऐसी अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए वे उससे 'हृदय की नीवी' खोलने और आत्म-रमण की तन्मयता में 'सचैल परिरम्भण-परिणय छोड़ने का अनुरोध करने लगते हैं।'[3] कवि का आग्रह है कि यह सब काल्पनिक राग-रंग उसकी उस 'क्वासि' से व्यक्त होने वाली जिज्ञासा के रूप में ही ग्रहण किया जाय—जिसके उत्तर में उसे 'नास्मि की अनुगूँज' सुनाई देती है। कवि 'स्नेह दीक्षा' ले चुका है, वह अब 'कच्चा खिलाड़ी' नहीं रहा। उसे विश्वास है कि उसका प्रिय 'नास्मि' कहकर उसके 'आस्तिक भाव की परीक्षा' लेना चाहता है, इसलिए वह प्रतीक्षा में तत्पर रहने का संकल्प करता है—रात्रि में प्रिय को अंकशायी बनाने की आशा से।[4] कवि के तर्क से इस सबकी व्याख्या भी आध्यात्मिक अर्थ में की जा सकती है, किन्तु निम्नलिखित पंक्तियों से कौनसा आध्यात्मिक अर्थ व्यक्त होता है—यह प्रश्न कवि से किया जा सकता है :

(१) एक चुम्बन ही हुआ यह शाप जीवन का भयंकर।
अधर सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयंकर।
(२) कब तक पहनूँ प्रिय तव कल्पित भुज-माल गले।
(३) नयनों के, अधरों के चुम्बन की चाह लिये।
(४) तुम्हें अग्नि-अर्पण करके भी फटी नहीं यह निष्ठुर छाती।
(५) क्यों न अव्यभिचार की चिर-रीति जीवन में निबाही।

क्या इनसे उष्णतापूर्ण लौकिक वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती ? इसी अन्तर्विरोध

१. क्वासि—पृष्ठ ३१।
२. वही—पृष्ठ १०१।
३. वही—'विदेह' शीर्षक कविता, पृष्ठ ८५।
४. वही—पृष्ठ ११८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर पूर्व विवेचना के अन्त में संकेत किया गया है। एक ओर तो वे 'अव्यभिचार की चिर रीति' के न निबाहने पर खेद प्रकट करते हैं अर्थात् राग-वशीकरण में असफल होकर दुख का अनुभव करते हैं और दूसरी ओर वे उसी चिर-प्रतिष्ठित आदर्श के विरुद्ध अपने प्रिय से सविकार एवं साकार बनने की प्रार्थना भी करते हैं :

आओ साकार बनो।

ओ मेरे निर्विकार अब तो सविकार बनो।

निर्विकार को सविकारत्व के साथ देखने की भावना कोकिल जी की कविताओं में मूल-स्वर की तरह मिलती है, पर प्राचीन आदर्शवादी दृष्टिकोण की पुनर्संस्थापना में प्रयत्नशील नवीन जी की कविताओं में यह ऐसा अपवाद लगता है जो गहरे अन्तर्विरोध को व्यक्त करता है। जब वे लिखते हैं कि '**अन्तहीन इस पथ में सान्त ने किया कमाल**' तो भावना के उदात्तीकरण होने के स्थान पर सौन्दर्य-बोध पर आघात लगता है। भाषा में ग्रामीणतायुक्त प्रयोग उनके गीतों की एक विशेषता कही जा सकती है। '**हमरे सजन सुजाना**' '**हमरे ये मेहमाना**' अथवा '**निरखो मम कठिनाई निरखो मम व्यथा नैंक, चले गये पल में तुम बिना दिये पता नैंक**'-जैसी शब्दावली उनकी कविताओं में स्वाभाविक क्रम से गुँथी मिलती है। '**तुम सतचित अवतार रे**' से प्रारम्भ होने वाली तो समूची कविता ग्रामीण बोली में लिखी गई है।

भाषा के प्रयोगों में ग्रामीणता कोकिल जी की कविताओं में भी उपलब्ध होती है परन्तु लोकगीतों-जैसी तरलता, जो उनके गीतों में विशेष रूप से पाई जाती है, के साथ वे प्रयोग इतने पृथक् प्रतीत नहीं होते कि सौन्दर्य-बोध को झकझोरकर रख दें। उदाहरणार्थ **बिसरानी, दुआर, लोटि परी, काची, निहुरते, पियाराई, गझिनझाल** आदि शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कोकिल जी तत्समता के प्रति ज़रा भी उन्मुख नहीं हैं जब कि नवीन जी में तत्समता की ओर भी काफ़ी झुकाव मिलता है। **निर्विण्ण, त्वन्निसृत, उड्डीयन आनद्ध, अरुषचिह्न** और **वीण-क्वाण**-जैसे परुष शब्दों का प्रयोग वे सहज ही पाठक को आश्चर्य-चकित करते हुए कर ले जाते हैं। यह प्रवृत्ति माखनलाल जी के काव्य में भी नहीं मिलती। यहाँ सवाल शब्दों के प्रयोग का नहीं, वरन् उनके सहज निर्वाह का है। इस दृष्टि से कोकिल जी हमारी बधाई की पात्री हैं।

भावना के क्षेत्र में 'सुहागिन' के गीत हिन्दी-कविता के विकास में एक निश्चित सीमाचिह्न के रूप में सामने आते हैं। मध्यकालीन वैष्णव-काव्य की तन्मयतापूर्ण आत्मसमर्पण की वृत्ति जितनी गहराई और द्रवणशीलता के साथ उनके गीतों में पुनः दिखाई देती है वह अनुपेक्षणीय एवं महत्त्वपूर्ण है। 'सुहागिन' से पूर्व उनकी दो काव्य-रचनाएँ 'अंकुरिता' (१९४१) और 'माँ' (१९४२) ही प्रकाश में आईं, जिनका काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। उनके 'सुहागिन' से पूर्व के मानसिक विकास को वे अवश्य कुछ दूर तक व्यक्त करती हैं। 'माता' का प्रतीक माखनलाल जी के काव्य के सर्वोत्तम भाव को व्यक्त करता है, किन्तु कोकिल जी के काव्य में वह प्रारम्भिक एवं विचारगत रूप में ही मिलता है। 'माँ' की भूमिका में उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को '**महा प्रजनन की एक प्रक्रिया**' माना है। उनकी सुहाग की भावना का विकास वस्तुतः उसी से होता है। ऐसा उन्होंने स्वीकार भी किया है :

माँ मैं अचल सुहाग भरी

माँ तुमने अपने सपनों को मुझमें सत्य किया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी सत्य से मैंने फिर सपनों को जन्म दिया था।
मेरे सपने महारात्रि से आज जग उठे मानो।
यह सपनों का ज्योति जागरण इसे ताप मत मानो।
वही छटा है जो सुहाग बनकर निखरी-निखरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।[1]

सुहाग की अचलता या अमरता की कल्पना कोकिल जी की सुहाग-भावना की एक विशेषता है। इसका आभास 'अंकुरिता' की 'पुलक' शीर्षक कविता की अन्तिम पंक्ति **'हो जाय अमर मेरा सुहाग'** में ही मिल जाता है, किन्तु 'सुहागिन' में यह परिपक्वावस्था में उपलब्ध होती है। पूर्वोद्धृत कविता की अवशिष्ट अन्तिम पंक्तियों में उसे सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त ज्योति का रूप दिया गया है। यथा :

सूर्य चाँद में अँट न सकी वह ज्योति कहाँ छिटकाऊँ।
सागर में न समा पाई वह धार कहाँ फैलाऊँ।
बिक न सकी जो निधि सम्पति पर कैसे सम्मुख लाऊँ।
वह विभूति माँ हृदय चीरकर कैसे तुझे दिखाऊँ।
आँखों से ओझल होकर बाहर-बाहर बिखरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।

'एक ही आधार मेरे एक ही आधार है' पंक्ति से प्रारम्भ होने वाली कविता में भी सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त एक ही ज्योति की बात दोहराई गई है। जीवन की विविध वेदनाओं की परिणति भी इसी सुहाग-भावना के साथ हो गई है, जैसा कि **'पुलक वेदनाओं ने ही अब मेरी माँग भरी'** से प्रकट होता है। खड़ी बोली हिन्दी-काव्य में वेदनाओं से अभिषिक्त अमर सुहाग की परिकल्पना कोई नई वस्तु नहीं है। महादेवी जी के काव्य में कोकिल जी से पूर्व ही इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। कोकिल जी के इस भावना से सम्बद्ध गीतों को पढ़कर 'सान्ध्य-गीत' की सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ **'मैं अखंड सुहागिनी री'** अथवा **'सखि! मैं हूं अमर सुहाग भरी, प्रिय के अनन्त अनुराग भरी'** स्मृति में सहसा झनकार जाती हैं। अतएव इस भावना की मौलिक उद्भावना का श्रेय कोकिल जी को नहीं दिया जा सकता किन्तु यह सत्य है कि इस सम्बन्ध में उनकी अनुभूति महादेवी जी की अपेक्षा कहीं अधिक तरल और व्यापक है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने रहस्यानुभूति की विवेचना करते हुए उसकी चार विशेषताएँ बताई हैं[2] जिनमें अमरता अथवा काल के नियमों के अतिक्रमण की भावना भी एक है। सुहाग के साथ अखण्डता या अचलता की कल्पना को इस तरह एक प्रकार की रहस्यानुभूति के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

'सुहागिन' के गीतों की निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी उस विचारधारा की परिपोषक हैं जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है!

१. 'सुहागिन', पृष्ठ ४७

२. (i) Revelation or insight or intuition.
(ii) Belief in unity, refusal to admit opposition.
(iii) Denial of the reality of time.
(iv) All evil is mere appearance, no indignation, no protest.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) ये मेरी पूजा के क्षण हैं।
तर्क विगत में अर्पण हैं।
नास्तिकता भी भक्ति हो गई,
बेबस मेरे आकर्षण हैं।
(२) आज वासना भक्ति हो गई।
क्या बतलाऊँ नश्वरता में अब मेरी आसक्ति हो गई।
(३) वह गंध मेरे मन बस गई रे।
नभ पर जिसकी डालें अटकीं,
थल पर जिसकी कलियाँ चटकीं,
मेरे जीवन के कर्दम में,
वह अनजाने फँस गई रे।

'सखि अब रस बरसे मैं भीजूँ' से प्रारम्भ होने वाली उनकी कविता उनके अन्ततम में निहित उस द्रवणशीलता तथा उस भावात्मक तारल्य को व्यक्त करती है जिसका निर्देश मैं कई बार कर चुका हूँ। उसमें प्रयुक्त 'नटवर' और 'वैरागी'-जैसे शब्द यह बताते हैं कि उन्होंने भी माखनलाल जी और नवीन जी की तरह मध्यकालीन प्रेम-भक्ति काव्य और उसके आदर्श से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है और इस क्षेत्र में उनसे विशेष भिन्न नहीं हैं, किन्तु उनकी 'जग लगता है बढ़ी-घटी-सी बस अपनी ही छाया' में व्यक्त अनुभूति उनकी स्वयं की उपलब्धि जान पड़ती है और इससे इनमें तथा अन्य पिछले रहस्यवादियों में कुछ अन्तर लगता है।[१]

डॉक्टर भगवतशरण उपाध्याय

माता भूमि

'माता भूमि' डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के निबन्धों का संग्रह है। निबन्धों की संख्या बड़ी है, ४२; वस्तुतः असाधारण बड़ी। इतने निबन्धों में, जाहिर है, सारा जग-जहान समेटा जा सकता है। इन निबन्धों में कितनी भाव-सम्पदा विद्वान् लेखक ने पाठक को दी है यह इन पृष्ठों का आलोच्य विषय है। पर उस ओर बढ़ने के पहले पुस्तक के रूप पर दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। पुस्तक का आवरण अत्यन्त बदसूरत है। आज के पुस्तक-प्रकाशन-क्षेत्र में बढ़ती हुई सुरुचि को देखते हुए लगता है कि इतनी असुन्दर छपाई और कुरुचि-प्रदर्शन के लिए प्रकाशकों को विशेष व्यवस्था करनी पड़ी होगी। वैसे 'चेतना प्रकाशन, लिमिटेड' द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में सुरुचि की कमी नहीं।

१. माता : लेखक—माखनलाल चतुर्वेदी; प्रकाशक—पंकज प्रकाशन, खण्डवा।
क्वासि : लेखक—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
सुहागिन : लेखिका—विद्यावती 'कोकिल'; प्रकाशक—ज्योति प्रकाशन, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध-सूची इस प्रकार है—माता-भूमि, मन्त्रों की मधुमती भूमिका में पृथिवी, भारतीय वनश्री का पुष्पहास, क्षीर गंगा, हिमालय और गंगा, हिन्दी की उदार वाणी, शब्दों का देश, तुलसीदास, सूरदास, भारतीय विचारों के मेघजल, ललित कला की परम्पराएँ, भारतीय कला का स्वर्ण-युग, जहाँ नाचते-गाते लोग, राष्ट्रीय उपवन कृष्णगिरी, मुगल चित्रकला, राजस्थानी चित्रशैली, हिमाचल चित्रकला, युगारम्भ, महते जानराज्याय, संविधान की परम्परा, राष्ट्रीय उन्नति का छैरियाचक्र, जन-जीवन के दो सूत्र, उपदेशेन वर्तामि, पाणिवाद, व्यास का मानवीय दृष्टिकोण, चरित्र का मानदण्ड, भारत का विश्व-मानस, प्रियदर्शी अशोक, अशोक का नया उत्थान धर्म, समवाय एव साधु, एशिया की आँख, एशिया और भारत, प्रज्ञावृक्ष, राष्ट्र का धर्म-शरीर, चमकीला सत्य, मैं स्वयं हवि हूँ, दावानल-आचमन, कर्तव्य कर्म की हुण्डी, गांधी पुण्य स्तम्भ, गांधी बुद्धि समवाय, चक्रध्वज, राष्ट्रीय महामुद्रा।

सूची की असाधारणता इस तालिका से सिद्ध है। इतनी भारी-भरकम नाम-शब्दरूप निबन्ध-काया कम-से-कम मेरे देखने में नहीं आई। कहना न होगा कि इस विशद ग्रन्थ-चक्र की परिधि में, इन लाखों शब्दों के परिमाण में कुछ भी ऐसा नहीं जो कहा नहीं जा सकता। इस अनन्त शब्द-सागर (लेखक की बार-बार दुहराई जाने वाली प्रिय शब्दावलि में ही—) के देवासुर मंथन से कितना अमृत, कितना विष, कितने रत्न निकलते हैं यह देखना यहाँ अपेक्षित है। पर उसकी बात फिर। अभी ग्रन्थ की भाषा।

आरम्भ में ही बिना किसी आडम्बर के साफ़-साफ़ कह देना उचित होगा कि भाषा अत्यन्त बर्बर है। यह न तो माँ भारती का मण्डन करती है, न विद्वान् के संचित यश का विस्तार। भाषा सार्थक वाक्यावलि है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भाव, विचार, आवश्यकताएँ प्रकट करता है। भाषा की सार्थकता उसके बोध में है—जिस मात्रा और अर्थ में वक्ता उसे बोले उसी मात्रा और अर्थ में उसका समझा जाना ही उसका लाभ है। दुरूहता और पेंच उसका गला घोंटने का प्रयास है। भाषा का सौन्दर्य, उसकी सफलता उसकी आशुग्राह्यता में है, उसके सहज प्रसाद में है। यों तो पुस्तक भाव को छिपा देने वाले वाक्यों—पैरों— पृष्ठों से भरी है, पर स्थानाभाव से कुछ उदाहरण बोझिल, अप्रयोग्य, असुन्दर भाषा के यहाँ दिये जा रहे हैं :

"लोक-समुद्र के मन्थन से मातृ-भूमि रूपी नये देवता का जन्म हो रहा है।"[1] (मन्थन, अमृत मथकर मक्खन निकालना आदि अनन्त-अनन्त प्रयोग इस ग्रन्थ में अद्भुत रूप से हुए हैं)

"जिस समय युग के देवता का जन्म होता है, राष्ट्रीय किलकारी हर्षित स्वरों से उसका गुण-गान करती है।"[2] ('किलकारी' 'हर्षित स्वरों' से भिन्न नहीं, वाक्य में 'टाटालोजी दोष' है। युग का देवता माताभूमि है!)

"मन के चारों ओर भरा हुआ जो अमृत समुद्र है उसी में सत्य, यज्ञ, त्याग, तप, अहिंसा, सर्वभूतहित, न्याय, धर्म, ज्ञान आदि सुन्दर दिव्य भावों के कमल तैर रहे हैं।"[3] ('मिक्स्ड मेटाफ़र' है जो हिन्दी में भी दोष है—'मन के चारों ओर भरा हुआ जो अमृत

१. पृष्ठ १।
२. पृष्ठ १।
३. पृष्ठ ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुद्र है', भाव-समुद्र कहने से कुछ अभिव्यक्ति हो सकती थी, अमृत समुद्र स्वयं एक अलंकार हो गया और उसका मन से सम्बन्ध किस साधन से होता है, पता नहीं। फिर समुद्र में कमलों का तैरना कैसा ? समुद्र में कमल होते हैं क्या ? हो सकते हैं ?)

"भारत राष्ट्र का लोक-संवादन-चक्र शताब्दियों के बिछे हुए पथ पर चलता ही रहा है। इसमें सन्देह नहीं।"[1]

"नारी, कृषक, अस्पृश्य, शोषित, इनकी प्रतिष्ठा का आश्चर्यजनक मंगल एक शताब्दी के चौथाई चरण में ही कैसे हो गया, इसका उत्तर मातृभूमि के हृदय में लगे हुए पूर्व-नूतन के गठबन्धन से मिलता है"[2] (इसका भाव-तथ्य जाने दीजिए और पच्चीस वर्षों के लिए 'एक शताब्दी के चौथाई चरण' का प्रयोग अर्थ को चाहे जितना अस्पष्ट कर देता हो, उसे भी छोड़िए, और सोचिए 'हृदय में लगे हुए···गठबन्धन' की बात। हृदय में गठबन्धन शायद हो सके पर यह 'लगा हुआ' क्या बला है ?)

निबन्ध विश्लेषण-चिन्तन-सोद्देश्य सुझाव की भूमि है, पर उस विचार से तो सस्ते भावोन्माद, सामान्य को मन्त्र—उधार लिये शब्द-जाल—के बल से असामान्य प्रदर्शित करना, फ़िलिस्टिनिज़्म के अनुपम उदाहरण इस ग्रन्थ के सर्वस्व हैं। लैम्ब, स्टिवेन्सन, अल्फ़ा आफ़ दि प्लाउ, (गार्डनर) आदि की पंक्ति में बैठने का प्रयत्न करने वाले इस प्रशस्तिमना लेखक के पास अपने विचारों की पूँजी विशेष नहीं है। इसीसे माता-भूमि, पृथ्वी-पुत्र, अमृत-घट, समुद्र-मन्थन पृष्ठ-पृष्ठ पर लौट पड़ते हैं। वही-वही मन्त्र उन्हीं-उन्हीं प्रतीकों को सभी प्रसंगों में ला उतारते हैं। कई बार तो विचारों की इस दरिद्रता पर बड़ा क्रोध आ जाता है। दुहराना ग्रन्थ की प्रधान निष्ठा है, शब्द शब्द, वाक्य-वाक्य, पृष्ठ-पृष्ठ, अध्याय-अध्याय, भाव-भाव दर्जनों बार दुहराये गए हैं। तीन-तीन, चार-चार लेख समान सामग्री के साथ पुस्तक के पृष्ठों में उतर पड़े हैं। कारण कि एक ही लेख अनेक बार अनेक पत्र पत्रिकाओं में कुछ हेर-फेर के साथ छप चुका है। पैरे-के-पैरे, पेज-के-पेज बगैर बताये पृथिवी सूक्तादि के अध्यायों में—पहले एक में, फिर दूसरों में—समाहित कर दिये गए हैं। प्राचीन की पूजा इस प्रकार कोई नहीं करता। प्राचीन सभी को प्रिय है, संस्कृति के प्रसार-विकास की वह रीढ़ है, आधार-शिला, उसके प्रति कृतज्ञ ही नहीं जागरूक भी होना है पर आँख खोलकर, बुद्धि-भेद से।

कला-सम्बन्धी पाँच-छः लेखों की भाषा शब्द-जाल वाले दूसरे निबन्धों से सर्वथा भिन्न है। वह इस कारण कि उसमें सामग्री है, सार्थक सामग्री। और उनमें जो वैयक्तिक शैली का अभाव है उसका कारण यह है कि उनकी वह सामग्री अधिकतर दूसरों की प्रकाशित सामग्री है। बताना नहीं होगा कि 'शबीह एकचश्मी,' 'शबीह डेढ़चश्मी' आदि किसके पारिभाषिक शब्द हैं। ऐसे ही 'अपभ्रंश-चित्र' का नामकरण भी।

'भूमिका' ही में लेखक कहता है कि "जिस व्यक्ति में नया कर्म नहीं, नया विचार नहीं, वह इस युग के लिए व्यर्थ है और युग उसके लिए व्यर्थ है।"[3] इस तर्क पर इस पुस्तक की सार्थकता किसी मात्रा में नहीं; यह इसे क्षणमात्र कहीं खोलकर कहा जा सकता है।

---

१. पृष्ठ ७।
२. पृष्ठ ८।
३. पृष्ठ ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखते हैं : "लोभ-विजय की प्रेरणा से भारत के वणिक्पोत समुद्र पार नहीं गये और न असुर-विजय के लिए यहाँ के सैनिकों ने दूसरों की भूमि को पैरों तले रौंदा।" कितना असत्य है यह, विशेषतः जब कि वक्तव्य इतिहास के जानकार का है ! विजय भौगोलिक प्रक्रिया है या राजनीतिक ? यदि भारत की भौगोलिक चौहद्दी से लोग बाहर नहीं गये तो अनेक यूरोपीय विजेता भी तो यूरोप के भीतर के राज्यों को ही लूट-खसोटकर उस तिरस्कार के भागी बने जिसके विपरीत लेखक अपने देश के विजेताओं को सराहता है ? पर प्रश्न तो यह है कि 'समरशतविततविजयी' कहलाने वाले राजाओं ने जब अपने अर्थ-शास्त्रीय 'मण्डलनाभि' वाले पड़ोसी 'प्रकृत्यमित्रों' को उखाड़ 'उत्खाय तरसा' की प्रशस्ति गवाई तब उनमें और असुरविजयी राजाओं में भेद क्या रहा ! जहाँ 'श्रियं जहार' है, सावरेंटी ले ली गई वहाँ 'न तु मेदिनीम्' का कोई अर्थ नहीं होता। भारत की अनेकानेक प्रशस्तियों, विजय-स्तम्भों, कीर्ति-पदकों के रहते यह वक्तव्य कितना मिथ्या हो जाता है ! जहाँ अश्वमेध, दिग्विजय, चक्रवर्ती, विश्वजित् आदि की स्थितियाँ रही हैं, जहाँ सिंहासन-मात्र पर बैठ जाना 'अनधिगतस्य अधिगताय' की अनिवार्य सत्ता में समा जाना रहा है, जहाँ की प्रशस्तियों में :

'युधिपतितगजेन्द्रानीकवीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः'

की गर्वोक्ति है वहाँ अपने को धर्मविजयी कहना सत्य का अपमान करना है। और 'लोभ की प्रेरणा से वणिक्पोत समुद्र पार नहीं गये' कहना उत्तर की कहाँ तक अपेक्षा रखता है यह इतिहास और अर्थशास्त्र का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है। अपने साहित्य में सर्वत्र और हजार हजार इसके प्रमाण हैं जिनकी खोज की आवश्यकता नहीं और जिनके तिजारती हथकण्डों का भोग रोमनों की सिनेट भोगती थी जहाँ सिसेरो दहाड़ता था, इतिहासकार प्लिनी नागरिकों को घर लूट ले जाने वाले भारतीय वणिकों से सावधान करता था, कानून बनवाता था। उन्हीं वणिकों से सावधान करता था जिनके ऋण का जवाब दासत्व था, गुलामी।

"भूतकाल के साथ गाँठ बाँधकर बैठे रहने की प्रवृत्ति हमारे राष्ट्र की आत्मा के विरुद्ध है।"[1] यह वक्तव्य कितना सही है इसका पता तो इस ग्रन्थ से ही लग जाता है जो एक पैरा बगैर भूत के आवाहन के नहीं कह सकता। क्षीर-सागर वाले लेख में तो अकर्मण्यता और फ़िलिस्टिनिज़्म की हद हो गई है, उन्माद जैसे बरस पड़ा है। उसके उद्धरण नहीं दिये जा सकते, वह पढ़ने की ही चीज़ है। दूध की महिमा का गान है, दूध नहीं मिल रहा है इस पर क्षोभ है पर न कोई सुझाव है, न विचार-सरणि है। फिर वह सहसा पुकार उठता है—'किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति' और स्थिति दूध की रक्षा के बदले वेदों की रक्षा—'भूत से गठबन्धन'—की आ जाती है।

इसी प्रकार पृष्ठ ६७—६६ में वर्ण-व्यवस्था पर एक नितान्त तर्कहीन प्रवचन है। भला वर्ण-व्यवस्था आज किन उसूलों पर श्लाघ्य हो सकती है ? किसी मानवीय तर्क्य आधार पर उसका पृष्ठपोषण नहीं हो सकता। लेखक कहता है—'कुछ लोग जाति-पाँति को भारत की समाज-व्यवस्था समझते हैं।' इससे भला किसे इन्कार हो सकता है कि भारतीय व्यवस्था की

---

१. पृष्ठ ७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार-शिला, व्यवहार-सर्वस्व वर्णाश्रम धर्म है, जिसमें आश्रम तो आज सदियों-सहस्राब्दियों से हमारे अध्ययन के विषय हैं (विद्वानों को सन्देह है कि क्या वे कभी भी व्यवहृत हुए), केवल वर्ण-वर्ण को हमने जाना है। कर्म और श्रम के आधार पर वर्ण को पूजना जब हमारे सारे अतीत ने, सारी स्मृतियों ने, उसे जन्मपरक माना है, उसी के आधार पर 'दाय' का विधान किया है, कहाँ तक उचित है ? और उदारता की बात तो यह है कि लेखक स्वयं अपनी उसी अछूत-भाव-पद्धति का प्रदर्शन करता हुआ पृष्ठ ७२ और ७३ पर सेमेटिक परिवार की भाषाओं और अरबी को '**म्लेच्छ भाषा**', '**म्लेच्छ वंश**' कहता है जो और कुछ नहीं उस प्राचीन लोक की व्यवस्था है जिसमें आर्येतर भाषाएँ (कारण कि उन्हें बोलने वाले विधर्मी—विदेशी थे) म्लेच्छ मानी जाती थीं। यह उदार दृष्टिकोण का स्वरूप है ! एक स्थल पर उल्लेख हुआ है : "**लगभग १००० ई० से १२०० तक मुसलमानों का पहला समागम हुआ।**"[1] यह कोई और कहता तो झल्लाहट की बात न थी पर लेखक इतिहास का पण्डित माना जाता है। १०००–१२०० ई० तक, शायद उसे याद नहीं, सिन्ध पर परमारों-प्रतिहारों-चालुक्यों (राजा भोज आदि के समकालीन) के बीच मुसलमान साढ़े तीन-पौने चार सौ वर्ष राज कर चुके थे। और पहला समागम ! अरबों की बस्तियाँ उससे हजार वर्ष पहले से भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर थीं, इस्लाम के उदय के बाद भी सदियों, और उन्हीं के झगड़ों का अन्त बदले के रूप में हेज्जाज के भतीजे बिनक़ासिम के सिन्ध पर ७१२ ई० के हमले में हुआ।

इसके बाद तुलसीदास, सूरदास, विविध कलाओं पर ऐसे लेख हैं जो स्कूल के निबन्ध-से लगते हैं, नितान्त घटिया क़िस्म के। तुलसीदास, सूरदास आदि पर आज अत्यन्त समृद्ध अध्ययन पुस्तक और निबन्ध दोनों रूप में हिन्दी में उपलब्ध हैं ? ये निबन्ध तो उस दिशा में नगण्य-से हैं। और कला-सम्बन्धी लेख ? चर्वित-चर्वण। हजारों पृष्ठ, सोचे-समझे विचारों के, हिन्दी-अंग्रेजी में इस सम्बन्ध में आज उपलब्ध हैं। 'कटेगरी' और निबन्ध की विचार-सरणि में गुणतः अन्तर है, यह लेखक को कौन बताये ? पृष्ठ १०६ पर पुरानी परम्परा से ही फिर सीखने की बात वह कहता है जब सारा संसार कला के नये-नये प्रयोग कर रहा है, जब स्वयं भारतीय कलाकार (रामकिंकर, हुसेन, धारा, बेन्द्रे, यावड़ा, हेबर, धनराज, आदि) उसी दिशा में लंबे डग भर रहे हैं। जैसे जब कवि नई कविताओं का आलोक लिये खड़ा हो कोई उससे उसकी पुरानी चर्वित कविताओं को ही सुनाने का आग्रह करे ! पृष्ठ ११० पर लेखक गुप्तकाल की बुद्धिमूर्ति को 'मौलिक' कहता है, भगवान् ही उसका मर्म समझे।

अगले लेख 'पाणिवाद' में तो जैसे उधार लिये हुए माडर्निज़्म के ज़रिये उन्नीसवीं सदी का प्रयास किया गया है। श्रम की महिमा गाई गई है। और यह श्रमवाद फ्रेंच फ़िज़ियोक्रेट्स की अति तक जा पहुँचा है : "**मनुष्य-समाज की अँधेरी कोठरियाँ श्रम के प्रकाश से भर जायँगी। मानवों के मुरझाये हुए अङ्ग-अङ्ग की गरमी पाकर कर्म के लिए पुनः खुल जायँगे।**"[2] '**महते जानराज्याय**' उन्मादग्रसित लेख है। 'संविधान' में बेकार कोई संविधान सम्बन्धी विचार ढूँढेगा, उसमें चर्वित-चर्वण है। दूसरों का (अस्वीकृत), और हिन्दू 'पालिटी' का विस्फोट। और 'भारत का विश्वमानस' मन्त्र और व्याख्या है।

---

१. पृष्ठ ६४।

२. पृष्ठ ११६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक पढ़ता-पढ़ता, गुनता-गुनता, लिखता-लिखता सीखता है, बढ़ता है; पर जिसने इस विद्वान् लेखक के लेख आज से बीस बरस पहले पढ़े हों वह इस पुस्तक को पढ़कर निराश होगा। ग्रन्थकार जीवन के इन बीस वर्षों के बीच बढ़ा नहीं, विकसित नहीं हुआ, ऐसा जान पड़ता है।[1]

वासुदेव उपाध्याय

सार्थवाह

यद्यपि सार्थवाह शब्द से पाठक-वर्ग को पुस्तक में प्रतिपादित विषय का आभास नहीं मिलता, किन्तु यह नाम अत्यन्त सार्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द का अर्थ उस अगुआ से है, जो पूँजी द्वारा व्यापार करने वाले पान्थों में जाया करता था। सार्थ का अभिप्राय पूँजी वाले व्यापारी-समूह से है। अतः सार्थवाह का नामकरण करके डॉ० मोतीचन्द्र ने पुस्तक में प्राचीन भारतीय व्यापारी, उनकी यात्राएँ, क्रय-विक्रय की वस्तुएँ, व्यापार के नियम तथा पथ-पद्धति का वर्णन किया है।

पहले अध्याय में भारत की प्राचीन पथ-पद्धति के अन्तर्गत दक्षिण भारत तथा उत्तरापथ के व्यापारिक मार्गों का पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है, जिनमें प्राचीन पथ-पद्धतियों का भी उल्लेख है। इनका सुन्दर वर्णन किया गया है। प्राचीन मार्गों के वर्णन के साथ मुग़लकालीन महापथों का भी उल्लेख पाया जाता है जो इस पुस्तक के विषयान्तर्गत रखना उचित नहीं प्रतीत होता।

दूसरे अध्याय में मोहेन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्रियों के आधार पर लेखक ने मार्ग तथा व्यापार के विभिन्न साधनों का वर्णन किया है। उस सम्बन्ध में बैलगाड़ी का उल्लेख करना आवश्यक है, जिसका स्वरूप चार हजार वर्षों के बाद भी वैसा ही मिलता है। मिट्टी के जितने खिलौने खुदाई से निकले हैं उनमें बैलगाड़ी की बनावट एक-सी मिलती है। लेखक ने आर्यों के भारत में प्रवेश-मार्ग का जो विवरण उपस्थित किया है, वह सर्वथा विवादरहित नहीं है। तीसरे अध्याय के पाँच उपविभाग किये गए हैं। पहला सर्वथा राजनीतिक है, जिसमें सोलह गणों तथा राज्यों का वर्णन है। अन्य उपविभागों में सेना के साथ सड़क बनाने वालों का वर्णन, जातकों के आधार पर यात्रा की कठिनाइयाँ और अन्तर्देशीय व्यापार तथा समुद्री बन्दरगाहों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। उसी प्रसंग में बौद्ध-साहित्य में वर्णित समुद्र-यात्रा से हमें ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के भारतीय व्यापार का ज्ञान हो जाता है।

चौथे अध्याय में यूनानी लेखकों तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्य-युग के व्यापार तथा तत्सम्बन्धी नियमों का वर्णन लेखक ने किया है। इसके बाद ही ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी तक भारत में शासन करने वाले यूनानी, शक तथा पह्लव राजाओं की यात्रा का

१. लेखक—डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक—चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन किया गया है। तत्कालीन विदेशी यात्रियों—पेरिप्लस तथा टालेमी ने भी भारतीय बन्दरगाहों तथा उनके व्यापार का वर्णन किया है। छठे अध्याय में विस्तारपूर्वक रोमन साम्राज्य से भारतीय व्यापार का लेखा मिलता है, जिन बन्दरगाहों पर विदेशी माल उतारा करते थे। विशेषकर पूर्वी समुद्र-तट पर रोमन लोग यात्रा किया करते थे। सातवें अध्याय में संस्कृत तथा बौद्ध-साहित्य के आधार पर महापन्थों तथा यात्रियों का विवरण लेखक ने दिया है और उस साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप देश की पथ-पद्धति और जल तथा थल के अनुभवों की बात अच्छे ढंग से रखी है। आठवाँ अध्याय तमिल साहित्य तथा मणिमेखलै में शादुवन् की कहानी के आधार पर लिखा गया है जिसमें दक्षिण भारत के यात्रियों का वर्णन पाया जाता है। लेखक ने छठे अध्याय में भी भारत से रोमन-व्यापार का विवरण दिया है, जिसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से ही था। अच्छा होता दोनों अध्यायों का वर्णन एक स्थान पर ही किया जाता ताकि दक्षिण भारत का सम्बद्ध वर्णन एक साथ पाठकों के सामने आता। नवें अध्याय में डॉ० मोतीचन्द्र ने जैन-साहित्य का मंथन करके यात्री और सार्थवाह के विषय में प्रचुर सामग्री दी है। साधु तथा व्यापारियों की यात्रा के अतिरिक्त ज्ञाताधर्म की दो कहानियों के आधार पर जहाजरानी का सुन्दर विवरण सामने रखा है। भारतीय इतिहास में गुप्त काल 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारा जाता है। इस युग में राजाओं की विजय-यात्राओं के मार्ग का लेखा तत्कालीन प्रशस्तियों के अध्ययन से मिलता है। समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण विजय-यात्रा में किस मार्ग का अवलम्बन किया था, और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किस पथ-पद्धति से मालवा में विजय-दुन्दुभी बजाई थी, इन सबका विवरण अगले अध्याय में भी मोतीचन्द्र ने किया है। इसी काल में उपनिवेश स्थापित किये गए, जिसका श्रेय हमारे प्राचीन व्यापारियों को है। फाहियान के यात्रा-विवरण से यह जानकारी होती है कि चीन से भारत की सड़कें मध्य एशिया होकर गुजरती थीं। वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य मार्ग हो गया था।

भारतीय इतिहास में सातवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक का काल अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के भारतीय समाज में सर्वत्र उथल-पुथल दिखलाई पड़ती है। मुसलमानों के आक्रमण के कारण जहाजरानी का कार्य वृद्धि पर था। भारत से दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा चीन का सम्बन्ध बढ़ता ही गया। मुसलमानों के आक्रमण से इस युग में भारतीय पण्डितों ने नेपाल, तिब्बत तथा चीन में जाकर धर्म तथा साहित्य का प्रचार किया। उस सम्बन्ध में पूर्वी बन्दरगाह ताम्रलिप्ती का विशेष हाथ रहा। डॉ० मोतीचन्द्र ने अरब साहित्य तथा चीनी इतिहास की छान-बीन करके इस पूर्व-मध्य-युग का सुन्दर वर्णन किया है। यद्यपि अरब ऐतिहासिकों के विवरण तथा 'युक्ति कल्पतरु' पर लेखक ने अपना वर्णन आधारित किया है, किन्तु तत्कालीन प्रशस्तियों का अध्ययन भी आवश्यक था। भारतीय लेख हमारे इतिहास के भाण्डार हैं। पूर्व-मध्यकाल (७वीं से ११वीं सदी) का इतिहास लेखों के अध्ययन के बिना पूरा नहीं माना जा सकता। बारहवें अध्याय में विभिन्न समुद्री भागों में भारतीय बेड़े का वर्णन है जो पूर्वलिखित दक्षिण के चोल राजाओं के जावा विजय तथा शैलेन्द्र शासकों से युद्ध पर आधारित है। इसमें विशेषतया धनपाल-कृत 'तिलक मञ्जरी' के आधार पर सामुद्रिक यात्रा का वर्णन किया गया है। लेखक ने ठीक ही लिखा है कि धनपाल के द्वीपान्तर यात्रा-सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता। किन्तु उसका वर्णन अत्यन्त सजीव है और आँखों-देखी बात ज्ञात होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम अध्याय में लेखक ने कला में जहाज-सम्बन्धी चित्रों का वर्णन किया है, जो लगे हुए फलक पर चित्रित या खचित हैं। इन सजे फलकों से पुस्तक की सुन्दरता बढ़ गई है तथा दो मानचित्रों द्वारा सारे मार्ग तथा पथ-पद्धतियों का ज्ञान हो जाता है। हिन्दी क्या अंग्रेजी में भी इस ढंग की कोई पुस्तक नहीं थी। इसके लिए लेखक बधाई का पात्र है।[1]

गंगाप्रसाद पाण्डेय

जिप्सी

'जिप्सी' श्री इलाचन्द्र जोशी का नवीनतम उपन्यास है, यों लेखक के रचना-क्रम का सातवाँ। जोशी जी की यह कृति उन उपन्यासों में से है, जिन्हें वास्तव में नवीन युग की जागरूक चेतना का प्रतीक कहा जायगा। जब हम युग-चेतना, युग-कला अथवा युग-चिन्तना की बात करते हैं तब हमारा आशय अनिवार्यतः किसी एक देश अथवा दल, एवं समाज या व्यक्ति से नहीं होता। वरन् हम विश्व-व्याप्त जीवन के नाना विरोधी क्षेत्रों के विकासोन्मुख समन्वय से ही युग-संज्ञा को पूरा करते हैं। आज अणुबम की खोज और उसकी विनाशकारी लीला से मानवता त्राहि-त्राहि कर उठी है। सारे संसार में भौतिकता का एक ऐसा आतंक छा गया है कि इधर बीसवीं शती में प्रत्येक व्यक्ति में केवल भय का भाव ही प्रमुख है। हर्ष की बात यह है कि बीसवीं शती के अधिकतर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भाँति चेतन के नाम पर मनोराज्य की एकान्त तथा आबद्ध कारा में कराहती हुई नैतिक पतन की विवशतामयी पीड़ा के प्रदर्शन से यह उपन्यास मुक्त है। उपन्यास की पूरी गतिविधि से अवगत होने के बाद उसे हम 'A story of spiritual progress' ही कह सकते हैं।

उत्तेजना और स्थिर-चेतना जीवन की जुड़वाँ सन्तान हैं। इनका विरोध जीवन का सन्तुलन नष्ट करने वाला और सहयोग उसे सुव्यवस्थित करने वाला होता है। उपन्यास का रंजन उत्तेजना और मनिया स्थिर-चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। उत्तेजना का सबसे बड़ा प्रेरक 'धन' है, शक्ति है और स्थिर-चेतना का आधार 'श्रम' है। रंजन धनी और मनिया श्रमिक है। इस दृष्टि से उपन्यास को सम्पत्ति और श्रम के संघर्ष का महाकाव्य भी कह सकते हैं। कहना न होगा कि भौतिक विज्ञान की प्रगति का आधार भी 'सम्पत्ति' या 'पूँजी' है, किन्तु रंजन के साथ मनिया की भाँति उसमें श्रमिकों का श्रम भी सम्बन्धित है। सच तो यह है कि विज्ञान, राजनीति तथा कला जीवन की व्यापक भाषा की विभिन्न बोलियाँ-मात्र हैं। अलग-अलग सब जीवन को अपूर्णता की ओर ढकेलते हैं और सब मिलकर पूर्णता की ओर चलते हैं।

जोशी जी ने इसी पूर्णता पर बल देकर एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग करने तथा जीवन की विभिन्न स्थितियों और क्षेत्रों के समन्वयात्मक स्वरूप को पहचानने का आग्रह-अनुरोध किया है। तो क्या उपन्यास में सर्वोदय का साधन उपस्थित किया गया है? (स्मरण रहे कि यह सर्वोदय गांधीवाद से संयोजित न होकर भगवान् कृष्ण के अधिकारवाद के अधिक निकट पड़ेगा।)

1. लेखक डॉक्टर मोतीचन्द्र, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास का कथानक कुछ इस प्रकार है—'जिप्सी' एक जिप्सी लड़की की रोचक तथा विकासशील कथा है, जिसका नाम मनिया है।

जन्म से ही मनिया जीवन के मानसिक उद्वेगों तथा क्षोभों की एक ऐसी गठरी लादे है जो असाधारण ही कही जायगी। रंजन से वह मसूरी में एक छोटी दुकान की दुकानदार की हैसियत में मिलती है। पहले ही दिन रंजन ने एक चाकू खरीदा और मनिया ने बेचा। दूसरे दिन से प्रायः रोज ही रंजन उसकी दुकान पर आने-जाने लगा और छोटी-मोटी बेकाम की चीजें खरीदने लगा। यहाँ तक कि एक दिन उसने सारी दुकान खरीद ली। मनिया को भी खरीद लिया।

इस विचित्र आकर्षण का एक कारण है। मनिया को देखकर रंजन को उसी दुकान पर बैठने वाली उसीकी तरह एक अद्भुत तथा अद्वितीय सुन्दरी स्त्री की याद आती है, जो उसीकी तरह उस दुकान पर बैठती थी। दोनों की विषमता में भी इतना अधिक साम्य था कि वह सुन्दरी किसी-न-किसी प्रकार मनिया से सम्बन्धित जान पड़ती थी। वस्तुतः मनिया के प्रति रंजन का यह आकर्षण, उस सुन्दरी की याद का, पूर्व-स्मृति का परिणाम था।

मनिया के पहले उसकी माँ उस दुकान पर बैठा करती थी। अपने पति की विलासिता और अकर्मण्यता से खीझकर उसने एक दिन उसकी हत्या कर डाली और मनिया को निराश्रित छोड़कर स्वयं आत्महत्या कर ली। शिशुकालीन उस घटना का प्रभाव मनिया के मन में अमिट रूप से अंकित है। इस समय मनिया अपने कर्मठ जीवन की स्वतन्त्र सत्ता—दुकान—को बेचकर एक अनाथ गुलाम की तरह रंजन की शरण में है। अपनी स्थिति के प्रति रंजन को उत्तरदायी समझकर मनिया बीच-बीच में ऐसे व्यंग्यों का उस पर प्रहार करती है कि वह तिलमिला उठता है। उसकी सम्पत्तिशीलता का ऐसा खाका खींचती है कि उसका अधिकारी अपने को शैतान से कम नहीं पाता। फिर भी मनिया अपनी उस विपन्नता की विवशता में उससे ब्याह करने को राजी हो जाती है, किन्तु भीतरी आक्रोश तथा आत्माभिमान के कारण वह विवाह की एक शर्त यह रखती है कि रंजन ईसाई धर्म स्वीकार कर ले। विवाह करने की विलासिता के साथ धर्म-परिवर्तन में रंजन को एक प्रकार के असमंजस का अनुभव हुआ परन्तु अन्त में उसने अपने मूल-धर्म को पुराने कपड़े की भाँति दूर फेंककर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

मनिया के ईसाई धर्म के आग्रह का आधार भी है। मनिया जब सर्वस्व बेचकर रंजन के यहाँ आने-जाने तथा रहने लगी तब रंजन के पड़ोस की एक ईसाई लड़की से उसकी ऐसी घनिष्ठता हो गई कि वह शीघ्र ही ईसाई धर्म तथा ईसा और मेरी के प्रति अनन्य श्रद्धावान् एवं विश्वासी बन बैठी। सभी पापियों के प्रति क्षमा, जीव-मात्र के प्रति दया, सहानुभूति आदि ईसाई धर्म की विशेषताओं ने मनिया के मन में एक ऐसी आस्था जगा दी, जो उसके शैशव में घटी माँ-बाप की दुर्घटना के सँभालने का साधन बनकर उसके मन में जम गई। मनिया स्वयं उससे अपने को अलग कर सकने में असमर्थ थी। ईसा और मेरी के रूप में जैसे उसे अपने माँ-बाप पुनः मिल गए। पत्नी होकर भी वह रंजन के लिए ईसा तथा मेरी को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी।

मनिया के इस दृढ़ विश्वास तथा दृढ़ संकल्प का मुकाबला डरपोक एवं विलासी रंजन किसी प्रकार भी नहीं कर सका। यद्यपि इसके पहले वह मनिया को हिप्नोटाइज भी कर लेता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। रंजन जैसे व्यक्तियों के विश्वास तथा सिद्धान्त उसकी बाह्य स्थितियों के साथ निम्नगामी जल-पात की तरह प्रभावित होते चलते हैं। कथानक-भर में मनिया अपने आन्तरिक आग्रहों का चाबुक चलाती जाती है और रंजन तिनगता हुआ आगे बढ़ता जाता है। दूसरी ओर मनिया आश्रम की नहीं तो श्रम की पली हुई बालिका, जीवन की विविध विरोधी परिस्थितियों में भी निरन्तर विकास करती चली जाती है। सहज रूप से जीवन की शक्ति तथा उसके विकास की सर्वतोमुखी सम्भावनाएँ श्रमिक वर्ग में अधिक होती हैं। पता नहीं, जोशी जी द्वारा चित्रित रंजन तथा मनिया के जीवन-व्यापी अन्तरीण तथा बाह्य संघर्ष को पूँजीवादी-प्रोलेतेरियत संघर्ष का स्वरूप देना भी चाहिए या नहीं, परन्तु यह संघर्ष सुविधा-प्राप्त तथा सुविधा-हीनों के बीच का है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। दुनिया के दो शिविरों का यह संघर्ष आज की सबसे ज्वलन्त समस्या है।

मनिया शीघ्र ही मातृत्व-पद लाभ करने वाली थी। उसके तन-मन में एक ऐसा निर्मल निखार झलकने लगा था जो अप्रत्याशित किन्तु उसके जीवन के मूल-संस्कारों के अनुकूल था। रंजन अपने स्वभाव के कारण उसके संस्कृत स्वरूप का भी लाभ न उठा सका। मनिया से उसकी और अधिक खटकने लगी। रंजन-जैसे विलासी व्यक्ति पत्नी को यों भी माँ बनने की अनुमति, अज्ञात रूप से ही सही, देना नहीं चाहते। मनिया का दिन-रात पूजा-पाठ में व्यस्त रहना रंजन को और भी उत्तेजित करने में सफल रहा। स्थल-स्थल पर लेखक ने रंजन की सारी बूर्जुआ अहं की मानसिकता एवं उसके वर्ग की व्यापक हीनता का स्पष्ट, स्वाभाविक तथा सजीव चित्र खींचा है। फिर भी कथा की मूल प्रेरणा मनिया का विकास है न कि रंजन का ह्रास?

मसूरी की ठण्ड से बचने के लिए दोनों कुछ दिनों को कलकत्ता चले जाते हैं। वहाँ रंजन के एक बाल-सहपाठी वीरेन्द्र से सहसा भेंट हो जाने के कारण उसीके यहाँ ठहर जाते हैं। वीरेन्द्र, स्वभाव से भिन्न, पर सम्पन्नता में रंजन के समान है। एक ही चेतना के दो स्तरों का रहस्योद्घाटन करने के लिए ही जैसे वीरेन्द्र की सृष्टि की गई हो। वीरेन्द्र का बढ़िया मकान और उसकी सुन्दर सौम्य पत्नी शोभना का आतिथ्य दोनों को भा गया तो आश्चर्य की बात नहीं। मनिया का प्रवेश उस घर में बहू के रूप में हुआ और शोभना उसकी दीदी बनी। उठना-बैठना, घूमना-फिरना प्रारम्भ हुआ नहीं कि रंजन शोभना पर लट्टू हो गए। स्वयं शोभना एक ऐसी विचित्र नारी है कि न केवल निकम्मे रंजन के लिए वरन् कर्मठ वीरेन्द्र के लिए भी उसको समझना सम्भव नहीं था। वीरेन्द्र अपनी संस्था की धुन में मस्त था। उसे शोभना और रंजन की लगा-लगी देखने-समझने का अवकाश ही नहीं था, किन्तु मनिया को रंजन की नई गति-विधि समझने में देर नहीं लगी।

दैवयोग से इसी बीच मनिया का मुँह तेज़ाब से खराब हो गया और उसका नवजात शिशु भी अचानक मर गया। एक तो बच्चे की मृत्यु से मनिया की आस्था पर यों ही बड़ा भारी आघात लग चुका था, दूसरे रंजन और शोभना की नवीन प्रेम-लीला ने उसको और भी अधिक अनास्थावान बना दिया।

उसने अपने रूखे व्यवहार तथा वचन-संकेतों से रंजन को आगाह तो किया, पर प्रत्यक्ष रूप से मौन ही रही। इस समय वह एक ऐसी मानसिक स्थिति में थी जिसका उद्धार न तो वह अपनी आस्था में खोज पाती थी और न अपने कर्मगत जीवन में। ठीक उसी समय उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय वीरेन्द्र की संस्था के एक अधिकारी से हुआ। संस्था के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों को समझकर मनिया उसके प्रति इतनी आकर्षित हो उठी जितनी एक दिन वह ईसाई-धर्म के प्रति हो उठी थी। आश्चर्य नहीं कि रंजन इस आकर्षण का कारण अपना विलास और दुराचरण न मानकर मनिया पर ही दोषारोपण करने लगा। परिणामस्वरूप मनिया संस्था के प्रति और अधिक आवेग के साथ आकुल हो उठी।

संस्था तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों के प्रति शोभना के द्वारा जगाये गए विरोधी-भाव अपना सन्देहात्मक विकराल रूप लेकर रंजन के सामने खड़े हो गए। उसने मान लिया कि मनिया को संस्था वालों ने बहका लिया है और बहुत सम्भव है कि संस्था बालिका-व्यवसाय ही करती हो। रंजन का यह विलासी, निकम्मा और भीरु-रूप मनिया के लिए इतना अग्राह्य हो उठा कि वह एक दिन रंजन से विदा लेकर, बल्कि उसे धक्का देकर उस घर से निकल गई और चुपचाप उसी संस्था में सम्मिलित हो गई। इसी बीच एक और उल्लेखनीय घटना घटी—वीरेन्द्र का वध। उधर मनिया संस्था में कार्य करती हुई शीघ्र ही सबकी प्रिय और सच्ची सेविका बन गई, क्योंकि उसके जीवन के मूलगत संस्कारों का आधार ही ऐसा कार्य-कलाप था। संस्था से सम्बन्धित एक सज्जन के साथ अमेरिका जाकर प्लास्टिक सर्जरी से अपना मुँह ही नहीं वरन् सारा शरीर सुडौल कराकर मनिया वापस आ जाती है और संस्था में एक नर्स के रूप में सच्ची सेवा-भावना से काम करने लगती है। यहाँ वह उसी तरह सुखी तथा निर्द्वन्द्व है जिस तरह कि रंजन से मिलने के पहले अपने कर्ममय सहज जीवन में थी।

इधर कलकत्ता से कुछ दूर नदी के किनारे की कोठी में रंजन और शोभना एक बहुत बड़ी युवा-युवतियों की मण्डली के साथ केलि-क्रीड़ा के लिए गये कि वहाँ बहुत बड़ी महामारी तथा अकाल का भयानक आतंक आ उपस्थित हुआ और इन विलासियों का वहाँ ठहरना तक कठिन हो गया। बूर्जुआ उपकार की भावना ने रंजन को उकसाया और वह एक मौजी बूढ़े बंगाली के साथ सबको कलकत्ता में भेजकर वहाँ ठहर गया। मनिया वाली संस्था से कुछ डॉक्टर और कुछ नर्सें वहाँ सेवा के लिए पहुँची नहीं कि रंजन का मन उछल पड़ा। उसने सभी नर्सों के प्रति आत्मीयता का हाथ बढ़ाया किन्तु नवीन मनिया की ओर स्वाभाविक रूप से वह अधिक आकर्षित हुआ।

मनिया अपने व्यंग-बाणों से रंजन के मर्म को बराबर बेधती रहती है पर उसकी जड़ता और कामुकता उसे सहज तथा सावधान नहीं होने देती। नर्स की घनिष्ठता के बाद जब रंजन को पता चलता है कि यह प्रबन्ध उसी वीरेन्द्र तथा मनिया वाली संस्था की ओर से हुआ है तब उसके आश्चर्य और आतंक की सीमा नहीं रही। रंजन सहसा संस्था के प्रति बहुत अधिक सहानुभूतिशील हो उठा। नर्स, रंजन से परिचित होने के कारण अपनी चातुरी से उसे अपनी सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग संस्था को दान के रूप में देने को विवश कर देती है।

लिखा-पढ़ी के बाद कलकत्ता वापस आने पर रंजन को संस्था के अन्य अधिकारी व्यक्तियों के साथ मनिया का भी परिचय दे दिया जाता है। रंजन लज्जा से गड़ जाता है, पर कुछ बोल नहीं पाता, क्षमा भी नहीं माँग पाता। मनिया उसका धर्म तथा धन दोनों लेने के बाद भी उसे स्वीकार नहीं करती, क्योंकि वह उसके मूल भावों से परिचित है। इसीलिए सामूहिक सेवा द्वारा अपना संस्कार-परिष्कार करने के लिए वह रंजन को पुनः पहाड़ वापस भेज देती है। वह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुपचाप अपने पापों का फल भोगने के लिए वापस चला जाता है और सम्भवतः परीक्षोत्तीर्ण होने के लिए जीवन का नया अध्याय खोलता है। यही उपन्यास का अन्त है।

नारी-सुलभ कोमलता तथा पूर्व-संसर्ग की मोहान्धता को बरबस दबाकर मनिया रंजन को स्वार्जित मुक्ति के लिए मुक्त कर देती है। रचनात्मक कार्य द्वारा स्वयं अपने जीवन को विश्व-जीवन से नियोजित करने का सफल विधान करती है। यही मनिया की विजय और विकासशील चेतना का अभ्युदय है।

जीवन के इस तुमुल कोलाहल में ऐसे सन्तुलित दृष्टिकोण के साथ जीवन-विकास की सम्भावनाओं का स्पष्ट चित्रण करने वाली कृति जोशी जी की हिन्दी के लिए स्थायी देन है, इसमें सन्देह नहीं।[1]

माताबदल जायसवाल

दखिनी हिन्दी का उद्भव और विकास

'दक्खिनी' (दकनी, दखिनी) खड़ी हिन्दी (स्टैण्डर्ड हिन्दी) के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। खेद है कि पिछले खेवे के किसी भी हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक की दृष्टि विन्ध्याटवी के पार हैदराबाद-राज्य में बिखरी हुई इस सामग्री की ओर नहीं गई। डॉ० ग्रियर्सन ने अपने 'भारतीय भाषा पर्यवेक्षण' में भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण से 'दक्खिनी' पर विचार किया है। उनका मत है कि, **"दक्खिनी भ्रष्ट हिन्दुस्तानी नहीं, बल्कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी ही भ्रष्ट दक्खिनी का रूप है"**[2] जब से दक्खिनी साहित्य प्रकाश में आया है, उर्दू के हिमायती डॉ० मुहीउद्दीन क़ादिरी[3], प्रो० शेरानी[4], नासिरुद्दीन हाशिमी[5] तथा शम्सुल्ला साहब क़ादिरी[6] आदि विद्वान् 'दक्खिनी' को 'क़दीम उर्दू' या 'दखनी उर्दू' कहते हैं। रामबाबू सक्सेना भी अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं, **"दकनी भाषा हिन्दुस्तानी की एक शाखा है......उसको उर्दू की एक भाषा समझना चाहिए।"**[7] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी यही माना है कि **"ये सब (रेख्ता, रेख्ती और दक्खिनी) उर्दू के रूप-रूपान्तर हैं।"**[8] इस भूल के

---

१. लेखक—इलाचन्द्र जोशी, प्रकाशक—सेण्ट्रल बुक डिपो, प्रयाग।
२. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया—जिल्द ९, भाग १।
३. उर्दू शहपारे—हिन्दुस्तानी लिसानियात।
४. पंजाब में उर्दू।
५. दकन में उर्दू।
६. कदीम उर्दू।
७. उर्दू साहित्य का इतिहास—रामबाबू सक्सेना।
८. हिन्दी भाषा का इतिहास—पृष्ठ ६२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ विशेष कारण भी थे। एक तो यह समूचा साहित्य फारसी लिपि में है। दूसरे प्राचीन सभी ज्ञात लेखक मुसलमान हैं। तीसरे यह साहित्य दक्षिण के मुसलमानी राज्यों में ही पोषित हुआ। चौथे किसी हिन्दी के विद्वान् द्वारा इसका सम्यक् अध्ययन नहीं हुआ। अतएव इसे 'प्राचीन उर्दू' समझ बैठने की भूल सहज सम्भाव्य है।

'दक्खिनी हिन्दी' में डॉ० बाबूराम सकसेना के दक्खिनी भाषा और साहित्य-सम्बन्धी तीन व्याख्यान संग्रहीत हैं। ये व्याख्यान हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद के निमन्त्रण पर सन् १९४५ में तैयार किये गए और १६ दिसम्बर सन् १९५१ में पुस्तकाकार रूप में एकेडेमी से ही प्रकाशित हुए। इन व्याख्यानों द्वारा डॉ० सकसेना ने प्रथम बार दक्खिनी साहित्य के गम्भीर अध्ययन और विवेचन का श्रीगणेश किया। अध्ययन के आधार पर 'दक्खिनी' के विषय में प्रचलित भूल का निवारण करते हुए इस मत के प्रतिपादन का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है कि 'दखिनी' उर्दू-ए-मुअल्ला की भाषा नहीं, वह 'दक्खिनी उर्दू' नहीं, बल्कि 'दक्खिनी हिन्दी' है।

पुस्तक तीन अध्यायों में विभाजित है: १. 'प्रवेशक', २. 'भाषा', ३. 'शैली'। 'परिशेष' में दक्खिनी हिन्दी-साहित्य के कुछ नमूने और अंत में 'अनुक्रमणिका' दी गई है। प्रथम अध्याय को पुस्तक की भूमिका कहा जा सकता है। इसमें 'दक्खिनी' के भिन्न-भिन्न नामों—'हिन्दी', 'हिन्दवी' और 'दक्खिनी'—की व्याख्या; दक्खिनी हिन्दी की चारों सीमाओं पर बोली जाने वाली भाषाओं—मराठी, कन्नड़, तेलुगु और तमिल—के साहित्य का अति संक्षिप्त परिचय तथा तत्कालीन भारत में उत्तरी भाषाओं की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए खड़ी हिन्दी (स्टैण्डर्ड हिन्दी) की जन्मभूमि, उसके दक्षिण प्रवेश तथा दक्षिणी राज्यों में साहित्य-निर्माण आदि विषयों पर विचार किया गया है। 'दक्खिनी हिन्दी' के कवियों की रचनाओं से हिन्दवी[1], हिन्दी[2], हिन्दी जबान[3] तथा दखिनी[4] शब्दों के प्रयोगों के उद्धरण देकर लेखक ने 'हिन्दी' नाम की प्राचीनता भली भाँति प्रमाणित की है। विद्वान् लेखक का वक्तव्य है कि 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'भारत की' के अर्थ में किया गया है।[5] यह सत्य है कि तत्कालीन भारत में 'हिन्दी' से 'भारत की' भी तथा 'हिन्दी जबान', 'हिन्दी बोल' और 'हिन्दवी' से भारत की देशी भाषा का अर्थ लिया जाता था; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि तब तक 'हिन्दवी' शब्द केवल यौगिक था, जिससे भारत की सभी आर्य तथा आर्येतर भाषाओं का बोध होता था। कई सौ वर्ष पूर्व अवश्य 'हिन्दी' शब्द से यही यौगिक अर्थ 'भारत की' ही लिया जाता था और उसका प्रयोग भारत की किसी भी भाषा के लिए किसी भी वस्तु के लिए होता था। 'कलेला दमनः' के रचयिता तथा अल्बेरुनी ने भारत की भाषाओं को 'अलहिन्दय' कहकर इसी अर्थ की ओर संकेत किया है; किन्तु प्राचीन 'दक्खिनी हिन्दी' काल में 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' का प्रयोग एक विशिष्ट भाषा

१. शेख़ अशरफ़—नौसाहार (१५०३), पृष्ठ १८।
२. बुरहानुद्दीन आनम—'इर्शादनामा' (१५८२), पृष्ठ १९।
३. मुल्लावरुही—'सब रस' (१६३५), पृष्ठ ११।
४. वजही—उतुबमुश्तरी, पृष्ठ १६।
इब्ननिशाती—फ़ूलबन।
रुस्तमी—ख़ाविरनामा।
५. दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ १५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए होने लगा था जो उस समय भारत के विराट् जन-समुदाय की एक-मात्र अन्तरप्रान्तीय जन-भाषा थी। लेखक द्वारा उद्धृत इन सब लेखकों के पूर्व शाह मीराँ जी (१५वीं सदी) ने फ़ारसी और अरबी के मुक़ाबले में इस 'हिन्दी' या 'भाका' (भाखा) की उसी प्रकार प्रशंसा की है जिस प्रकार उनके समसामयिक संत कबीर ने 'कूपजल' रूपी संस्कृत के मुक़ाबले में 'बहता नीर' रूपी 'भाखा' की प्रशंसा की है :

जे कोई अच्छे खासे। इस बयान केरे प्यासे॥
वे अरबी बोल न जाने। ना फारसी पिछाने॥
ते अरबी बोल केरे। और फारसी भी तेरे॥
यह हिन्दी बोलो सब। इस अरतों के सबब॥

शाह मीरां जी का मत है कि जैसे मिट्टी छानकर सोना निकालते हैं 'भाका' (भाखा) के मग़ज़ (अर्थ) को लो और शब्दों पर ध्यान न दो।

ज्यों 'भाका' माटी जानो। ज़र माने दिल में आनो॥[1]

'दक्खिनी' के उद्गम के विषय में प्रायः विद्वानों में मतभेद रहा है। मालाबार दकन, सिन्ध, गुजरात तथा उत्तरी-पश्चिमी मध्यदेश को इसकी जन्म-भूमि बताया गया है। लेखक के मतानुसार खड़ी बोली क्षेत्र ही दक्खिनी की जन्म-भूमि है। 'खड़ी बोली' की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए लेखक का कथन है : "अपभ्रंश उत्तर भारत में सिन्ध से लेकर बंगाल तक और दक्षिण में गुजरात और महाराष्ट्र तक फैली थीं। इनका जो रूप सर्वमान्य हुआ वह उसी प्रदेश का था जो आज मोटे तौर पर खड़ी बोली का क्षेत्र है।"[2] कितना अच्छा होता यदि कोई ऐसा अपभ्रंश-ग्रंथ खोज में मिलता जो केवल 'गुरु जनपद' की बोली में ही लिखा होता। अब्दुर-रहमान (१२वीं सदी उत्तरार्ध) के 'सनेह रासअ' (संदेश रासक) अथवा 'भविसत कह' आदि अपभ्रंश-ग्रंथों में राजस्थानी, गुजराती, खड़ी (कौरवी), व्रज के प्राचीन रूप मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्टैण्डर्ड अपभ्रंश का मूलाधार 'कुरु-जनपद' ही चाहे रहा हो; किन्तु उसमें मत्स्य, पांचाल तथा सूरसेन जनपद की बोलियों के रूप भी सम्मिलित थे। कुछ इसी प्रकार की स्थिति 'खड़ी हिन्दी' की भी है। खड़ी हिन्दी या दक्खिनी हिन्दी के विकास में लेखक ने निष्पक्षता और ईमानदारी के साथ मुसलमानों का आभार स्वीकार किया है : "इस बात को स्वीकार करने में कोई लज्जा की बात नहीं कि हमारी भारतीय बोली 'हिन्दी' को नये आये हुए विदेशियों ने साहित्य का माध्यम बनाया।"[3] लेखक उन विद्वानों के मत का खंडन करता है जो "पुष्पदन्त आदि अपभ्रंश के कवियों और बौद्धगान और दोहा आदि के रचयिताओं को आदि हिन्दी का पद देते हैं।"[4] लेखक के अनुसार 'खड़ी हिन्दी' का प्रथम लेखक कोई मुसलमान ही होगा। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सदैव से भारतीय आर्य-भाषा की धारा धार्मिक आन्दोलनों या विदेशियों के कारण ही दूसरी दिशा की ओर मुड़ी है। आरम्भ में अपभ्रंश को भी नवागत आभीरों की बोली कहा गया था। आश्चर्य नहीं यदि यही स्थिति उस खड़ी हिन्दी की

१. शहादतुल हक़ीक़त से 'उर्दू' (१८३४) पत्रिका में उद्धृत।
२. दक्खिनी हिन्दी—पृष्ठ २५।
३. वही—पृष्ठ ३२।
४. वही—पृष्ठ ३२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हो जिसका मूलाधार 'भैरवी' है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि निर्गुण संत और जैन-श्रावक भी इस भाषा के अन्तर्प्रान्तीय रूप को व्यापक बनाने में सहायक हुए।

अच्छा होता यदि प्रथम अध्याय के अन्त में लेखक 'दक्खिनी में साहित्य-निर्माण' नामक शीर्षक को साहित्य और शैली नामक अध्याय में सम्मिलित करता और इसी अध्याय में उर्दू के उद्गम के विषय में भी अपना वह विद्वत्तापूर्ण मत प्रकट करता, जिसे उसने द्वितीय अध्याय के आरम्भ में दिया है। लेखक इस बात से सहमत नहीं कि, **"उर्दू मुसलमानों और हिन्दुओं के मेल-जोल से बनी है अथवा उर्दू शैली को हिन्दू-मुसलमान दोनों वर्गों के कलाकारों ने मिलकर बनाया।"**[1] यह अवश्य है कि मुसलमानों के प्रभाव से 'कौरवी' (कुरु जनपद की बोली) तथा पूर्वी पंजाब की बोली में ध्वनि, व्याकरण-सम्बन्धी कुछ हल्के परिवर्तन हुए, किन्तु उससे 'कौरवी' या खड़ी हिन्दी 'हिन्दी' ही बनी रही, उर्दू नहीं बनी। टी० ग्रेहिम बेली तथा प्रो० शेरानी[2] के विरुद्ध लेखक ने 'हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी और उर्दू' का मूलाधार कुरु जनपद की बोली 'खड़ी बोली' को ही माना है। किन्तु चारों को समानार्थी मान लेना कुछ भ्रामक है। यह अवश्य है कि व्याकरण का सामान्य ढाँचा सबका कुछ समान है, किन्तु उर्दू प्रधानतया 'हिन्दी' या हिन्दवी' की एक शैली है जो शाहजहाँ के समय में कुछ विशिष्ट जनों के आन्दोलन का फल है। उसी समय से फारसी व्याकरण, वाक्य-रचना आदि में फारसी नियमों को स्वीकार करके हिन्दवी का पल्ला छोड़कर 'उर्दू' की शैली सचेत और सचेष्ट रूप में गढ़ी गई। 'उर्दू' का जन्म उर्दू-ए-मुअल्ला अर्थात् शाही क़िला या दरबार में ही हुआ—कुरु जनपद में नहीं। अच्छा होता यदि विद्वान् लेखक इस विवादास्पद विषय पर अपना निश्चित मत प्रकट करता।

दूसरे अध्याय में दक्खिनी हिन्दी के ध्वनि-विधान और रूप-विधान का थोड़ा विवरण दिया गया है। क़ादिरी साहब की 'हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स' के आधार पर प्राचीन 'दक्खिनी हिन्दी' साहित्य के ध्वनि-विधान पर प्रकाश डाला गया है, किन्तु लगभग ३०० वर्षों के काल में होने वाले ध्वनि-विकारों के कारणों पर सम्यक् प्रकाश नहीं डाला गया है। सम्भवतः स्थानाभाव के कारण ही ऐसा नहीं किया जा सका। अच्छा होता यदि खड़ी हिन्दी की ध्वनियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए कौरवी या खड़ी हिन्दी के बोल-चाल वाले रूप भी दिये जाते, जिससे दक्खिनी की ध्वनियों के आदि स्रोत और उस पर अन्य बोलियों के प्रभाव पर विशेष प्रकाश पड़ता।

रूप-रचना (संज्ञा, सर्वनाम, संख्यावाचक विशेषण, अव्यय, क्रिया, कृदन्त, परसर्ग आदि) का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दक्खिनी साहित्य के मौलिक अध्ययन के आधार पर ही लेखक ने प्राचीन दक्खिनी हिन्दी का एक साधारण व्याकरणात्मक ढाँचा दे दिया है। सम्भवतः अपने ढंग का यह प्रथम अध्ययन है, किन्तु यहाँ भी तुलनात्मक अध्ययन के अभाव के कारण शब्द-रूपों के परिवर्तन, परिवर्धन के आदि स्रोतों तथा उनके निकास के कारणों को समझने का भार लेखक पाठकों पर ही छोड़ देता है। ३०० वर्षों के काल में दक्खिनी हिन्दी की रूप-रचना में स्वयं क्या परिवर्तन हुआ, क्या धरोहर के रूप में वह उत्तर से लाई थी—उसका क्या मराठी, गुजराती तथा द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव पड़ा, इन बातों का सम्यक् निरूपण नहीं हो सका। सम्भ-

१. दक्खिनी हिन्दी—पृष्ठ ४१, ४२।

२. दोनों पंजाब को उर्दू की जन्म-भूमि मानते हैं—'पंजाब में उर्दू'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वतः विद्वान् लेखक पुस्तक के आकार-विस्तार को बढ़ाना नहीं चाहता था। लेखक ने स्वयं इसका संकेत किया है। व्याकरण-रूपों की समानता के आधार पर ही प्रो० शेरानी दक्खिनी को पंजाबी के अधिक निकट मानते हैं। लेखक भी—"सी वाले भविष्यत्काल के रूप पंजाबी से लगते हैं" यह कहकर पंजाबी प्रभाव को स्वीकार करता दिखाई पड़ता है; किन्तु बाद में यह कहकर कि "इनकी निस्बत 'गा, गे' रूप ही अधिक हैं जो खड़ी बोली के ही निजी हैं"—वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि "दक्खिनी खड़ी बोली का ही पूर्वकालीन रूप है।" खड़ी-बोली (कौरवी) के रूप देकर लेखक अपने मत को अधिक प्रामाणिक कर सकता था। वास्तव में लेखक का मत युक्तियुक्त है, यदि खड़ी बोली में हरियाना प्रान्त की बाँगरू या सरहिन्दी को भी सम्मिलित कर लिया जाय; क्योंकि दक्खिनी हिन्दी में रोहतक, करनाल, हिसार, सिन्ध, अम्बाला, सरहिन्द की बोली के रूप भी अधिक मात्रा में मिलते हैं।

तीसरे अध्याय में दक्खिनी साहित्य और शैली का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दक्खिनी के शब्द-कोष में फ़ारसी और अरबी के रूप कम हैं। जो हैं भी उन्हें लेखकों और कवियों ने तद्भव रूप में ही स्वीकार किया है। अनेक ऐसे तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है जो उर्दू वालों को अज्ञात हैं। शब्दकोष में लेखक ने कुछ आर्येतर भाषाओं का प्रभाव स्वीकार किया है, किन्तु कितने अंश में इसका स्पष्ट विवेचन नहीं किया। लेखक ने अधिक बल देकर यह लिखा है कि उच्चारण, बहुवचन तथा फारसी से संज्ञा, विशेषण लेकर क्रिया बनाने में 'दक्खिनी हिन्दी' हिन्दी के ही नियमों का पालन करती है, फारसी और अरबी का नहीं। अतएव व्याकरण को देखते हुए भी दक्खिनी हिन्दी को उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट सिद्ध किया गया है।

शैली के विवेचन में लेखक ने भली भाँति प्रतिष्ठित कर दिया है कि शैली के बाह्य उपकरणों को छोड़कर परम्परा-निर्वाह में, प्रेम-पद्धति के चित्रण में जिन्हें हम शैली की आत्मा कह सकते हैं—दक्खिनी लेखक भारतीय परम्परा या हिन्दी-परम्परा के अधिक निकट है। वली की दिल्ली-यात्रा के बाद शैली-सम्बन्धी जो परिवर्तन हुए, प्राचीन दक्खिनी अर्थात् १५वीं, १६वीं, १७वीं सदी में नहीं मिलते।

इस प्रकार व्याकरण, साहित्य, शैली आदि पर विचार करके लेखक यह प्रतिष्ठित करने में पूर्णतया सफल हुआ है कि 'दक्खिनी' को 'दक्खिनी हिन्दी' ही कहना अधिक न्यायसंगत है, दक्खिनी उर्दू नहीं। परोक्ष रूप से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'क़दीम उर्दू' या 'प्राचीन उर्दू' जैसे नामों में विशेष बल नहीं है। लेखक के मत से ही सहमत होकर हम आशा करते हैं कि यह साहित्य शीघ्र ही नागरी अक्षरों में कर लिया जायगा।[1]

---

1. **लेखक—डॉक्टर बाबूराम सक्सेना। प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परशुराम चतुर्वेदी

साहित्य-शास्त्र की तुलनात्मक विवेचना और इतिहास

हिन्दी में आलोचना-साहित्य के सृजन की ओर किये गए विविध प्रयत्नों के इधर अनेक उदाहरण मिलने लगे हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी एवं निबन्ध से लेकर साधारण वाङ्मय के अन्य अंगों की भी आलोचनाएँ होती जा रही हैं। किन्तु इस विषय की जो पुस्तकें लिखी जाती हैं वे अधिकतर विद्यार्थियों के ही काम की होती हैं और उनमें उच्च स्तर की बातों का समावेश प्रायः नहीं रहा करता। जिस किसी ऐसी पुस्तक में विभिन्न कवियों अथवा लेखकों की कृतियों की चर्चा की गई मिलती है उसमें मानो उनका ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक परिचय रहा करता है अथवा उसमें परम्परागत साहित्य-पद्धति के नियमानुसार किये गए मूल्यांकन का एक प्रयत्न-मात्र दीख पड़ता है। इसके सिवाय जो पुस्तकें आजकल आलोचना के विषय का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करती हुई जान पड़ती हैं उनमें भी अभी तक प्राचीन भारतीय अथवा आधुनिक यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के अंगों का केवल परिशीलन-मात्र ही लक्षित होता है—उनके तुलनात्मक अध्ययन अथवा साहित्य-सम्बन्धी मौलिक प्रश्नों पर किये गए सुलझे विचारों का प्रायः अभाव-सा ही दीख पड़ता है। इस उद्देश्य से लिखे गए कतिपय निबन्ध अवश्य प्रकाशित होते रहे हैं, किन्तु अभी तक उनकी भी संख्या पर्याप्त नहीं कही जा सकती। फलतः आलोचना के सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक पक्षों में से अभी तक किसी एक पर भी हिन्दी में गवेषणापूर्ण एवं मौलिक कृतियों की रचना होती नहीं दीख पड़ती। श्री एस० पी० खत्री की आलोच्य पुस्तक आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष-विषयक हमारे साहित्य की इस कमी को दूर करने के ही प्रयत्न में लिखी जान पड़ती है।

प्रस्तुत पुस्तक को इसके नामानुसार दो खण्डों में विभाजित करके लिखा गया है और इन में से पहले का सम्बन्ध आलोचना के सिद्धान्तों के आरम्भ एवं क्रमिक विकास से है और दूसरे के अन्तर्गत उनके शास्त्रीय निरूपण तथा प्रतिपादन की चेष्टा की गई है। प्रथम खण्ड में ६ प्रकरण हैं और द्वितीय खण्ड में केवल ५ हैं। प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण का आरम्भ प्राचीन आलोचना के समय को तीन कालों में विभाजित करके किया गया है जिनमें से पहले का सम्बन्ध ईसा के पूर्व वाली पाँचवीं एवं चौथी शताब्दियों से है, दूसरे में तीसरी एवं दूसरी शताब्दियों की बातें आती हैं और, इसी प्रकार, तीसरा इसके आगे वाले उन दो सौ वर्षों तक चला जाता है जब कि यूनान एवं रोम के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का आरम्भ होने लगा था। इनमें से प्रथम काल में ही हमें यूनानियों की आलोचना-विषयक प्रतिभा के प्रथम दर्शन हुए और तीसरे काल तक इस प्रकार के साहित्य-सृजन में रोम वालों ने भी अपना हाथ बटाया। लेखक ने प्रथम खण्ड के द्वितीय प्रकरण में काव्यादर्श एवं काव्य-शैली की तत्कालीन प्रेरणाओं तथा प्रवृत्तियों की चर्चा की है और ऐसा करते समय उसने उक्त समय की प्रचलित निर्णयात्मक आलोचना की एक संक्षिप्त कहानी भी दे दी है। इसके तीसरे प्रकरण में अफलातून तथा अरस्तू के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का परिचय किंचित् विस्तार के साथ दिया गया है और फिर, इसी प्रकार, चौथे एवं पाँचवें प्रकरणों तक भाषण-कला, नाट्य-कला एवं गद्य-शैली के विकास तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्दों एवं अलंकारों के प्रारम्भिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया गया है। पाँचवें प्रकरण में लेखक ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि ईसा के आविर्भाव-काल से पीछे तक वस्तुतः यूनानी दार्शनिकों के ही सिद्धान्तों का अधिक प्रचार होता रहा। रोम वालों की देन उतनी बड़ी नहीं रही।

इस खण्ड के छठे प्रकरण के अन्तर्गत लेखक ने भारतीय आलोचना-विषयक सिद्धान्तों के भी आरम्भ एवं विकास की चर्चा की है, किन्तु यह उतनी विस्तृत नहीं है। यहाँ की प्राचीन-कालीन विचार-धारा के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में निश्चित संकेतों के न रहने के कारण, स्वभावतः, भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से ही इस विषय के वर्णन का प्रयत्न लेखक ने किया है और फिर इसके आगे क्रमशः रस-शास्त्र, अलंकार, परम्परा, रीति एवं ध्वनि का प्रसंग छेड़ा है। लेखक ने इन सम्प्रदायों की स्थापनाओं का केवल सांकेतिक परिचय ही दिया है और सबके अंत में वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रायः सहस्रवर्षीय साधना का भी स्वरूप प्रधानतः वही रहा जिस पर पश्चिमी साहित्यिकों ने भी विचार किया था।

प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत लेखक ने सोलहवीं शताब्दी तथा सत्रहवीं के प्रथम चरण तक दीख पड़ने वाले साहित्यिक नवोत्साह और तज्जन्य आलोचना के विकास का वर्णन यूरोप की तत्कालीन सामाजिक स्थिति के ही आधार पर किया है। उसने, इसी प्रकार, आठवें प्रकरण में भी सत्रहवीं शताब्दी के शेष अंश एवं अठारहवीं के भीतर पाई जाने वाली नवीन साहित्यिक प्रेरणाओं का उल्लेख किया है। इस युग में वीर-काव्य, उपहास-काव्य, गीति-काव्य तथा प्राचीन एवं नवीन नाटक-रचना-शैलियों का विशेष प्रचार था और प्राचीन आलोचना-शैली अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी, निर्णयात्मक समालोचना के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति भी इस युग में विशेष रूप से लक्षित हुई। उन्नीसवीं शताब्दी तथा उसके आगे की प्रवृत्तियों की चर्चा इस खण्ड के नवें प्रकरण में की गई है और इसीमें पत्रकार-कला के उदय तथा विभिन्न आलोचना-पद्धतियों का भी वर्णन है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में जो पाँच प्रकरण हैं उनमें से पहले में लेखक ने आलोचना-सम्बन्धी सिद्धान्तों के निर्माण का आधार निरूपित किया है। इस सम्बन्ध में उसने आलोचना की प्रवृत्ति की व्यापकता की ओर संकेत किया है, उसके साहित्यिक रूप के क्षेत्र का परिचय दिया है और इसके साथ ही आलोचक एवं साहित्यकार के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में निर्णय करते हुए कला के लक्ष्य, भाषा, छंद एवं अलंकार के प्रयोग तथा सौन्दर्यानुभूति की क्षमता आदि का भी विवेचन किया है। इस खण्ड के दूसरे प्रकरण में लेखक ने आलोचना-प्रणालियों के वर्गीकरण का प्रश्न उठाया है और इसी प्रसंग में 'आलोचना' शब्द के विभिन्न अर्थों की भी चर्चा की है। तृतीय प्रकरण में आलोचना के वर्गीकरण का प्रयत्न भी किया गया है और इस सम्बन्ध में प्रायः उन सभी वादों के नाम लिये गए हैं जो आजकल प्रचलित दीखते हैं। प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति का वर्णन लेखक ने कुछ विस्तार के साथ इस खण्ड के चतुर्थ प्रकरण में किया है। इसमें मार्क्सवादी आदर्श का परिचय देते हुए उसके अनुकूल साहित्य की रचना एवं तत्सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख किया गया है और उसके उपयुक्त मानदण्ड की भी कल्पना की गई है। इस खण्ड के अन्तिम अर्थात् पांचवें प्रकरण का शीर्षक 'उपसंहार तथा परिभाषाएँ' दिया गया है और इसके अन्तर्गत लेखक ने आलोचकों के लिए वस्तुतः पथनिर्देश किया है। इसके पूर्वार्द्ध में उसने आलोचकों की योग्यता, उनकी कार्य-प्रणाली एवं उत्तरदायित्व आदि के सम्बन्ध में कतिपय संकेत किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और इसके उत्तरार्द्ध वाले अंश में यूरोप के प्रमुख कवियों और आलोचकों द्वारा दी गई आलोचना की परिभाषाओं को उद्धृत करके उनकी व्याख्या भी कर देने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक के दोनों खण्डों के विस्तार का अनुपात प्रायः दो तिहाई एवं एक तिहाई का है, जिससे स्पष्ट है कि लेखक ने आलोचना के ऐतिहासिक परिचय को अधिक महत्त्व दिया है और इसके सिद्धान्त एवं कार्य-प्रणाली को इसकी प्रवृत्ति के उद्गम एवं विकास के ही वर्णन द्वारा स्पष्ट करने की उसने अधिक चेष्टा की है, फिर भी इसके ऐतिहासिक परिचय के अन्तर्गत उसने जितना ध्यान यूरोपीय आलोचना-पद्धति की ओर दिया है उतना भारतीय आलोचनात्मक सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया है और न उसके विभिन्न सम्प्रदायों के विकास का कोई संक्षिप्त उल्लेख भी किया है। पुस्तक के प्रथम खण्ड के छठे प्रकरण में जहाँ इस विषय की चर्चा आई है, वहाँ लेखक ने इसके प्रायः सभी उल्लेखनीय प्रश्नों को छोड़कर उन्हें चलता कर दिया है। यहाँ पर यदि भारतीय काव्यादर्श तथा रस जैसे विषयों का विस्तृत परिचय उनके विकास-क्रमानुसार दे दिया गया होता तो अधिक अच्छा था। यूरोपीय एवं भारतीय आलोचना-सिद्धान्तों के कई विषय यहाँ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भी स्पष्ट किये जा सकते थे। इह खण्ड में लेखक ने उन सभी प्रमुख आलोचकों के भी नाम नहीं लिये हैं जिनके सिद्धान्तों का उसने विवेचन किया है। अच्छा होता यदि आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास पर पृथक्-पृथक् तथा अधिक स्पष्ट शब्दों में विचार किया गया होता, जिससे उनके उद्देश्य-विशेष, निर्दिष्ट सीमा तथा वास्तविक देन पर पूरा प्रकाश पड़ता और उनकी पारस्परिक तुलना में पर्याप्त सहायता भी मिलती।

लेखक ने सिद्धान्त वाले द्वितीय खण्ड में जो आलोचना के वर्गीकरण-सम्बन्धी प्रश्न उठाये हैं उनका भी उसने कोई सन्तोषप्रद समाधान नहीं किया है और इस प्रक्रिया का आधार केवल प्रचलित प्रणालियों के अस्तित्व को ही मानकर उनका समाधान कर लिया है। इस प्रकार की समस्या को उठाते समय लेखक का ध्यान आलोचना की दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि की ओर जाना चाहता था। साहित्य यदि सचमुच मानव-जीवन-सम्बन्धी तत्त्वों की अभिव्यक्ति है तो उसकी आलोचना को भी उसका रूप अनिवार्यतः ग्रहण करना पड़ेगा और उन दोनों की सजातीयता ही हमें उनके लिए दार्शनिक आधारों को ढूँढ़ निकालने के लिए भी प्रेरित करेगी। इसके सिवाय आलोचना की विविध प्रणालियों के स्वाभाविक वर्गीकरण की समस्या को इस एक साधारण संकेत के आधार पर भी हल कर सकते हैं कि आलोचक की वास्तविक मनःस्थिति क्या है और किस आदर्श-विशेष को अपने सामने रखकर वह इस कार्य में प्रवृत्त होता है। जिन आलोचना-प्रणालियों के नाम लेखक ने इस खण्ड के तृतीय प्रकरण में गिनाये हैं उनमें से प्रायः सभी पर विचार केवल इस एक आधार पर भी किया जा सकता है और उसकी संख्या को इस प्रकार बहुत-कुछ कम भी किया जा सकता है। इन प्रणालियों में से एकाध अन्य पर भी प्रगतिवादी आलोचना की भाँति, अधिक विस्तृत विचार किया जा सकता था। फिर भी जिन दो-चार बातों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उनके कारण आलोच्य पुस्तक की उपयोगिता में कमी नहीं आती। हिन्दी की वर्तमान आलोचना-पद्धति यूरोपीय आलोचना-सिद्धान्तों द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होती जा रही है और दोनों परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन एवं विवेचना पर ही हमारे भावी आलोचना-सम्बन्धी आदर्शों के निर्मित होने की सम्भावना है। ऐसी दशा में भी खत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी द्वारा इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया अध्ययन अवश्य उपादेय कहा जा सकता है।[1]

डॉक्टर शैलकुमारी

मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ

यद्यपि 'स्त्री-कवि-कौमुदी', 'हिन्दी की कलामयी तारिकाएँ', 'हिन्दी काव्य की कोकिलाएँ' आदि के रूप में कवयित्रियों के अध्ययन पहले भी किये गए हैं, किन्तु डॉ० सावित्री सिनहा द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। विदुषी लेखिका के प्रयास से न केवल कुछ अज्ञात कवयित्रियों के नाम सामने आये हैं वरन् कुछ नवीन तथ्य भी प्रकाश में आये हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि '**नारी द्वारा प्रबन्ध-काव्य-रचना का अपवाद प्राचीन काल की नारी की अचेतनावस्था के साहित्य से लेकर वर्तमान युग की जाग्रति तक नहीं मिलता। काव्य की रचना स्त्री ने आत्माभिव्यक्ति के लिए ही अधिक की है, अतः कहानी इत्यादि कहने के लिए उसने काव्य-रचना नहीं की।**' इससे एक शाश्वत सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक सत्य की पुष्टि तो होती ही है, साथ ही प्रसंगवश हम यह भी अनुभव करते हैं कि हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मुक्तक तथा गीति-काव्यों के क्षेत्र में स्त्री कवियों की कितनी प्रचुर देन रही है।

प्रस्तुत पुस्तक बाह्य तथा अन्तर में यद्यपि बहुत आकर्षक है, फिर भी कई स्थलों पर हमारी आशा को पूर्ण करने में असमर्थ रही है। पहली बात तो यह है कि लेखिका ने कहीं भी अपने अध्ययन की काल-सीमा का निर्देश नहीं किया है। यद्यपि शुक्लजी के काल-विभाजन के पश्चात् मध्यकाल की सीमाएँ सर्वथा अज्ञात नहीं रह गई हैं (और मेरा खयाल है लेखिका भी उन्हीं शताब्दियों को लेकर चली हैं) तो भी खोज की वैज्ञानिकता की दृष्टि से तथा स्त्री-कवियों के मध्य-भाव, भाषा तथा शैली के परिवर्तन तथा विकास की दृष्टि से काल-निर्देश का अभाव खटकता है। इसी से मिली-जुली एक कठिनाई और भी है। लेखिका ने मध्य-युग की कवयित्रियों को छः वर्गों में विभाजित किया है। किन्तु वर्गीकरण बहुत स्पष्ट नहीं है। पहला वर्ग भाषा के अनुसार बनाया गया है, बीच के चार विचार-धारा के अनुसार हैं और अन्तिम वर्ग शैली के आधार से है। इसमें बहुत-कुछ पारस्परिक सीमातिक्रमण की सम्भावना है। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि डिंगल-काव्य की रचयिताओं में एक ओर नाथ-भक्त कवयित्रियाँ दिखाई पड़ती हैं जो सम्भवतः कृष्ण-काव्य-धारा की कवयित्रियों के साथ आसानी से बैठाई जा सकती थीं, तथा दूसरी ओर चम्पादे रानी तथा हरिजी वानी, छावड़ो जी आदि को, यद्यपि रीतिकाल के शास्त्रीय शृङ्गार-काव्य के अन्तर्गत नहीं, तो भी, शृङ्गार-काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता था। आगे चलकर हम देखते हैं कि निर्गुणोपासक प्राणनाथ की पत्नी इन्द्रामती अपने पति के सम्प्रदाय

1. **आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, लेखक—डॉ० एस० पी० खत्री, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में दीक्षित होते हुए भी 'किताब जबूर' में वैष्णव मत की विवेचना करती हैं तथा 'श्री भागवत सार' और 'रामत रहस्य' नामक 'वैष्णव' भक्ति-भावनापूर्ण ग्रन्थों की रचना करती हैं, फिर भी उन्हें निर्गुण धारा की कवयित्रियों के साथ रखा गया है। हम यह नहीं कह सकते कि इन्द्रामन्ती ने अपनी साम्प्रदायिक हठ को तोड़कर कोई गलत काम किया। इसके विपरीत सांस्कृतिक दृष्टि से तो इसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानना चाहिए। इन्द्रामती ने सगुण और निर्गुण सम्प्रदायों की दीवार को ही नहीं वरन् हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच के पर्दे को भी दूर करने का प्रयास किया। जिस प्रकार दाराशिकोह ने 'मजमा-उल्-बहरैं' में हिन्दू धर्म तथा इस्लाम की तुलना करते हुए तथा दोनों के साम्य को प्रकाश में लाते हुए दो विरोधी दलों के विद्वेष को मिटाने की कोशिश की थी, वैसे ही इन्द्रामती ने भी 'सनंधे', 'खुलासा फुरमान', 'खिलवत', 'परिक्रमा' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना करके अभूतपूर्व विद्वत्ता का तो परिचय किया हो, साथ ही एक महान् सन्देश को भी समाज के सामने रखा। किन्तु इनकी इस प्रवृत्ति के पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ थीं, किस भूमि में यह वृक्ष पल्लवित हुआ था—इसको लेखिका ने स्पष्ट नहीं किया। यों इस्लाम के सिद्धान्तों का विवेचन निर्गुण सन्तों के लिए इतना अनोखा नहीं है, किन्तु वैष्णव रागात्मिका भक्ति तथा अनन्य समर्पण की भावना को अपनाकर भी अन्य निर्गुण सन्तों ने कृष्ण या राम की लीलाओं का वर्णन अथवा, राधा-कृष्ण के शृङ्गार का चित्रण सर्वथा त्याज्य समझा था। देखना था कि सन्तों की यह प्रवृत्ति पुरुष निर्गुणोपासकों तक ही सीमित है अथवा स्त्री कवियों में भी पाई जाती है, यदि नहीं (जैसा कि हम प्रस्तुत उदाहरण में देखते हैं), तो क्यों ? साथ ही लेखिका ने यदि सम्प्रदायों के आधार पर मध्ययुगीन स्त्री-कवियों का विभाजन किया होता, उनकी दार्शनिक भावभूमि को स्पष्ट किया होता, तथा पुरुष कवियों की तुलना में उनके अन्तर तथा मौलिकता को स्पष्ट शब्दों में सामने रखा होता तो सारी चीज अधिक सुन्दर और विश्लेषणात्मक होकर हमारे सामने आती, और हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्त्रियों की विशिष्ट देन का मूल्यांकन ठीक-ठीक कर पाते। जब पार्वती कहती है "**चित्त न राखै कामिनी पास**" तो हम स्वभावतः जानना चाहते हैं कि क्या पुरुष कवियों और स्त्री कवियों की धारणाओं में कोई भेद नहीं था, क्या स्त्रियों ने धार्मिक काव्य के क्षेत्र में कोई नया परिच्छेद नहीं जोड़ा ?

एक बात सामग्री के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यद्यपि इस विषय की विशेषज्ञता के अभाव में बहुत अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका ने समस्त सामग्री का उपयोग नहीं कर पाया है। कबीर पंथी माई शाखा में, बावरी सम्प्रदाय में तथा उदासी सम्प्रदाय में कुछ संत कवयित्रियाँ अवश्य रही होंगी। उदासी सम्प्रदाय की सुवचना दासी का नाम तो प्रसिद्ध ही है और दादू की भी एक शिष्या का उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार सम्भवतः वृन्दावन के कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों में भी दीक्षित कुछ भक्त कवयित्रियाँ अवश्य रही होंगी। इस सम्बन्ध में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता जान पड़ती है।

अन्त में एक शब्द 'नारी कवि', 'नारी की सामाजिक स्थिति' तथा 'नारी भावना'—इन तीन वाक्यांशों के भेद को स्पष्ट करने के लिए कहना है। वास्तव में ये तीन अलग-अलग अर्थ-व्यंजक अभिव्यक्तियाँ हैं; किन्तु अक्सर होता यह है लोग 'नारी' शब्द-मात्र को इन तीनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रयुक्त पाकर उन्हें एक ही अर्थ का द्योतक समझ बैठते हैं और प्रायः एक आयतन से दूसरे में संक्रमण कर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यदि हमें 'नारी कवियों' अथवा 'नारी भावना' को देखना है तो उसकी भूमिका रूप में 'नारी की सामाजिक स्थिति' को नहीं देखेंगे। यह तो आवश्यक ही होगा; किन्तु 'नारी कवियों' पर विचार करते हुए साहित्यगत 'नारी-भावना' पर प्रकाश डालना असंगत-सा है। प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे परिच्छेद का शीर्षक है 'हिन्दी पूर्वकाल में नारी'। प्रसंगानुसार हम इस शीर्षक से यही अनुमान लगाते हैं कि हिन्दी में साहित्य-सृजन प्रारम्भ होने से पूर्व साहित्य-रचना के क्षेत्र में नारी का क्या और कैसा हाथ था, इस परम्परा को लेखिका ने देखा होगा। किन्तु जब हम परिच्छेद के अन्तरंग में प्रवेश करते हैं तो लगता है कि लेखिका अपने विषय को भूलकर 'नारी-भावना' के आयतन में फिसल गई हैं और साथ ही ऋग्वेद के समय से लेकर हर्ष के समय तक की नारी की सामाजिक स्थिति के ऊहापोह पर प्रकाश डालने लगी हैं। यह एक प्रकार से अप्रासंगिक ही है। अच्छा होता यदि लेखिका मीरा, सहजो, इन्द्रामती, ताज और प्रवीणराय की परम्परा को अपाला, घोषा, शीला, विज्जा, इन्दुलेखा, थेरियो आदि की शृङ्खला से सूत्रबद्ध करने का प्रयास करतीं। मध्ययुगीन कवयित्रियों का अध्ययन होने के नाते समाज में नारी की स्थिति, उसके अधिकार तथा शिक्षा के अवकाश आदि पर प्रकाश डालना आवश्यक है। लेखिका ने इस विषय को तीन स्थलों पर उठाया है—प्रथम, तीसरे परिच्छेद के आरम्भ में, दूसरी बार तीसरे परिच्छेद के अन्त में और तीसरी बार सातवें परिच्छेद के आरम्भ में (यद्यपि अन्य स्थलों के समान यहाँ शीर्षक द्वारा निर्देश नहीं है)। कहना अत्युक्ति न होगी कि इन परिचयों में वाञ्छनीय गहराई तथा प्रमाणों की कमी है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उससे कृति का महत्त्व घटा हो ऐसी बात नहीं है। अत्यन्त रोचक ढंग से आलोचनात्मक दृष्टिकोण की सजगता के साथ रची गई यह कृति कठिन परिश्रम का फल होगी, इसमें सन्देह नहीं। इसके सभी अध्याय खोजपूर्ण हैं तथा मर्मज्ञता के परिचायक हैं। लेखिका ने इस क्षेत्र को अपनी खोज का विषय बनाकर हिन्दी-साहित्य-संसार के एक अभाव की पूर्ति की है।[1]

राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश

निराशावादी यथार्थ और कल की आशा

"यह परेड ग्राउण्ड", अब्दुल समद ने होंठ भींचकर और धरती पर ज़ोर से हाथ पटकते हुए कहा—"मुहताजों और दुखियों की पनाहगाह है।"

1. लेखिका—डॉक्टर सावित्री सिनहा, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच पूछा जाय तो यह एक वाक्य ही उपन्यास की कथा है, विषय है तथा समस्या है। देहली की जामा मस्जिद और किले के बीच में, अन्य आबाद इमारतों से घिरा यह मैदान भी उतना ही अपाहिज और फकीर है जितने इसमें रहने वाले; और इन दोनों को पहेली, प्रश्न और समस्या का रूप देकर लेखक ने इस उपन्यास की सृष्टि की है। उपन्यास न कहकर इसे कुछ फ़कीरों के संस्मरण, भेंटें, प्रभाव और वर्णन कहा जाय, जो एक जगह इकट्ठे हो गए हैं—उधर यही सब परेड ग्राउण्ड के भौतिक रूप को बनाते हैं—यहाँ उसके साहित्यिक रूप को। यह साहित्यिक रूप समस्या और वस्तु-स्थिति की सत्यता के बावजूद भी उतना ही अनगढ़, असमतल और अनफिनिश है और किसी अच्छे उपन्यास के लिए 'कच्चा माल'-सा लगता है। वह उपन्यास न होकर एक अच्छा रिपोर्ताज ही अधिक है।

परेड ग्राउण्ड में अपनी-अपनी झोंपड़ियों, खाटों या यों ही खुले आसमान के नीचे बसे मुसलमान फ़कीरों के विभिन्न परिवारों—अब्दुल समद, जमाल, मरियम, इब्राहीम, झुनियाँ—में कौशल घुलता-मिलता है—उनसे बातें करता है और सहानुभूति रखता है। वह सभी जगह इतना निर्बाध और निर्विरोध घूमता है; जिससे चाहे उससे ऐसे मिलता है जैसे वह सशरीर व्यक्ति न होकर एक छाया-मात्र है (उपन्यास से ही कोई नाम लेना हो तो कहा जा सकता है, प्रेत है)। बहुत सम्भव है उसे इब्राहीम-जैसे किसी 'पीर' से ऐसी 'सिद्धि' मिल गई हो। **"झुनियाँ, अब्दुल समद, उसका साथी और बड़ी बी सब बुझारतें हैं। समय उनकी उपेक्षा करता है.... कोई उन्हें समझने-बूझने की कोशिश नहीं करता।"** और कौशल वह दिमाग है जो इन्हें समझने के लिए मँडराता है।

समाज के कुछ अंगों ने काम करना बन्द कर दिया है, उनमें से एक अंग यह भी है—वह पक्षाघात-ग्रस्त अंग है। वह करता कुछ नहीं है—लेकिन इस परोपजीविता के अस्तित्व को दुआओं और चमत्कारों से बनाये रखना चाहता है—'परेड ग्राउण्ड' इस समस्या की ओर बौद्धिक एप्रोच है, निष्क्रिय सहानुभूति अर्थात् उत्तरहीन प्रश्न है, जो दृश्य का चिन्तन बनकर रह गया है। फलस्वरूप फ़कीर कैसे खाते, रहते, बातें करते या लड़ते हैं—इन सभी के अच्छे, सच्चे और ईमानदार 'स्टिल' के अतिरिक्त जो भी कुछ है वह ऊपर से लपेटे हुए डोरे या गिलाफ की तरह ही है। हो सकता है दोनों ही एक ही समस्या के दो रूप हों और दोनों अपनी-अपनी जगह सच हों—लेकिन एक-दूसरे के बीच में इतना अन्तराल है कि बहुत से लोगों को तो शायद यह विश्वास ही न आए कि वे सगे भाई भी हैं। यह कलाहीनता जितनी रहबर की असफलता है—उतनी ही आज के समाजद्रष्टा लेखक की विवशता भी। वह ईमानदार भी है और आशावादी भी, लेकिन ईमानदारी उसे प्रकृतिवादी बना देती है, वह दृश्यों का फ़ोटोग्राफ़र बनकर रह जाता है; दूसरी ओर आशावाद उसे उपदेशक और 'प्रोफ़ेट' बना डालता है। यह 'गैप' या अन्तराल आज के हर लेखक में प्रायः मिल जाता है—उस समय लगता है कि क्या सचमुच आज के उपन्यासकार की दृष्टि और सृष्टि प्रेमचन्द की 'आश्रयवादी' रचनाओं से आगे नहीं बढ़ी? उपन्यासकार का 'शिवनेत्र' केवल भविष्य को ही देख पाता है—भूत, भविष्य और वर्तमान के स्वाभाविक, वैज्ञानिक क्रम को क्यों नहीं अपनी तीव्र किरणों से प्रकाश में ला पाता? शिवनेत्र की मर्मभेदी दृष्टि, तीव्रता और शक्ति में हमें अविश्वास नहीं है—लेकिन उसकी व्यापकता अभी पकड़ में नहीं आ पाई है। वह एक निगाह में वर्तमान को देखती है और उसके सूक्ष्म-से-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूक्ष्म रगरेशों को 'एनलार्ज' कर देती है; दूसरी निगाह में भविष्य पर जा पड़ती है।

कलावादियों को छोड़ दिया जाय तो ऐसा लगता है कि नागार्जुन को छोड़कर परेड ग्राउण्ड की असफलता आज के हर लेखक की सीमा है।

भाषा के मामले में श्री रहबर प्रशंसा और छूट दोनों के इसलिए अधिकारी हैं कि उर्दू से हिन्दी में आये हैं।[1]

यह हरिशंकर पारसाई का पहला कहानी-संग्रह है। संग्रह की अधिकांश कहानियाँ निम्न मध्यवर्ग के जीवन को लेकर लिखी गई हैं। कुछ कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं। भूमिका में लेखक ने कहा है कि उसने मनुष्य को जैसे हँसते और रोते देखा है, वैसे ही अपनी कहानियों में चित्रित किया है। परन्तु कहानियों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उसने मनुष्य को केवल रोते देखा है, हँसते नहीं देखा। हाँ, मनुष्य की परिस्थितियों के वैषम्य में उसने पशु को हँसते देखा है। उसे उसने अपने वर्ग के मनुष्य से अधिक सशक्त और प्रसन्न पाया है—यहाँ तक कि उसके प्रति वह उस वर्ग के मनुष्य की स्पर्द्धा जगाना चाहता है। 'मैं नरक से बोल रहा हूँ' शीर्षक कहानी में इस भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु न जाने क्यों लेखक ने जगह-जगह इस भाव को दोहराना उचित समझा है। इसमें जहाँ पुनरुक्ति दोष दिखाई देता है, वहाँ साथ ही लेखक की अपरिपक्वता का आभास भी मिलता है।

प्रभाव की दृष्टि से इस संग्रह की सबसे सफल कहानी है: 'सेवा का शौक'। इस कहानी का मुख्य पात्र है एक सोलह-सत्रह वर्ष का बाल-नवयुवक, जिसे मैट्रिक करते ही एक गांव के स्कूल की मास्टरी करनी पड़ती है। अपनी निर्धनता और उससे उत्पन्न हीनमन्यता से दबा यह अकालप्रौढ़ शिक्षक, अपने वय की अपेक्षाओं को दबाये हुए, किसी तरह इस कार्य का निर्वहण किये जाता है। पारिवारिक-परिस्थितियाँ उसकी विवशता बनकर उसे घेरे हुए हैं। ऐसे में एक शिक्षा-शास्त्री, जो उस स्कूल के संचालक के सम्बन्धी हैं, वहाँ आते हैं और स्कूल का निरीक्षण करते हैं। उन्हें उसकी पढ़ाने की शैली पसन्द नहीं आती। वे चाहते हैं कि वह शिक्षा-शास्त्र की अपेक्षाओं के अनुसार प्रसन्न भाव से बच्चों को पढ़ाया करे। और जब इस दृष्टि से उसकी परीक्षा होने लगती है, तो वह पढ़ाते-पढ़ाते रो देता है....। कहानी की अन्तिम तीन पंक्तियों में प्रकट की गई भावुकता कहानी के प्रभाव में कुछ बाधा डालती है। अच्छा होता यदि लेखक इन पंक्तियों को लिखने के मोह का संवरण कर सका होता।

इस संग्रह की दूसरी सफल कहानी है—'भीतर का घाव', यद्यपि कहानी के वस्तु-संघटन में कुछ शिथिलता आ गई है। कहानी का केन्द्रबिन्दु वही है जो अश्क के एकांकी नाटक 'लक्ष्मी का स्वागत' का है। फिर भी कहानी हृदय-स्पर्शी है और कहानी की अन्तिम पंक्ति में एक आवेश है, जो हृदय पर चोट करता है। निम्न मध्यवर्गीय नैतिकता का जो कुरूप चित्र इस कहानी में दिया गया है, वह इतना परिचित है कि उसके पुनः सामने आने पर 'पुनः' का भाव गौण हो जाता है और उसकी कुरूपता की ही छाप मस्तिष्क पर रह जाती है।

कुछ कहानियों में लेखक ने शैली के नये प्रयोग किये हैं। इन कहानियों में शैली का

1. 'परेड ग्राउण्ड,' लेखक—हंसराज 'रहबर', प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग ही उसका उद्देश्य जान पड़ता है। वस्तु के गौण हो जाने और प्रयोग की अपरिपक्वता के उभर आने से ये कहानियाँ बहुत हल्की पड़ गई हैं। 'रमता जोगी हूँ', 'सुधार', और 'जीवन की कहानी' इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं। 'क्या कहा' और 'साड़ी का रंग' ये अन्त को दृष्टि में रखकर लिखी गई कहानियाँ हैं। ऐसी कहानियों में शिल्प पर जिस अधिकार की अपेक्षा होती है, उसके अभाव में ये कहानियाँ अपेक्षित चमत्कार की सृष्टि तो कर नहीं पातीं, और अन्य किसी वस्तु या निरीक्षणगत विशेषता के अभाव में कोरा प्रयास ही होती हैं। 'क्या कहा' शीर्षक कहानी की संघटन-शिथिलता इस बात में भी है कि लेखक ने पाँच पात्रों को एक कमरे में बैठाया है, जिनकी संख्या कहानी का अन्त आने तक अनजाने ही छः हो जाती है। वहाँ उसने निर्मला और शीला के अतिरिक्त चार नाम और गिनाए हैं। ऐसी कहानियों से, निःसन्देह, एक संग्रह का मूल्य बहुत कम हो जाता है।

साधारणतया संग्रह की सभी कहानियों में पराजित मनोवृत्ति की छाप स्पष्ट झलकती है। 'मैं', जो संग्रह की अधिकांश कहानियों का मुख्य पात्र है, एक ऐसा व्यक्ति प्रतीत होता है, जो अपने चारों ओर के वातावरण से निराश होकर हर ओर नकारात्मक भाव से सिर हिला रहा हो। भिन्न-भिन्न नाम और छद्म होते हुए भी उसका अन्तर्व्यक्तित्व एक है। वह मनुष्य में साहस के संचार की कामना करता है, पर मनुष्य को देने के लिए कोई संकेत उसके पास नहीं है। विश्वास भी उसके पास नहीं है। इस तरह, संग्रह की भूमिका को पढ़कर लेखक के जिस दृष्टि-कोण की कल्पना मस्तिष्क में बन आती है, वह दृष्टिकोण कहानियों में व्याप्त नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने भूमिका के रूप में जो कुछ लिखा है, वह वाक्य-रचना के मोह में पड़कर ही—अनुभूति के आधार पर नहीं। अन्यथा, 'पड़ोसी के बच्चे' और 'भूख का स्वर'-जैसी कहानियों में जो चेहरे उसने देखे हैं, उसके अतिरिक्त मनुष्यों की भीड़ में उसे कुछ और भी चेहरे दिखाई देते—अबोध, चंचल, स्मयमान या आवेशयुक्त चेहरे। वह मनुष्य को अवसाद और प्रतारणा के अतिरिक्त और भी स्थितियों में देख पाता।

कहानियों की भाषा के विषय में भी कुछ कहना अपेक्षित है। लेखक ने कहा है कि उसने कहानियों में अपने बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से या स्थानीय रंग लाने के लिए क्षेत्र-विशेष के मुहाविरे का प्रयोग करना एक बात है। परन्तु बिना ऐसे किसी उद्देश्य के जब बोलचाल की भाषा के नाम पर कोई भाषा में अनगढ़ वाक्यों की भरमार कर देता है तो उसे केवल प्रयोग की दृष्टि से भी स्वीकार्य नहीं समझा जा सकता। **"उन्हें क्या मालूम कि दवा अलमारी में पड़े-पड़े असर थोड़े ही कर सकती है,"** ऐसे-ऐसे वाक्य लेखक के भाषा पर ठीक अधिकार न रखने का ही परिचय देते हैं।[1]

---

१. **'हँसते हैं-रोते हैं', लेखक—हरिशंकर परसाई, प्रकाशक—सुषमा साहित्य-मन्दिर, जबलपुर।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षित

सन्त-काव्य का अध्ययन

सन्त-साहित्य की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग को है। इस प्रेस से सन् १९१५ में सर्वप्रथम 'सन्तबानी संग्रह' का प्रकाशन हुआ था। इन संग्रहों के द्वारा सन्तों के सन्देश और हृदयानुभूति को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया गया था। कालान्तर साहित्य की दृष्टि से भी इनका मूल्यांकन होना प्रारम्भ हुआ। सन्तों की बानियों के साहित्यिक महत्त्व और साहित्य को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करने की परम्परा का प्रारम्भ 'निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री,' से प्रारम्भ होता है। डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने अपनी सूझ और खोज के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि साहित्य के अन्य अंगों के सदृश सन्त-साहित्य का भी अपना महत्त्व और अपनी विशेषताएँ हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के इस प्रयास को सफल और सम्पन्न बनाने में महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया है। इन विद्वानों के चरण-चिह्नों को अपने मार्ग-प्रदर्शन का माध्यम मानकर अनेक व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। दरिया साहब, मलूकदास, सुन्दर दर्शन, चरनदास, रैदास, जगजीवन साहब और शिवनारायण साहब का अध्ययन इसी परम्परा में हुआ है। सन्तों के सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्त्व ने हिन्दी के विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।

'सन्त-काव्य' का स्मरण करते ही हमें 'सन्त-जीवन', सन्तों की 'रहनी', करनी, 'कथनी और करनी' का ध्यान होता है। यह सन्त-काव्य सन्त-जीवन का स्पष्ट और उपयोगी शब्द-चित्र है। सन्त-काव्य के अन्तर्गत सरल भाषा, सहज अनुभूतिपूर्ण उद्गाराभिव्यक्ति और जन-कल्याण की तीन विभिन्न धाराओं का सुन्दर समन्वय है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह विशाल, गौरव-सम्पन्न और प्रभावशाली है। सन्त-काव्य प्राणवान्, सबल और निर्दोष जीवन-दर्शन का प्रकाश-पुञ्ज है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'सन्त-काव्य' में इन्हीं विशेषताओं को प्रामाणिक रूप से जनता के समक्ष रखने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन और रचना का लक्ष्य श्री चतुर्वेदीजी से ही सुनिए : **"अपनी पुस्तक 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' की प्रस्तावना में मैंने कहा था कि उसका सम्बन्ध प्रधानतः सन्तों की परम्परा के ही परिचय से है, उनके मत एवं साहित्य का परिचय देने के लिए अन्य दो पुस्तकों की आवश्यकता होगी। इस विचार से मैं 'सन्त-साहित्य की रूपरेखा' नाम से एक पुस्तक लिखने की सामग्री एकत्र करने लगा था। सन्त-साहित्य में....हस्तलिखित पुस्तकों में से भी अनेक का दुष्प्राप्य होना तथा उपलब्ध प्रतियों का भी अधिकतर संदिग्ध पाठों के ही साथ मिलना इस प्रकार की बाधाएँ हैं, जिनके कारण विलम्ब होना अनिवार्य था।.......मुझे यह उपयोगी जान पड़ा कि सन्तों की काव्य-रचना-शैली का भी एक परिचय दे दिया जाय और इसके लिए उनकी पद्यात्मक रचनाओं में से कुछ को चुनकर तब एक छोटा-सा संग्रह प्रकाशित कर दिया जाय। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से किये गए प्रयत्न का फल है.........।"**

'सन्त-काव्य' के विषय का प्रसार और प्रतिपादन पाँच सौ अस्सी पृष्ठों में हुआ है। इस ग्रन्थ का विषय दो भागों में विभाजित है। प्रथम भूमिका-खण्ड और द्वितीय भाग संग्रह-कोष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जिसमें सन्तों की बानियों और विचार-रत्नों को बहुत ही सँजोकर रखा गया है। भूमिका में सन्त-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। विद्वान् आलोचक ने इस खण्ड में अपने विचारों का प्रकाशन 'काव्य-परिचय', 'हिन्दी-काव्य-धारा', 'सन्त-परम्परा', 'सन्त-मत', 'सन्त-साहित्य', 'सन्त-काव्य', 'काव्य का आदर्श', 'रहस्यवाद', 'दाम्पत्य-भाव', 'रस', 'अलंकार' 'उलटबासी', 'प्रकृति-चित्रण', 'संगीत-प्रेम', 'छन्द-प्रयोग', 'भाषा' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत किया है। इन शीर्षकों के अन्तर्गत आलोचक ने सन्त-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। लेखक का विशेष ध्यान संगृहीत पद्यों के सौन्दर्य और रचना-पद्धति पर केन्द्रित है। इस प्रसंग में ऐसे उदाहरणों के द्वारा स्वमत का समर्थन भी किया गया है, जिनका साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाता है। इस विवेचन से आलोचक का एक ही मत प्रतिभासित होता है कि "सन्तों के अनुसार निश्चित काव्य के आदर्श, उनके संगीत-प्रेम, उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों की विविधता तथा उनकी भाषा के बहुरंगे प्रेमपन की भी चर्चा की गई है और यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार से वे इन सभी बातों के प्रति प्रायः उदासीन-से रहते आए हैं। काव्य के स्वरूप से कहीं अधिक ध्यान उन्होंने उसके विषय की ओर ही दिया था और उसे भी सदा अपने व्यक्तिगत रंग में ही रँगकर दिखलाया।" इस प्रसंग के अन्तर्गत सन्त कवियों के काव्य-बहिरंग पर भी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। लेखक ने इन बानियों में सन्निहित सौन्दर्य, माधुर्य और मर्म-स्पर्शी उक्तियों को अनुभूति की कसौटी पर कसकर उन्हें समाज और धर्म के लिए समान रूप से उपयोगी प्रमाणित किया है। इस विषय में आलोचक का मत निष्कर्ष के रूप में पठनीय होगा। "वास्तव में सन्त लोग साहित्यिक नहीं थे और न उनकी रचनाओं को साहित्यिक मानदण्ड के अनुसार परखना ही उचित है। उनकी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अनेक दोष मिल सकते हैं और उनके पद्यों में छन्दोनियम का पालन बहुत कम पाया जा सकता है। उनके साधना-सम्बन्धी विवरणों में नीरस पंक्तियों की ही भरमार दीख पड़ेगी और उनके उपदेशों में भी कोई आकर्षण नहीं जान पड़ेगा।" इन पंक्तियों को पढ़ जाने के बाद पाठकों को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह स्थिति सभी सन्तों के साहित्य की नहीं है। सुन्दरदास सन्त-काव्य के श्रेष्ठ कवि हैं, गरीबदास और चरनदास के विषय में यही कह सकते हैं। दादू को भी सरलता के साथ इसी श्रेणी में गिना जा सकता है। इनके काव्य में दोष नहीं के बराबर हैं। सन्तों में बहुत-से ऐसे कवि हैं जिनका साहित्य श्रद्धालु भक्तों की स्मरण-शक्ति पर ही जीवन प्राप्त करता रहा है। इस दशा में छन्दोभंग, भाषा की अनेकरूपता और व्याकरण-विषयक भूलों के लिए ये सन्त कवि ही पूर्णतया उत्तरदायी नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्होंने काव्य की रचना सन्देश-प्रसार के लिए की थी, 'यशसेऽर्थकृते' आदि लक्ष्यों से प्रेरित होकर नहीं। संगीत-प्रेम आदि की दृष्टि से सन्तों के साहित्य का अध्ययन शायद हिन्दी में सर्वप्रथम चतुर्वेदी जी द्वारा सम्पन्न हुआ है। सन्तों का रहस्यवाद बड़ा दुरूह विषय बना दिया गया है, यद्यपि वह था नहीं। रहस्यवाद की परिभाषाओं को आलोचकों ने और भी दुरूह और रहस्यपूर्ण बना दिया है। चतुर्वेदीजी ने अपनी सुलझी हुई विचार-धारा और सुसंस्कृत चिन्तन के कारण इसे बहुत सरल स्वरूप प्रदान किया है। मेरी दृष्टि से इस भूमिका-खण्ड का सबसे रोचक और महत्त्व-पूर्ण परिच्छेद है सन्तों की 'दाम्पत्य-भावना'। दाम्पत्य-भाव सन्तों का सबसे प्रिय प्रतीक था। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक का प्रयोग बड़ा प्राचीन है। उपनिषदों में भी इसके उदाहरणों का उल्लेख मिलता है। सन्तों में इसका प्रयोग सूफी प्रभाव का द्योतक है। प्रभावित होते हुए भी उनमें अपनी मौलिकता थी और उनमें भेद था। इस भेद को चतुर्वेदीजी ने बड़े स्पष्ट रूप से पृष्ठ उनसठ पर अंकित किया है। इसी प्रकार का सूक्ष्म चिन्तन 'रस' उपशीर्षक के अन्तर्गत उपलब्ध होता है।

भूमिका-खण्ड से आलोचक की सुस्पष्ट चिन्तन-धारा, सूक्ष्म पर्यालोचन और बात की तह तक पहुँचने की प्रवृत्ति का ज्ञान हो जाता है। भाषा प्रसंगों और विषयों के उपयुक्त है। सन्तों की पद्धति एवं सन्त-काव्य को समझने में प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका सहायक होगी। सन्तों की भाषा पर आलोचक ने बहुत संक्षेप में अपने मत को प्रकट किया है। कहना न होगा कि यह विषय विस्तार की अपेक्षा रखता है।

संग्रह-खण्ड में सन्त-काव्य के सड़सठ कवियों की बानियाँ और पद संग्रहीत हैं। इस संग्रह का काल-विभाजन चार युगों में किया गया है। प्रथम युग सं० १२०० से १५५० तक माना गया है। इसका नामकरण प्रारम्भिक युग है। इसके प्रमुख कवि हैं नामदेव, पीपा, रामानन्द, कबीर, रैदास, कमाल, धन्ना, त्रिलोचन, सेन आदि। उल्लेखनीय बात इस प्रसंग में यह है कि कमाल, धन्ना, वेणी, रामानन्द तथा सेन नाई आदि की रचनाएँ सामान्यतया कहीं उपलब्ध नहीं होती हैं। रामानन्द के सम्बन्ध में अयोध्या और फैजाबाद जिलों के अनेक भक्तों से कुछ छन्द सुने और पाये जाते हैं। पर उनकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध की जाय? रामानन्द की रचनाओं के सदृश ही वेणी, सेन, धन्ना आदि की रचनाएँ हैं जिन पर हमारा मन जमकर नहीं बैठता है। लेकिन प्रसन्नता की बात है कि चतुर्वेदीजी ने बड़े परिश्रम से उक्त कवियों की रचनाएँ संग्रहीत की हैं। यदि 'भूमिका' में इन कवियों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर भी विचार हो जाता तो और अच्छा होता। संग्रह का द्वितीय युग है संवत् १५५० से १७०० तक, जिसका नामकरण मध्ययुग (पूर्वार्द्ध) हुआ है। शेख फरीद, गुरु अङ्गद, अमरदास जी, रामदास जी, बावरीसाहिबा, आनन्दघन, गुरु तेगबहादुर, हरिदास, अर्जुनदेव, मलूकदास इस युग के उज्ज्वल रत्न हैं। इन सभी कवियों की रचनाएँ अन्यत्र प्रकाशित और संग्रहीत हैं। पर चतुर्वेदी जी को इस बात का श्रेय है कि इसमें उन्होंने प्रत्येक कवि की श्रेष्ठ साखियों का संकलन कर दिया है जो कवियों की आत्मा पहचानने में सहायक होती हैं। साथ ही विषय की दृष्टि से संकलन वैज्ञानिक और प्रत्येक दिशा में प्रकाश फैलाने वाला है। मध्ययुग का उत्तरार्द्ध सं० १७००-१८५० तक है। यह सन्त-काव्य का तृतीय युग है जिसके बाबालाल, तुरसीदास, रज्जबदास, गुरु गोविन्दसिंह, किनाराम, रामचरन, आदि कवियों की रचनाएँ बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होती हैं। चतुर्वेदीजी ने इनका संकलन मौलिक आधारों से किया है। इसके लिए उन्हें कितना भटकना पड़ा होगा यह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है। इन कवियों को सामने लाने का आवश्यक कार्य इस ग्रन्थ द्वारा सम्पन्न हुआ। ग्रन्थ का अन्तिम और चतुर्थ काल है आधुनिक युग; जिसका प्रारम्भ सं० १८५० से होता है। इसमें भी कुछ ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पहली बार हमारे सामने प्रामाणिक रूप से आ रही हैं; उदाहरणार्थ रामरटसदास, निश्चलदास तथा सन्त सालिगराम आदि। इस युग की सूची अत्यन्त संक्षिप्त है। आशा है भविष्य में यह संकलन और भी अधिक धनी बनेगा। इस संग्रह के विषय में चतुर्वेदीजी का कथन है कि **"सन्त-परम्परा के अन्तर्गत साधारणतः वे ही सन्त सम्मिलित किये जाते हैं, जिन्होंने कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पथ-प्रदर्शक माना है और उनमें ऐसे अन्य सन्तों की भी गणना कर ली जाती है जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों को किसी-न-किसी रूप में अपनाया। इसके सिवाय उसमें कभी-कभी ऐसे महात्माओं को भी स्थान दिया जाता है जो 'सूफी, वेदान्ती, सगुणोपासक, जैन वा नाथपन्थी समझे जाते हुए भी, अपने विचार-स्वातन्त्र्य एवं निरपेक्ष व्यवहार के कारण सन्तवत् माने जाते हैं। इस संग्रह में ऐसे सभी प्रकार के सन्तों की कुछ-न-कुछ बानियाँ संग्रहीत हैं। इनका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न युगों के आधार पर किया गया है और प्रत्येक युग की प्रवृत्ति-विशेष का परिचय देने के लिए उसके पहले सामान्य परिचय जोड़ दिया गया है।'' इसमें सन्देह नहीं है कि संग्रह बड़े परिश्रम के साथ किया गया है और इतना सुन्दर सन्त-काव्य-संग्रह अभी तक हिन्दी में सम्पादित नहीं हुआ। एतदर्थ चतुर्वेदीजी धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं। [1]

मोतीसिंह

शिक्षा, साहित्य और जीवन

विनोबा का जीवन-दर्शन आज के विभिन्न संघर्षों और विकृतियों से आक्रान्त मनुष्य के लिए एक नया सन्देश है। उस सन्देश में अपूर्व स्फूर्ति और प्रेरणा है जो केवल कोरे उपदेशक में नहीं होती; क्योंकि विनोबा ने जिस सत्य और दर्शन की स्थापना की है उसे उन्होंने जीवन से, उसके अनुभूत प्रत्यक्ष ज्ञान और चिन्तन से पाया है। इसीसे उनकी वाणी और लेखनी में आस्था, विश्वास (conviction) और अधिकार (authority) ध्वनित होती हैं। उनका जीवन-दर्शन है—मनुष्य में पुरुषार्थ का तेज जगाना, व्यक्ति में समष्टि की चेतना पैदा करना और जीवन से बढ़ते हुए पार्थक्य को समाप्त करके उसके प्रति सच्ची निष्ठा और प्रेम पैदा करना। शिक्षा, समाज-दर्शन, काव्य, अर्थ-शास्त्र सभी की परीक्षा करते हुए वे मूल रूप से इन्हीं सिद्धान्तों को लागू करते हैं। **''ज़िन्दगी की ज़िम्मेदारी कोई डरावनी चीज़ नहीं है। वह आनन्द से ओत-प्रोत है....।'' ''जिन्दगी की ज़िम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है।''** इसी आधार पर शिक्षण-व्यवस्था या दूसरी प्रकार की योजना बनाने की सलाह वे देते हैं। **''शिक्षा कर्तव्य कर्म का आनुषंगिक फल है।''** ऐसी ही शिक्षा से आज के जीवन में व्याप्त असन्तुलन, एकांगिता और व्यवहारहीनता दूर हो सकती है। इसी को वे कहते हैं: **''अविरोध वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है।''** अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इसीलिए वे कहते हैं कि घर, पाठशाला और समाज तीनों को आधार बनाकर बालकों के चरित्र और विचार का निर्माण होना चाहिए। **''मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओर से**

१. लेखक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—किताब महल, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे।" ऐसे ही शिक्षा हमारे देश की बेकारी, असंगति और बनावट को दूर कर सकती है। गांधीजी की शिक्षा-पद्धति ने इसी का निर्देश किया था जो बेसिक-शिक्षा, वर्धा-योजना आदि भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित हुई। रूसो, स्पेन्सर, हरबर्ट, पास्टेलाजी, माण्टेसरी और डिवी आदि ने बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ की हैं और वे उपयोगी भी हैं किन्तु उसमें इस देश के काल, परिस्थिति और आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया जा सका है। शिक्षा 'कर्त्तव्य कर्म का आनुषंगिक है' इसका सीधा तात्पर्य यही है कि देश और समाज की आवश्यकता को देखते हुए जो कारणीय है, उसी दिशा में शिक्षा की नियोजना होनी चाहिए। शिक्षण का कार्य **'तेजस्वी विद्या'** का अर्जन करना है। उस तेजस्वी विद्या से "आप निजाधार बनें, निराधार न रहें।" जो हमारे पुरुषार्थ को उद्दीप्त करे, वही विद्या अपेक्षित है। **"बाल तो वह होता है जो बलवान है, जो मानता है कि यह सारी दुनिया मेरे हाथ में मिट्टी-जैसी है, उसकी जो भी चीज मैं बनाना चाहूँगा, बना लूँगा।"** इसीलिए शिक्षा और जीवन से परिश्रम की उपादेयता पर बराबर ही विनोबाजी ने जोर दिया है। परिश्रम में उत्साह और लगन रखना ही पुरुषार्थ और तेजस्विता है। इससे भागना कायरता है। प्रतिभा का बीज, व्यक्तित्व का प्रस्फुरण ऐसे ही स्वेच्छा श्रम से होता है। **"श्रीकृष्ण बचपन में हाथों से काम करता था, मेहनत-मज़दूरी करता था, इसीलिए गीता में इतनी स्वतन्त्र प्रतिभा का दर्शन हमें होता है। हमें ढेर-की-ढेर विद्या हासिल नहीं करनी है, तेजस्वी विद्या हासिल करनी है।"**

शिक्षा विनोबाजी के लिए एक सामाजिक समस्या है और उसीके अनुबन्ध में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका सामाजिक दर्शन श्रम की समानता और परिणामस्वरूप व्यक्ति की समता पर आधारित है। **"मतलब यह कि हर एक उपयुक्त परिश्रम का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्राचीन धर्म का आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़े भारी शूद्र-वर्ग का निर्माण कर दिया।"** इस प्रकार सामाजिक तथा आर्थिक समता पर आधारित समाज-रचना ही उनका जीवन-दर्शन है।

विनोबाजी की विचार-सरणी जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से प्रादुर्भूत है। वह सभी सन्तों की तरह पुस्तकीय ज्ञान को अनावश्यक मानते हैं और ज्ञान को जीवन में ढूँढने का बराबर उपदेश देते हैं। **"पुस्तक में अर्थ नहीं रहता, अर्थ सृष्टि में रहता है।"** जीवन से ही सत्य को ग्रहण करने का आग्रह इतना प्रबल है कि कभी-कभी आक्रोश के स्वर में विनोबाजी इसकी महत्ता समझाते हैं। **"....जहाँ सम्भव हो, पोथी में आँखें न गड़ाना, या कहिए आँखों में पोथी न गड़ाना, यह सयानेपन की पहली धारा है। शीशी को हम रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो, चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।"**

साहित्य और कला के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार विनोबाजी के विचार स्पष्ट और प्रखर हैं। साहित्य का उद्देश्य सत्य की अभिव्यक्ति और समाज तथा राष्ट्र की मंगल-साधना है। इसी से साहित्य में शैली-साधना और अलंकरण-विधान के वे विरोधी हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि **"इन शैली-भक्तों ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग शुरू किया है।"** उनकी दृष्टि में सच्चा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि और कलाकार वही हो सकता है जो 'मन का मालिक' है। "जिसने मन नहीं जीता वह ईश्वर की सृष्टि का रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टि का ही नाम काव्य है।" "कवि में 'लोक-हृदय को यथावत् संप्रकाशित' करने का सामर्थ्य होना चाहिए।" इसके लिए उसे सत्य-द्रष्टा होना पड़ेगा। उस सत्य को पाने के लिए उसे जीवन पर दृष्टि डालनी होगी, उसे 'अध्यक्ष' बनना पड़ेगा अर्थात् उसकी दृष्टि समग्र विश्व पर होनी चाहिए, तब वह अपने साहित्य में अन्तः और बाह्य जगत् में पूर्ण संगति ला सकेगा। सुकरात की तरह इन्होंने भी काव्य को अपने में कोई महत्त्व नहीं दिया है। वह उसी अनुपात से महत्त्वपूर्ण है जिसमें वह जीवन के सत्य का उद्घाटन करता है। यह सत्य ही विश्व-मंगल का पर्याय है।

विनोबाजी के विचारों को थोड़े में व्यक्त करने और कहने में कठिनाई है, क्योंकि उनकी अन्तर्दृष्टि इतनी पैनी और सत्य की पकड़ ऐसी अचूक है जो उनके प्रत्येक वाक्य और शब्द को आवृत किये है। शब्द की मितव्ययता और अर्थ की गहनता का अपूर्व संयोग विनोबाजी की शैली में है। नित्य जीवन के व्यापार में ही उन्होंने बड़े-से-बड़े सत्य को देखा है और इसी से उनके कथन में चमत्कार के साथ ही प्रभावोत्पादन की अपूर्व क्षमता है।

विनोबाजी मूलतः अन्तःशुद्धि और बहिष्कार पर जोर देते हैं। नये समाज की रचना में इसकी उपयोगिता सर्वमान्य है। किन्तु भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के परस्परावलम्बन की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। नये समाज की भौतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ ही हमारे संस्कारों और विचारों को उन्नत बनाने का प्रयास किया जायगा तो सफलता शीघ्र और असंदिग्ध होगी, अन्यथा विनोबाजी का दर्शन सत्य और तपःपूत रहते हुए भी व्यावहारिक नहीं बन पायगा। विनोबाजी के प्रयास की सराहना और उनके दर्शन को स्वीकार करते हुए भी इतना नम्र निवेदन आवश्यक है।[1]

प्रभुदयाल मीतल

भूषण का जीवन-वृत्त और साहित्य

हिन्दी-क्षेत्र के विस्तार और हिन्दी-छात्रों की संख्या-वृद्धि के साथ-ही-साथ हिन्दी-कवियों के जीवन-वृत्तान्त और उनकी कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही है। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से प्रकाशित की गई है। इसके लेखक हिन्दी के पुराने साहित्यकार श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित हैं, जो पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से भूषण-सम्बन्धी शोध कर रहे हैं। उन्होंने भूषण-सम्बन्धी प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध कई नवीन तथ्य प्रमाणित किये हैं और भूषण के काव्य का नये दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया है। प्रस्तुत पुस्तक एक अधिकारी विद्वान् की कृति है। इसमें जीवनी, रचना, आलोचना और संग्रह नामक चार खण्ड हैं। पुस्तक की आरम्भिक 'अवतरणिका' में प्राचीन साहित्य में वीर-काव्य का अभाव, वीरगाथा-काव्य की

१. लेखक—विनोबा भावे, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरर्थकता और भूषण के काव्य की पृष्ठभूमि पर ऐतिहासिक विवेचन द्वारा विचार किया गया है।

पुस्तक का प्रथम 'जीवनी खण्ड' लेखक-कृत अनेक वर्षों की शोध पर आधारित होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक के अधिकतर वे ही विचार हैं, जिन्हें वे अपने कई लेखों और 'भूषण-विमर्श' नामक ग्रन्थ में अब से कम-से-कम पन्द्रह वर्ष पूर्व प्रकट कर चुके थे। यद्यपि ये विचार पुराने हैं, तथापि उनके द्वारा भूषण-सम्बन्धी कई प्रचलित किंवदन्तियों का ठोस प्रमाणों द्वारा खण्डन होने के कारण उनका अब भी उतना ही महत्त्व है, जितना पन्द्रह वर्ष पूर्व था। भूषण के विषय में यह किंवदन्ती बड़ी प्रसिद्ध है कि वे औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति के प्रतिकार के लिए शिवाजी महाराज के पास गये थे और उनको अपना सुप्रसिद्ध कवित्त—'इन्द्र जिमि जंभ पर'''त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है'—सुनाया था। इस कवित्त के कारण वे शिवाजी से पुरस्कृत हुए थे और उनके दरबार में रहकर उन्होंने अपने विख्यात ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' की रचना की थी। दीक्षितजी का मत है कि भूषण का जन्म शिवाजी की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् सं० १७३८ में हुआ था, अतः उनका शिवाजी से भेंट करना और उनके आश्रय में रहना भ्रमपूर्ण कथन है। भूषण शिवाजी के पौत्र शाहू महाराज के समकालीन थे और उनको ही उन्होंने अपना वह कवित्त सुनाया था। वे शाहू महाराज से ही पुरस्कृत हुए थे और उन्हींके आश्रय में उन्होंने सितारा नगर में 'शिवराज भूषण' की रचना सं० १७७३ में की थी। अपने इस क्रान्तिकारी मत के समर्थन में दीक्षितजी का सबसे बड़ा तर्क यह है कि भूषण के जितने आश्रयदाताओं के नाम प्रसिद्ध हैं, उनमें से छत्रसाल के अतिरिक्त अन्य सभी शिवाजी महाराज के परवर्ती थे। उन्होंने सन्त तुकाराम के एक पत्र का भी हवाला दिया है, जिसमें भूषण को शाहूजी का आश्रित कवि लिखा गया है। 'शिवराज भूषण' के छन्द सं० २८ से ज्ञात होता है कि चित्रकूट-नरेश हृदयराम ने उनको 'भूषण' की उपाधि दी थी। इससे यह प्रकट है कि भूषण उनका नाम नहीं था। उनका वास्तविक नाम क्या था, इसके उत्तर में कई विद्वानों ने अपने अनुमान उपस्थित किए हैं। पं० बदरीदत्त पांडे-कृत कुमायूँ के इतिहास में वर्णित एक प्रसंग के आधार पर दीक्षित जी का मत है कि भूषण का मूल नाम 'मनिराम' था। प्रचलित मान्यता के अनुसार भूषण के तीन भाई थे—चिन्तामणि, मतिराम और नीलकण्ठ; किन्तु दीक्षितजी का मत है कि चिन्तामणि ही भूषण के सहोदर भाई थे, मतिराम और नीलकण्ठ नहीं। मतिराम तो उनके सहगोत्री भी नहीं थे, किन्तु वे उनके समकालीन और घनिष्ठ मित्र अवश्य थे। सम्भव है, मामा-फूफा के नाते भाई भी हों। दीक्षित जी के मतानुसार भूषण का जन्म-स्थान बनपुर था, जहाँ पर वे सं० १७५८ तक—अपनी २० वर्ष की अवस्था तक—रहे थे। इसके पश्चात् वे त्रिविक्रमपुर (तिकमापुर, जिला कानपुर जाकर बस गए थे। भूषण के जीवन-वृत्तान्त की इस शोध के कार्य से दीक्षित जी को कई लम्बी यात्राएँ करनी पड़ी थीं, इन यात्राओं में उन्होंने जिन प्राचीन प्रमाणों का संग्रह किया था, उनके अध्ययन और अनुसन्धान के अनन्तर उन्होंने अपना मत निश्चित किया है; अतः इस खण्ड की सामग्री महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं।

द्वितीय रचना-खण्ड पहले खण्ड की अपेक्षा बहुत छोटा है। इसमें केवल दो परिच्छेद हैं, जिनके शीर्षक हैं रचनाओं की विचार-धारा और फुटकर कविताएँ। भूषण-कृत दो ग्रन्थ 'शिवाबावनी' और 'शिवराज भूषण' प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'भूषण हजारा', 'भूषण उल्लास' और 'दूषण उल्लास' भी उनके ग्रन्थ कहे जाते हैं, किन्तु वे अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। भूषण के दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध ग्रन्थ वीर-रस के हैं, किन्तु उनके रचे हुए श्रृङ्गार-रस के कुछ छन्द भी प्राप्त हुए हैं। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने भूषण-कृत श्रृङ्गार-रस के अनेक छन्द खोजकर प्रकाशित कराये थे। इन छन्दों में अधिकांश नायिका-भेद से सम्बन्धित हैं। ऐसा अनुमान होता है कि अपने अग्रज चिन्तामणि के अनुकरण पर उन्होंने आरम्भ में श्रृङ्गार-रस के छन्दों की रचना की थी, बाद में औरंगजेब के अत्याचारों से उनको वीर-रस के छन्द रचने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इस खण्ड में दीक्षित जी ने भूषण के काव्य की आलोचना ही की है, जो वस्तुतः तृतीय खण्ड का विषय है। इस खण्ड को पृथक् रखने की आवश्यकता नहीं थी। इसकी सामग्री सरलतापूर्वक तृतीय खण्ड में मिलाई जा सकती थी।

तृतीय आलोचना-खण्ड सबसे बड़ा है। इसमें भूषण के काव्य की विस्तृत आलोचना की गई है। 'शिवराज भूषण' का निर्माण-काल अधिकांश लेखकों ने सं० १७३० वि० मानी है, किन्तु दीक्षितजी ने इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से ही यह सिद्ध किया है कि इसमें वर्णित अधिकांश घटनाएँ सं० १७३० के पश्चात् की हैं, अतः इसका निर्माण-काल उक्त संवत् के बाद का होना चाहिए। दीक्षितजी के मतानुसार इसकी रचना सं० १७७३ वि० में हुई थी। 'शिवा बावनी' की रचना 'शिवराज भूषण' से पूर्व की है, इसमें मतभेद नहीं है। इस खण्ड में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत भूषण के काव्य की विस्तृत आलोचना की गई है।

भूषण कवि उस काल में हुए, जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'रीति काल' के नाम से प्रसिद्ध है। उस काल के कवियों ने श्रृङ्गार-रस की रचनाएँ रीतिबद्ध मुक्तक काव्य के रूप में की हैं। भूषण ने अपने काल की धारा के विरुद्ध अपना काव्य वीर-रस में तो लिखा, किन्तु उसका स्वरूप उन्होंने भी रीतिबद्ध मुक्तक काव्य ही रखा। उन्होंने 'शिवराज भूषण' के आरम्भ में लिखा है :

सिव-चरित्र लखि यों भयौ, कवि भूषन के चित्त।
भाँति-भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त॥

उन्होंने शिवाजी के चरित्र का कथन अवश्य किया है, किन्तु उनका लक्ष्य अलंकारों का वर्णन करना भी रहा है। सच बात तो यह है कि 'शिवराज भूषण' वीर-रस का अलंकार-ग्रन्थ पहले है, और शिवाजी का चरित्र बाद में। ऐसी स्थिति में भूषण के काव्य की आलोचना करते समय आलोचक को यह बतलाना चाहिए कि कवि अपनी रचनाओं में वीर-रस की निष्पत्ति करने में कहाँ तक सफल हुआ है और उसका अलंकार-वर्णन किस कोटि का है। दीक्षितजी ने वीर-रस के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखा भी है, यद्यपि इसका और भी विस्तृत विवेचन होना आवश्यक था, किन्तु उनका अलंकार-वर्णन तो बहुत ही संक्षिप्त—केवल साढ़े तीन पृष्ठों का ही है।

चतुर्थ संग्रह-खण्ड में भूषण-कृत कतिपय छन्दों का संकलन है। यह संग्रह अधूरा और छोटा है। इसमें संकलित छन्द इस कोटि के नहीं हैं, जिनसे भूषण के काव्य का यथार्थ महत्त्व ज्ञात हो सके। इन छन्दों को पढ़कर पाठक के मन पर भूषण के काव्य की वैसी छाप नहीं पड़ती, जैसी लेखक ने आलोचना-खण्ड में डालने की चेष्टा की है।

भूषण हमारे राष्ट्रीय कवि थे। उनका काव्य कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है, किन्तु दीक्षितजी ने उसके महत्त्व का मूल्यांकन करने में कुछ अतिशयोक्ति से काम किया है। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि भूषण ने राष्ट्र-निर्माण के उद्देश्य से समस्त भारत में भ्रमण किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अपने समय के समस्त हिन्दू राजाओं को संगठित किया। उन्होंने अपने ओजस्वी काव्य से हिन्दू-नरेशों में नई जान डाल दी और उनके द्वारा शक्तिशाली मुगल-शासन का अन्त करा दिया। यह कथन कुछ अंश में सत्य भी है, किन्तु दीक्षितजी ने इसका जिस प्रकार वर्णन किया है, उसमें अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है।

भूषण के काव्य का महत्त्व बतलाते हुए दीक्षितजी ने संस्कृत और हिन्दी के शृङ्गारी कवियों के साथ-ही-साथ हमारे सन्त और भक्त-कवियों के साथ बड़ा अन्याय किया है। उनका कहना है कि भास, कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष आदि ने तो देश में स्त्रैणता का प्रसार किया ही, तुलसी और सूर आदि ने भी उसी भावना को बल दिया। उनका यह भी मत है कि सन्त-कवियों ने वैराग्य का महत्त्व बढ़ाकर हमारे उत्साह को मन्द कर दिया!! दीक्षितजी का यह कथन कितना लचर है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। तुलसी-सूर का काव्य स्त्रैणता को बल देने वाला और सन्त-कवियों का काव्य उत्साह को मन्द करने वाला बतलाना सरासर भ्रमात्मक है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी कमी है—भाषा और छापे की अशुद्धियाँ, इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों उत्तरदायी हैं। यदि प्रकाशक पुस्तक को शुद्ध रूप में प्रकाशित करने की अपनी जिम्मेदारी समझता है, तो उसके द्वारा लेखक की साधारण अशुद्धियाँ भी दूर हो जाती हैं। इस पुस्तक का प्रकाशक शायद इस प्रकार की अपनी जिम्मेदारी का अनुभव नहीं करता है। इसीलिए इस पुस्तक में लेखक और प्रकाशक दोनों की अगणित अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। पुस्तक के पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि इसके लेखक शुद्ध भाषा लिखने के अभ्यासी नहीं हैं और विरामादि चिह्नों को यथास्थान लगाना तो शायद उन्होंने सीखा ही नहीं। पुस्तक की आरम्भिक अवतरणिका से अन्त तक का कोई पृष्ठ नहीं जिसमें भाषा और छापे की भूलें न हों। दीक्षितजी-जैसे पुराने लेखक की ऐसी भद्दी भाषा देखकर आश्चर्यपूर्ण खेद होता है। इस पुस्तक की ऊबड़-खाबड़ और अस्तव्यस्त भाषा के कुछ उदाहरण हम आरम्भिक पृष्ठों से ही देते हैं:

"यह चन्दबरदाई का रचा एक बहुत बड़ा ग्रन्थ माना जाता है जो कि पृथ्वीराज का दरबारी कवि और मन्त्री था।"[1]

"अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में औरंगजेबी शासन देश में प्रतिष्ठित होता है इसकी शासन-प्रणाली अपने पूर्वजों से भिन्न थी अतः हिन्दुओं, शिया मुसलमानों और परिवार वालों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये थे।"[2]

"इसीलिये हम इस महाकवि की रचना का गम्भीर अध्ययन करना चाहिये तभी हमें आगे बढ़ने के लिये पथ पा सकते हैं।"[3]

"इनके पिता रत्नाकर बड़े ही सात्विक ब्राह्मण और तपस्वी वृत्ति से समय यापन करते थे।"[4]

"अन्त में जब कोई उपाय चलता न देखकर भूषण महाकवि से सहायता की

१. अवतरणिका, पृष्ठ ४।
२. अवतरणिका, पृष्ठ ८।
३. विषय-प्रवेश, पृष्ठ ५।
४. पृष्ठ १२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याचना की।"[1]

"परन्तु अब तक इनके संबंध के कोई छन्द प्राप्त नहीं हो सका है और न उक्त सुरकी विषयक-छन्दाँशाही पूरा हो पाया है।"[2]

"कवि ने देह के नाशवान की चर्चा करते हुए पुनर्जन्म में किस रूप में रहें इसकी चिन्ता त्यागकर इससे उत्कृष्ट रूप और परोपकार में संलग्न रहने की शिक्षा दी है।"[3]

"कुछ तथ्य निर्णयात्मक रूप में पाठकों एवं साहित्यिकों के सन्मुख रखी जा सकी हैं।"[4]

पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों के उपर्युक्त नमूनों से यह सिद्ध है कि इस पुस्तक की भाषा कितनी अनगढ़, व्याकरण-विरुद्ध और विरामादि चिह्नों से रहित है। इसमें अनेक शब्दों का किस प्रकार अशुद्ध प्रयोग हुआ है, इसके उदाहरण के लिए आरम्भिक 'विषय-प्रवेश' के पृष्ठ १ में 'कलुषितपूर्ण' शब्द द्रष्टव्य है। इसमें छापे की अशुद्धियों के कारण अनेक शब्द किस प्रकार भ्रष्ट हो गए हैं, इसके उदाहरण के लिए केवल दो शब्द दिये जाते हैं। पृष्ठ ३ में 'संस्करण' के स्थान पर 'संस्करक्ष' और पृष्ठ ३५ में 'पेशवा' के स्थान पर 'पेशाव' छपा है!

पुस्तक के अन्तिम खण्ड में दिये हुए काव्य-संकलन में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। इसका पाठ अशुद्ध है और इसमें सुसम्पादन का अभाव है। इसकी अपेक्षा 'भूषण-ग्रन्थावली' का पाठ अधिक शुद्ध और सुसम्पादित है। उक्त पुस्तक को श्री ब्रजरत्नदास जी ने प्रस्तुत पुस्तक से प्रायः तेईस वर्ष पूर्व प्रकाशित कराया था। श्री दीक्षितजी ब्रजभाषा के विद्वान और भूषण के विशेषज्ञ हैं। यदि वे चाहते तो थोड़े परिश्रम से ही भूषण के काव्य को सुसम्पादित रूप में प्रकाशित करा सकते थे। हमको खेदपूर्वक लिखना पड़ता है कि इस पुस्तक की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों और छापे की अशुद्धियों ने दीक्षितजी की पुस्तक के महत्त्व को मिट्टी में मिला दिया है। हम चाहते हैं कि इसके आगामी संस्करण में ये त्रुटियाँ दूर की जायँ, ताकि यह पुस्तक अपना उचित महत्त्व प्राप्त कर सके।[5]

डॉक्टर आद्याप्रसाद मिश्र

विश्वधर्म-दर्शन पर एक दृष्टि

इस अत्यन्त उपादेय विषय पर हिन्दी में अभी बहुत कम ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ मूल्यवान है और एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है। सुन्दर तथा उपादेय होने के साथ ही

१. पृष्ठ ३९।
२. पृष्ठ ४१।
३. पृष्ठ ६९।
४. पृष्ठ ७२।
५. 'महाकवि भूषण', लेखक—डॉ० भगीरथप्रसाद दीक्षित, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय के अत्यन्त व्यापक होने के कारण यह भय भी था कि कहीं इसका कोई उपादेय अंग छूट न जाय। मेरा निष्पक्ष मत है कि विद्यानुरागी लेखक के महान् अध्यवसाय एवं उन्हींके शब्दों में उनकी 'मधुमक्षिका वृत्ति' ने प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में उस भय को सत्य नहीं होने दिया। धर्म युगयुगान्तर में बदलते हुए स्वरूपों में समन्वय स्थापित करने के लिए समय-समय पर उसके अभिनव व्याख्यान के जितने भी प्रयास विभिन्न वादों, मतों एवं विचार-धाराओं के आरम्भ के रूप में प्राचीन काल से लेकर अब तक हुए हैं, उन सबका इतिहास इसमें प्रस्तुत है। आठवें खण्ड के 'भारतीय संस्कृति के उन्नायक' नामक तीसरे परिच्छेद में योगी अरविन्द तथा महर्षि रमण इत्यादि के विचारों का, जिनसे अभी तक बहुत कम लोग परिचित हैं, सङ्कलन करने के लिए लेखक महोदय हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

पर इन गुणों एवं विशेषताओं के होते हुए भी इस ग्रन्थ में अनेक दोष हैं जिनको दूर किये बिना यह उतना आकर्षक और मनोहारी नहीं होगा जितना अन्यथा इसे होना चाहिए। हम नीचे कुछ मुख्य दोषों का दिग्दर्शन-मात्र कराएंगे क्योंकि समस्त दोषों का सविस्तर वर्णन न तो सम्भव ही है और न अपेक्षित ही। यह दिग्दर्शन भी दोषोद्भावना की दृष्टि से नहीं, अपितु इस अन्यथा उपादेय ग्रन्थ के दोषों के परिहार द्वारा इसे और भी उपादेय एवं लोकोपयोगी बनाने में सहायक होने की भावना से किया जा रहा है। इन पंक्तियों के लेखक की यह प्रिय अभिलाषा है कि यह आलोचना इसी रूप में ग्रहण की जाय, आक्षेपोक्ति के रूप में नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'विश्वधर्म-दर्शन' है और इसमें धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त अर्थ-शास्त्र, संगीत-शास्त्र, गणित-शास्त्र, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद इत्यादि से सम्बद्ध साहित्यों की भी चर्चा की गई है। परन्तु इनका प्रस्तुत ग्रन्थ से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। फिर यह विषयान्तर लगता है, यद्यपि बात वस्तुतः ऐसी है नहीं। अतएव ग्रन्थारम्भ में 'धर्म' की वह व्यापक व्याख्या प्रस्तुत होनी चाहिए थी जिसको मन में रखकर लेखक ने उनका यहाँ समावेश किया है और ठीक ही किया है। वैसे, इन विषयान्तर लगने वाले विषयों का समावेश न होने पर भी 'धर्म-दर्शन' की पुस्तक में 'धर्म' के विषय में बिना कुछ कहे 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' से ग्रन्थ का आरम्भ न जाने कैसा अजीब-सा लगता है।

ग्रन्थ की विषय-सूची तो बड़ी ही आकर्षक और सुन्दर है पर ग्रन्थ पढ़ जाने पर अनेक स्थलों में ऐसा लगा जैसे विषय का यथेष्ठ—यद्यपि संक्षिप्त और निश्चयात्मक—वर्णन करना उतना अभीष्ट नहीं है जितना खानापूरी करना। प्रायः ग्रन्थ सूच्यात्मक ज्ञान देने तक ही सीमित रहा है। इसके कारण कहीं-कहीं भाव स्पष्ट होने के बदले और भी उलझ गए हैं। माना कि विषय की व्यापकता और विविधता तथा स्थानाभाव के कारण बहुत-सी बातें सविस्तर नहीं दी जा सकतीं पर हमारी दृढ़ धारणा है कि ग्रन्थ का आकार बिना बढ़ाये हुए भी बहुत सी मोटी-मोटी बातें स्पष्ट ढंग से कही जा सकती थीं; पर अनवधानवश अथवा आवश्यक-अनावश्यक का पूर्ण तथा स्पष्ट विचार न होने से नहीं कही जा सकीं। हम दो ही तीन स्थल दिखाकर सन्तोष करेंगे।

उपनिषदों के वर्णन में ईशोपनिषद् के अत्यन्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण होने पर भी उसका जितना विस्तार दूसरों की उपेक्षा करके किया गया है, वह उचित नहीं जान पड़ता। प्रश्नोपनिषद् के प्रश्नों को दुहराने में आधा पृष्ठ लगा दिया गया है पर उनके उत्तर में—जिनके कारण ही उन प्रश्नों की भी सार्थकता होती—चार पंक्तियाँ भी नहीं लिखी गईं। प्रश्नों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने-भर से पाठक का क्या लाभ हुआ ? तैत्तिरीय-जैसे महत्त्वपूर्ण उपनिषद् के सम्बन्ध में कुल चार पंक्तियाँ लिखी गईं और उनमें भी दिये गए तथ्य गलत हैं, जैसे उसके शिक्षावल्ली और ब्रह्मानन्द बल्ली नामक दो ही भाग बताये गए हैं, पर उसका भृगुवल्ली नामक एक तीसरा भी भाग है। जितने स्थान में केन, तैत्तिरीय, ऐतरेय तथा माण्डूक्य—चारों का वर्णन समाप्त कर दिया गया है, उतने में प्रश्न के प्रश्नों-भर का उल्लेख किया गया है। उपनिषद्-जैसे संस्कृतवाङ्मय के अद्भुत साहित्य और विश्व के सर्वोच्च दर्शन-ग्रन्थों का प्रायेण नामोल्लेखात्मक विवरण छिछला और हल्का प्रतीत होता है। इसी प्रकार जैन-दर्शन की जीव-विषयक सबसे मोटी बात है उसका जीव को शरीर-परिणामी अर्थात् प्रदीपवत् संकोच-विकासशील बताना; जहाँ शाङ्करमत में जीव विभु तथा वैष्णवमतों में अणु है, वहाँ जैनों का जीव मध्यम परिमाण वाला है। पर इतनी मोटी तथा प्रधान बात का उल्लेख तक नहीं किया गया, जब कि जीव ही समस्त दर्शनों के विचार का मूलाधार है। आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल, अस्तिकाय और अनस्तिकाय-जैसे विशिष्ट अर्थ वाले शब्दों को तो बिना कुछ समझाए छोड़ ही दिया गया है जब कि जैनों की आकाश, धर्म इत्यादि की कल्पना एतद्विषयक अन्य मतों की सामान्य कल्पना से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के वर्णन में जहाँ कणाद के अनुसार अन्तःकरण की शुद्धि के लिए धार्मिक बनना आवश्यक बताया गया, वहाँ उनके द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा—जो सम्भवतः 'धर्म' की भारतीय व्याख्याओं में सर्वव्यापक अतश्च सर्वश्रेष्ठ है—देने का कष्ट ही नहीं किया गया। इन वर्णनों में कई स्थलों में कोई विशेष संख्या और क्रम भी नहीं दीख पड़ता। जैसे इस वैशेषिक के ही वर्णन में संयोग के बाद बुद्धि के दो भेद दिये गए हैं। इन दोनों में क्या पौर्वापर्य है, यह समझ में न आया। फिर ये दो ही विषय उल्लेख के लिए क्यों चुने गए ? इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण बातें कहने को थीं।

इस सूच्यात्मक वर्णन से जो मन को परितोष नहीं होता वह तो अलग, इन गूढ़ विषयों के अपर्याप्त या अधूरे उल्लेखों से भ्रम भी पैदा होते हैं। जैसे पृष्ठ २८४ पर आचार्य रामानन्द के मत का जो वर्णन दिया गया है, वह जितना है उतना तो ठीक है पर पर्याप्त नहीं, क्योंकि उससे भ्रम को आश्रय मिलता है। रामानुजी वैष्णवों की भाँति रामानन्द को भी तुलसी शालग्राम आदि पर श्रद्धा तथा पृथक् अथवा युगल मूर्त्ति की आराधना इत्यादि करने वाला कहा गया है। पढ़कर कुछ इस प्रकार की धारणा होती है कि दोनों सम्प्रदायों में कोई भेद नहीं है, और है भी तो महत्त्वपूर्ण नहीं; पर बात ऐसी नहीं है। रामानन्द ने निर्गुण और सगुण दोनों ही पक्ष माने हैं। सरल तथा सर्वसाधारण के लिए सुगम होने से सगुण को प्रधानता अवश्य दी है पर निर्गुण का निराकरण या प्रत्याख्यान नहीं किया है। इसीलिए जहाँ उनके अनुयायी कबीर-जैसे 'निगुनी' सन्त हैं, वहाँ सम्पूर्ण रामानन्दी सम्प्रदाय सगुणवादी है। इस प्रकार उनके मत में निर्गुण और सगुण अथवा ज्ञान और भक्ति का भागवत-जैसा समन्वय मिलता है। इसीलिए एकमात्र गोस्वामी तुलसीदास ही रामानन्दी विचारधारा के सच्चे प्रतिनिधि हैं। इसके विपरीत रामानुज कट्टर सगुणवादी हैं। उनकी विचार-धारा में निर्गुण को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, उनका निर्गुण भी सविशेष और शरीरी है। इसी प्रकार पृष्ठ १५८ पर बौद्ध-दर्शन के निर्वाण को नित्यानन्द रूप कहा है और आगे पृष्ठ १५६ पर माध्यमिक बौद्धों के वर्णन में निर्वाण को शून्यरूप कहा है। इस प्रकार एक ही निर्वाण के सम्बन्ध में दो विरोधी बातों का उल्लेख भर-करके छोड़ दिया गया है। फिर पृष्ठ २१५ तथा २१६ पर तन्त्रों के पञ्चमकारों के विषय में दो विरोधी विचार उल्लिखित हैं। पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मद्यादि को बाह्य माना है पर इनके प्रयोग का लक्ष्य भौतिक तथा लौकिक आनन्द न मानकर परमानन्द माना है, और दूसरे में इन्हें बाह्य न मानकर प्रतीकात्मक माना है। सामान्य पाठक ऐसे विरोधी विचारों में उलझकर निश्चय नहीं कर पाता कि दोनों में कौनसा सत्य है और किसमें आस्था दृढ़ की जाय। दो विभिन्न तथा विरोधी विचारों अथवा मतों को एकत्र रख देने-भर से किसी समन्वयात्मक दृढ़ सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती जो इस जैसे ग्रन्थों का प्रायः लक्ष्य होता है और होना भी चाहिए।

कहीं-कहीं तो लेखक ने ऐसी बातें लिखी हैं जो सर्वथा अपार्थक और भ्रममूलक ही कही जायँगी, जैसे सांख्य के वर्णन में पृष्ठ १६६ पर तत्त्वों की संख्या पचीस बताई गई है और ये तत्त्व प्रकृति, पुरुष, महत् इत्यादि क्रम से कहे गए हैं। यह सर्वथा असत्य है। सांख्य वस्तुतः दो ही तत्त्व मानता है, पचीस नहीं। पचीस संख्या तो उसने 'तत्त्व' की थोड़ी व्यापक दृष्टि रखकर कही है क्योंकि इन दोनों के अतिरिक्त जो तेईस अवान्तर तत्त्व हैं, वे वस्तुतः प्रकृति के ही विकार हैं, उनसे पृथक् नहीं। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के वर्णन से ये पचीसों सर्वथा स्वतन्त्र लगते हैं जो स्पष्ट ही भ्रम है। फिर प्रकृति के अनन्तर महत्, अहङ्कार इत्यादि को न देकर पुरुष को और उसके बाद महदादि को देने से यह भ्रम और भी दृढ़ होता है। यद्यपि पृष्ठ १६८ पर अन्त में "यह दर्शन द्वैतमत का प्रतिपादन करता है। प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं जिनके परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है"—ऐसा लिखा है, पर यह वाक्य पूर्वकथन से बहुत दूर तथा पृथक् आने से उपर्युक्त भ्रम को दूर करने में विशेष समर्थ नहीं है और फिर 'एक तो तितलौकी दूजे नीम चढ़ी' उक्ति के अनुसार इस वाक्य के आगे ही पृष्ठ १६९ पर 'योगदर्शन' के वर्णन में "पतञ्जलि ने भी कपिल के समान ही पचीस 'मूल तत्त्व' स्वीकार किये हैं"—ऐसा लिखा है। इससे यह भ्रम दूर होने के बदले और भी दृढ़ हो जाता है। उपर्युक्त वाक्य में 'मूल' शब्द नहीं आना चाहिए था। यह बड़ा अनर्थकारी है।

सिद्धान्त-विषयक उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे दोष हैं जो दृष्टि-भेद या विचार-वैषम्य के कारण हुए हैं। वस्तुतः इन्हें दोष न कहकर मत-वैषम्य ही कहना चाहिए, पर दोष कहने के लिए हम बाध्य इसलिए हैं कि किसी भी विवादास्पद महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में एकदेशीय या एकाङ्गीय मत देकर अन्य समानरूपेण महत्त्वपूर्ण मतों की उपेक्षा करना—उल्लेख तक न करना—लेखक को पाठक की दृष्टि में पक्षपातपूर्ण और सदोष ठहराता है। पृष्ठ ४३ पर व्याकरण के विषय में लिखते हुए लिखा गया है कि **"पाणिनि के आरम्भ के पहले चौदह सूत्र माहेश्वर सूत्र कहे गए हैं। इससे सहज ही यह अनुमान होता है कि माहेश्वर सूत्र भी किसी और व्याकरण के ही सूत्र होंगे।"** पर क्या इन सूत्रों के माहेश्वर सूत्र होने से यह भी अनुमान उतनी ही सहज रीति से नहीं होता कि ये सूत्र पाणिनि को भगवान् महेश्वर (शिवजी) की कृपा से प्राप्त हुए थे जैसी कि वैयाकरणों में पूर्व-प्रचलित परम्परा भी है। क्या कात्यायन, पतञ्जलि, कैय्यट, वामन, जयादित्य आदि किसीको भी उपर्युक्त परम्परा की असत्यता ज्ञात न हो सकी जो अब आविष्कार की जा रही है? इस प्रकार परम्परा परिपुष्ट होने से तो दूसरा ही अनुमान प्रबलतर जान पड़ता है। पर इसका उल्लेख तक भी नहीं किया गया। यही बात पृष्ठ १९ तथा २८ पर वैदिक देववाद, पृष्ठ ३९४ पर वर्ण तथा अस्पृश्यता आदि, एवं अन्यत्र राम और कृष्ण के ऐतिहासिकत्व और उनके विष्णुत्व आदि के विषय में प्रकट किये गए विचारों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि लेखक अपने स्वतन्त्र विचार न प्रस्तुत करे। इसके विपरीत हमारा तो दृढ़ मत है कि जो स्वतन्त्र विचारक नहीं, वह उत्कृष्ट लेखक ही नहीं, पर ये स्वतन्त्र विचार समस्त युक्तियों के साथ दिये जाने चाहिएं और साथ ही यदि अन्य सभी विरोधी मत नहीं तो कम-से-कम एक-दो मुख्य मतों को भी, विशेषकर जो परम्परा से प्रचलित हैं, देना चाहिए और थोड़ा साहस करके उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों तथा युक्तियों को भी काटना चाहिए।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त भाषा-सम्बन्धी भी कई दोष यत्र-तत्र हो गए हैं। वाक्य कई स्थलों पर लद्धड़ तथा शिथिल और कहीं-कहीं पर अशुद्ध भी आये हैं। शब्द भी अशुद्ध हैं, जो सम्भवतः छपाई की अशुद्धि के कारण हैं। गृहासक्ति के लिए गृहाशक्ति (पृष्ठ ३००), श्वेताश्वतर के लिए श्वेताश्वेत (हो सकता हो यह ठीक हो पर ऐसा नाम कहीं देखा हो, ऐसा स्मरण मुझे नहीं है पर ठीक भी हो तो जो अधिक प्रचलित शब्द हैं, उनका प्रयोग ही अधिक उचित होता है) तथा चरित के अर्थ में 'चरित्र' इत्यादि अशुद्ध हैं।

यदि विचारपूर्वक पढ़कर इनमें कुछ उचित लगने वाले दोषों का परिहार किया जा सका तो अपने अगले संस्करण के अनन्तर यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में अमूल्य कृति होगा। ऐसे ग्रन्थ की रचना के लिए हम लेखक को पुनः धन्यवाद देते हैं।[1]

केशवचन्द्र वर्मा

हमारे साहित्य में हास्यरस

हिन्दी में हास्यरस पर अब तक एक परिचयात्मक पुस्तक की जो कमी अनुभव की जा रही थी, किसी सीमा तक प्रस्तुत रचना उस अभाव को दूर कर सकने में समर्थ सिद्ध हुई है। इस दृष्टिकोण से पुस्तक न केवल अन्यतम है, वरन् उपयोगी भी है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि, चूँकि आलोचक स्वयं हास्यरस के कवि हैं, (जैसा कि परिशिष्ट के उनके अपने संकलन से स्पष्ट होता है) सारी आलोचना बातचीत के लहजे में लिखी गई है और उसकी जटिलता एवं हास्य-सिद्धान्तों का दुरूह प्रतिपादन हास्ययुक्त भाषा और छोटे-छोटे चुटकुलों के माध्यम से सहज ही ग्राह्य बना दिया गया है।

पूरी पुस्तक का विभाजन सात फाटकों के अन्तर्गत हुआ है जिनमें भाषा की उत्पत्ति, साहित्य, काव्य और रस आदि के निरूपण, हास्य और उसका प्रयोग, हास्य के रूप, हास्य में भ्रम या धोखा, हिन्दी में हास्य का विकास आदि का संक्षिप्त उल्लेख है। आलोचक ने उर्दू के हास्य-व्यंग को हिन्दी-साहित्य का अविच्छिन्न अंग मानते हुए उसका भी विशद विवेचन किया है और उर्दू तथा हिन्दी के गद्य व पद्य लेखकों का जीवन-परिचय तथा उनकी व्यंग कृतियों के विषय में चर्चा की है।

इस ग्रन्थ की उपयोगिता इस दृष्टि से अधिक है कि जिन लेखकों की चर्चा की गई है,

१. लेखक—श्री सांवलिया बिहारीलाल वर्मा, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी प्रायः एकाध संक्षिप्त कृतियों का भी उदाहरण प्रस्तुत कर दिया गया है जो कि पाठकों को न सिर्फ आलोचना की बोझिल एकरसता से बचाती हैं बल्कि उन्हें आलोचक के वक्तव्य को कसने वाली कसौटी भी साथ ही मिल जाती है। उर्दू और हिन्दी के तमाम हास्य-व्यंग लिखने वाले लेखकों का पूरा ब्यौरा एक साथ उपस्थित करने का यह निश्चित ही स्तुत्य प्रयास है।

दो-एक शब्द इसके बारे में और। पुस्तक में हिन्दी की आधुनिकतम हास्य-व्यंग की प्रवृत्तियों का उल्लेख नहीं के बराबर है। इसके अतिरिक्त आलोचक की सूची से कई प्रमुख हास्य-लेखक छूट भी गए हैं जिनमें बिहार के श्री राधाकृष्ण का नाम उल्लेखनीय है। भाषा की दृष्टि से भी कहीं-कहीं चूक हो गई है जिसे यदि सँवार लिया गया होता तो अच्छा होता। पुस्तक साफ़ छपी है, फिर भी टाइप सुथरे नहीं हैं और कहीं-कहीं तो प्रूफ की बड़ी भ्रष्ट गलती भी हो गई है। पुस्तक के अन्त में यदि लेखक अपनी कृतियों का संकलन न देता, तो भी कोई विशेष हानि नहीं थी। वैसे मुखपृष्ठ की कवर डिज़ाइन का परिवर्तन यदि होता तो सम्भव है इस पुस्तक का 'गेट-अप' भी अधिक सुरुचिपूर्ण हो जाता।

पुस्तक के अन्त में तीन-चार पृष्ठों का एक शब्दकोष भी दिया हुआ है जो उर्दू न जानने वाले पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[1]

माया भटनागर

कवि आरसी की काव्य-साधना

'कवि आरसी की काव्य-साधना' के लेखक श्री प्रताप साहित्यालंकार ने पुस्तक में कवि की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्यात्मक आलोचना की है। इसके अतिरिक्त कवि के विचार-सौन्दर्य, कला-नैपुण्य और कवि द्वारा रचित बाल-साहित्य की विशिष्टताओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। कवि की प्रगतिवादी रचनाओं के महत्त्व का निरूपण पूर्ण तत्परता से किया गया है, अतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस आलोचनात्मक कृति से कवि आरसी की विविध काव्य-कृतियों और विचार-सरणियों का ज्ञान पाठक को प्राप्त हो जाता है।

नवीन कवियों की कृतियों की आलोचना प्रायः दो उद्देश्यों से की जाती है—प्रथम सहानुभूतिपूर्ण आलोचना द्वारा कवियों को प्रोत्साहित करना, द्वितीय उसकी रचनाओं में पाठकों की अभिरुचि जाग्रत करना। कवि आरसी के सहानुभूतिशील आलोचक का उद्देश्य इससे इतर प्रतीत नहीं होता। प्रथम उद्देश्य की सफलता के सम्बन्ध में तो कवि ही बता सकता है कि उसे अपनी इस आलोचना से कितना प्रोत्साहन और सन्तोष प्राप्त हुआ है। पुस्तक के दूसरे उद्देश्य की सफलता में कुछ बाधाएँ स्पष्ट हैं।

कवि की काव्य-प्रवृत्तियों और विचारशीलता की जैसी व्याख्या की गई है, उससे पाठक के मन में कवि के प्रति भ्रामक धारणा उपजने की बहुत सम्भावना है। पुस्तक पढ़कर यही लगता है कि कवि, जैसे युग के सभी प्रवाहों में बहकर, सभी स्वरों में स्वर मिलाकर अथवा सामयिक

१. लेखक—कृष्णकुमार श्रीवास्तव, प्रकाशक—कृष्णकुन्ज, फ़ैजाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबल स्वर का सहयोगी बनकर अपना कवि-धर्म निभा रहा है। जैसे उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में निजत्व की कहीं कोई स्पष्ट छाप ही न हो। मानो उसकी सम्पूर्ण साधना का यही रूप है—यही विशिष्टता। आलोचक, कवि की स्वानुभूति से अनुप्राणित अभिव्यंजना की विशिष्टता को बहुत कम स्पष्ट कर सका है। कवि के विचार-सौन्दर्य और प्रगतिवादिता के महत्त्व का प्रतिपादन जितनी तत्परता से किया गया है, उतनी तत्परता से कवि की अनुभूति-प्रवणता का निरूपण नहीं हो सका है। इसके अतिरिक्त कवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण धारणा बनने का एक और भी कारण है। विज्ञ आलोचक ने कवि के नितान्त विरोधी विचारों की व्याख्या तो की है किन्तु इसके कारण का विश्लेषण करके किसी प्रकार का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। किसी कवि की रचनाओं में दो नितान्त विरोधी विचारों का समर्थन न तो अस्वाभाविक ही होता है, न एकदम अनुचित ही। यह तो ठीक है कि कवि की कृतियों में इसी रूप में दोनों विरोधी बातों को स्थान मिला है। किन्तु क्या यही बात कवि की अस्थिर विचार-वृत्ति—अथवा निजत्व-हीन—प्रभावशील प्रकृति की सूचक नहीं, जो सामान्य पाठक की दृष्टि में अश्रद्धा का कारण बन सकती है? इसीलिए कवि के ऐसे विरोधी विचारों का व्याख्यात्मक परिचय देना ही पर्याप्त नहीं होता; इस विरोध के अन्तर्भूत कारण को भी समझना-समझाना चाहिए। यदि कवि आरसी के आलोचक ने कवि की इस विरोधात्मक विचारशीलता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके विचारों के विकास-क्रम का निरूपण किया होता तो पाठक के हृदय से कवि के प्रति उठने वाली अश्रद्धा का निराकरण होना सहज होता। कवि की रचनाओं में पाठकों की रुचि को सजग बनाये रखने के लिए, कवि की विचारशीलता और विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या से अधिक उसकी भाव-प्रवणता और अनुभूति-सजगता का विशदीकरण आवश्यक होता है, जिसका 'कवि आरसी की काव्य-साधना' में अभाव तो नहीं, पर कमी अवश्य है। कवि की अनुभूति-प्रवणता में यदि स्वानुभूति का बल है तो, चाहे शुद्ध अध्यात्मवादी तथ्य से अनुप्राणित हो, या घोर भौतिकतावादी सत्य से, वह सहृदय को सहज ही प्रभावित करेगी। स्वानुभूति सफल काव्य की अमर चेतना है जिसकी कुशल अभिव्यंजना में अनुरंजनकारी गुण स्वतः विराजता है। अतः आलोचक को कवि की रचनाओं के ऐसे स्थलों को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए। आलोचक ने कवि के इस पक्ष के स्पष्टीकरण की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है। फलस्वरूप पाठक की अभिरुचि कवि की विभिन्न कृतियों की सतह पर उतरकर भटक-सी जाती है। अतः अभिप्रेत उद्देश्य की सिद्धि कठिन-सी हो गई है। फिर भी कवि की प्रमुख प्रवृत्तियों के सामान्य परिचय की दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है। लेखक की भाषा सरल तथा शैली सुबोध है।[1]

1. लेखक—प्रताप साहित्यालंकार, प्रकाशक—तारा मण्डल, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय

देश की हत्या

लेखक — गुरुदत्त, प्रकाशक — भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली।

इस उपन्यास का कथानक १९४७ के देश-विभाजन पर आधारित है। लेखक ने उस समय की अनेक घटनाओं को लेकर उनकी विवेचना तथा विश्लेषण किया है। वह पहले गांधीवाद का प्रशंसक था। किन्तु पिछले लगभग तीस वर्षों का राजनीतिक इतिहास, लेखक की दृष्टि में, इस बात का साक्षी है कि गांधीजी तथा उनके नेतृत्व में काँग्रेस की सभी नीतियाँ देश के लिए हितकर सिद्ध नहीं हुईं। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-सम्बन्धी नीति ऐसी ही है जिसके बारे में देश के विद्वानों में काफ़ी मत-भेद है। पिछले लगभग पचास वर्षों का इतिहास यह बतलाता है कि किसी-न-किसी प्रकार अल्प-संख्यकों के साथ रियायत करके देश में स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया जाता था। इस नीति के फलस्वरूप बहुसंख्यकों के हितों को आघात भी पहुँचा। यही दृष्टिकोण देश के विभाजन के समय था और इसी दृष्टिकोण ने वह विभ्रम और दूषित वातावरण उत्पन्न किया जिसमें गांधीजी की हत्या का जघन्य कार्य किया गया। श्री गुरुदत्त ने अपने इस उपन्यास के 'पाप का प्रायश्चित', 'डायरेक्ट एक्शन लाहौर में', 'जौहर', 'प्रतिकार', 'भारत की ओर प्रयाण' और 'हत्या' नामक परिच्छेदों में मुस्लिम लीगी और काँग्रेसी नीति के फलस्वरूप उत्पन्न भीषण आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों तथा घटनाओं का विवरण प्रस्तुत किया है और अपनी दृष्टि से उनकी समीक्षा की है। हम उनके मत और निष्कर्षों से असहमत हैं, किन्तु उपन्यास भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रेरणा देता है। इस समस्या से बचने या उसे टाल देने से काम नहीं चल सकता। प्रस्तुत उपन्यास भविष्य के इतिहास-लेखकों के लिए बहुमूल्य सामग्री संकलित करता है। भले ही हम लेखक के दृष्टिकोण और समस्या के विश्लेषण से सहमत न हों, उसका यह उपन्यास आधुनिक काल के इतिहास के लिए निश्चित रूप से उपयोगी सिद्ध होगा।

पंजाब के भीषण नर-हत्या-काण्ड के बीच चेतनानन्द, महेश, पार्वती, रामचन्द्र राव, नीना, राधा, जगदेवसिंह आदि वे आदर्श स्त्री-पुरुष हैं जिन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाकर पीड़ित मानवता की सहायता की थी। काँग्रेस की 'दब्बू नीति' की परवाह न करते हुए उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया। उपन्यास में वर्णित प्रेम लोक-सेवा के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। चेतनानन्द तथा उसके साथियों को इतिहास स्मरण करेगा। प्रस्तुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास का निस्सन्देह ऐतिहासिक महत्त्व है। लेखक ने उसके कलात्मक पक्ष की ओर और ध्यान दिया होता तो अच्छा था। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है, किन्तु 'मैंने जाना है' जैसे प्रयोग हिन्दी की दृष्टि से अशुद्ध हैं।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

राधा और राजन

लेखक—बलभद्र ठाकुर, प्रकाशक—ग्रामोत्थान द्यापीठ, संगरिया।

इस उपन्यास का राजनीतिक के साथ सांस्कृतिक महत्त्व भी है। राजन विदेशी शासन-सत्ता को मिटाने के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाला देश-भक्त है। उपन्यास-घटना-काल सन् १९२६ से सन् १९४० के बीच का है। राजन कुरूप है, किन्तु वह मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति है। राजनीतिक दृष्टि से गान्धीजी के आन्दोलन में भाग लेने पर भी वह अहिंसावादी नहीं है। सांस्कृतिक दृष्टि से वह भारतीय रीति-नीति, आचरण, सहज सरलता आदि का पक्षपाती है, किन्तु वह पोंगा-पन्थी नहीं है और हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव का हामी नहीं है। काशीनाथ और राधा के साथ उसकी घनिष्ठता है, तो रहीमखाँ तथा उसके परिवार को वह अपना ही परिवार समझता है। आगे चलकर राजन एक समाज की स्थापना करता है। समाज में **'पोंगापन्थी के लिए गुन्जाइश नहीं। न वह आर्य-समाज है, न देव-समाज और न अग्नि-समाज। वह तो केवल 'समाज' है—मानव-मात्र का समाज। जाति-धर्म की सीमाओं से परे भावी समाज का एक आदर्श-मात्र।'** समाज का आदर्श है—**'अपने-अपने व्यक्तित्व में बँधे रह कर भी अपने समस्त स्वार्थ को समाज के हित पर उत्सर्ग कर देना।'** यह आदर्श कम्युनिस्ट लेखकों के लिए सोचने की प्रेरणा दे सकता है। राज-सत्ता का प्रहार सहन करके वह फाँसी के तख्ते पर झूल जाता है। वह मनुष्य की तरह जिया और मनुष्य की तरह मरा।

लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी है—सभी विचारधाराएँ अन्तिम परिणाम की दृष्टि से आदर्शवादी होती हैं। किन्तु उसने समाज का जो आदर्श पाठकों के सामने रखा है वह आज की दो विचारधाराओं के संघर्षपूर्ण वातावरण में विचारणीय है। सांस्कृतिक दृष्टि से लेखक ने यूरोपीय रहन-सहन, रीति-रस्म और आचार-विचारों का खोखलापन, उनकी कृत्रिमता आदि का चित्रण किया है—काशीनाथ, लूथरा आदि के माध्यम द्वारा। लेखक के अनुसार राधा और काशीनाथ अन्त में उस कीचड़ से निकल आते हैं। किन्तु लेखक का यह दृष्टिकोण विवादास्पद है।

कला की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास भी श्रेष्ठ रचना नहीं है। भाषा शिथिल और कथोपकथन अनावश्यक रूप से विस्तृत है। कहीं-कहीं तो अनावश्यक बातों का भी वर्णन कर दिया गया है। आर्य-समाज और बौद्ध-धर्म की आलोचना करते समय लेखक को कुछ और संयम से काम लेना चाहिए था। अन्त में एक असंगति की ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। 'निवेदन' में उपन्यास का घटना-काल १९२६ और १९४० के बीच का बताया गया है। किन्तु पृष्ठ ४४ पर उसने 'हिन्दुस्तान के दो टुकड़े' हो जाने तथा तत्सम्बन्धी कुछ बातों का उल्लेख किया है। अगले संस्करण में इस दोष का निवारण हो जाना चाहिए।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतेन्दु कृत चन्द्रावली नाटिका

सम्पादक—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रकाशक —विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

श्री 'चन्द्रावली नाटिका' भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की एक मौलिक अमर रचना है। प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन हिन्दी के एक सुयोग्य एवं अधिकारी विद्वान् डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने किया है। सम्पादक महोदय ने आरम्भ में ४० पृष्ठों की भूमिका में नाटिका-सम्बन्धी विविध समस्याओं पर विद्वत्तापूर्वक पर्याप्त प्रकाश डाला है। भूमिका के उपरान्त नाटिका का अविकल मूल पाठ दिया गया है। अन्त में क्लिष्ट शब्दों के अर्थों की एक टिप्पणी जोड़ दी गई है, जिससे नाटिका साधारण पाठक के लिए भी अधिक बोधगम्य हो गई है।

—डॉक्टर टीकमसिंह तोमर

शिवालक की घाटियों में

लेखक—विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक —आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

श्री निधिजी आरण्यक संघ के प्रमुख मेम्बर हैं। निधिजी ने देहरादून के आस-पास स्थित 'शिवालक की घाटियों में, जो कुछ घूम-घामकर देखा तथा अनुभव किया है वही इस पुस्तक का वर्ण्य विषय है। ये निबन्ध बड़े ही रोचक, रोमांचकारी तथा भावपूर्ण हैं। शैली के निखार के कारण ये निबन्ध यात्रा-साहित्य की हृदयग्राही स्थायी सम्पत्ति हैं। लेखक ने सच्चे यायावर के रूप में जंगल के सौन्दर्य और उसके जीवन के उल्लास का आनन्द रसग्राही बनकर ग्रहण किया है। वन-जीवन के प्रति अडिग विश्वास के साथ लेखक कहता है—"हमें वनों को संसार की दिव्यतम विभूति मानकर ही उनमें प्रवेश करना होगा। वन-देवता को अप्रसन्न करने का एक भी कार्य वहाँ न होना चाहिए। वन-भूमियाँ सौन्दर्य के अक्षय भण्डार हैं; अहिंसा, प्रेम और शान्ति के प्रतीक हैं; वैराग्य के उद्दीपक हैं; आनन्द के स्रोत हैं; पवित्रताओं के निकेतन हैं.... उनके लिए हमारे हृदय में ऐसी ही सम्मान-भावना रहनी चाहिए। तभी तो रस आयगा।"

प्रकृति के टेढ़े-मेढ़े रास्ते, ऊँचे-नीचे पर्वत और घाटियाँ, नदियों की तीव्र गति तथा समुद्र का तूफ़ान इनके डर के कारण नहीं हैं बल्कि ये सब वस्तुएँ—यह वातावरण इनके भावों को और उद्दीप्त करता है। कठोर जीवन व्यतीत करने में ही ये रस पाते हैं। जंगल में छोटे-बड़े सभी प्रकार के जीव-जन्तु तथा पशु एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। साधारणतः जानवरों को मूर्ख समझा जाता है किन्तु जानवर कितने अक्लमन्द होते हैं, किस प्रकार एक-दूसरे को घेरते हैं, किन-किन उपायों से अपनी आत्म-रक्षा करते हैं, उनमें किस प्रकार का प्रेम तथा जातीय एकता होती है, यह सब हम इस पुस्तक से समझ सकते हैं।

यदि इस पुस्तक की घटनाएँ सच्ची न भी होतीं, तो भी वातावरण की सजीवता, घटनाओं की मार्मिकता तथा शैली के निखार के कारण यह पुस्तक अपने-आपमें पूर्ण सफल होती और पाठकों को पूर्ण रूप से आनन्द पहुँचाती। किन्तु इन सब घटनाओं के सच्चे होने के कारण स्थल-स्थल पर शरीर रोमांचित हो उठता है। लेखक ने suspense निरन्तर बनाये रखा है; इससे ये वर्णन और भी सजीव हो गए हैं। 'हरिण का बलिदान', 'हाथी की प्रेमिका' तथा 'दुखद अन्त' इन तीन निबन्धों में लेखक ने पशुओं के प्रेम का जो चित्रण किया है, वह कितना निःस्वार्थ, गहरा तथा आदर्श है, यह उनके निरीक्षण करने पर ही जाना जा सकता है। पशु-जीवन में जो पारिवारिक स्नेह तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्सर्ग का भाव इन यात्रा-वर्णनों में चित्रित किया गया है, वह अपनी अन्तर्दृष्टि तथा सहानुभूति में अनुपम बन पड़ा है। हरिणी तथा हथिनी के चरित्रों का वर्णन बहुत सजीव शैली में अंकित किया गया है। इनका जीवन भी पारिवारिक स्नेह में पलता है। एक-दूसरे के प्रेम तथा प्राणों की रक्षा के लिए तन-मन से लगे हुए हैं और उसी प्रेम के सम्मुख अपने प्राण तक खो देते हैं।

'शेष यात्रा' में निधिजी ने गंगाजी की चार-पाँच धाराओं, घने जङ्गलों, पथरीले-रेतीले मैदानों और कंटीले झाड़-झंखाड़ों के मार्ग का सजीव चित्रण तो किया ही है किन्तु इसमें दो घटनाएँ इतनी भयानक हैं कि मन एक बार ही भय से रोमांचित हो जाता है। 'दैत्य की गुफा' में आरण्यक संघ के आठों मेम्बरों द्वारा खूनी रीछ का ढूँढ़ना तथा रीछ को भालों से मारना, 'जलदस्यु' में कुमार के मगरमच्छ के फन्दे में फंसे रहने पर भी होश में रहना, शेर का मचान की छत पर छलांग मारना—ये सब आश्चर्य में डालने वाली रोमांचक घटनाएँ हैं। ये सब घटनाएँ कभी-कभी तो कल्पना द्वारा लिखी गई जान पड़ती हैं।

'मल्लयुद्ध' में गोह और अजगर के मल्ल-युद्ध का वर्णन अत्यन्त सजीव है। गोह और अजगर के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म हाव-भाव तथा चेष्टा को काव्यमयी भाषा में व्यक्त किया गया है।

'प्रणाम, हे कण्वाश्रम' में लेखक ने कितनी ही छोटी-छोटी घटनाओं को लिया है। आरण्यक संघ वाले जङ्गल के जीवन का रहस्य जानना चाहते हैं। अतः जहाँ उन्हें किसी भी प्रकार का कोई चिह्न मिलता है तो सम्बन्ध अन्यान्य बातों तथा घटनाओं से लगाने में तनिक भी नहीं थकते हैं। इसी में उनको आनन्द आता है। कण्वाश्रम-सम्बन्धी अनेक खोजपूर्ण बातें लिखकर अन्त में लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हस्तिनापुर के पास जो चौकी घाटी है, वही अतीत काल में कण्वाश्रम रहा होगा और इसीका वर्णन कालिदास ने अपनी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में किया है। जयहरी के आस-पास वाला कण्वाश्रम उनके मत में ठीक नहीं है।

इस प्रकार यह पुस्तक अत्यधिक रोचक, रोमांचकारी तथा जंगल के उपयोगी रहस्यों का उद्घाटन करने वाली है। जङ्गल के सौन्दर्य और उसके जीवन के सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण है। आरण्यक संघ के कार्य, साहस और लगन सराहनीय हैं। इस पुस्तक की घटनाएँ सच्ची होने के कारण यह अपने-आपमें नवीन और हिन्दी साहित्य के लिए अमर देन है।

—विन्दु अग्रवाल

साहित्य-साधना की पृष्ठ-भूमि

लेखक—बुद्धिनाथ झा 'कैरव', प्रकाशक—ज्ञानपीठ लिमिटेड, पटना ४।

कैरव ने साहित्य को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके पहले उसकी व्याख्या और समीक्षा की है। धर्म, विज्ञान, जीवन और दर्शन को साहित्य-साधना की पृष्ठ-भूमि बतलाया है और इसके उपरान्त के रस-छन्द-अलंकार, कविता, कहानी, उपन्यास और नाटकों के उद्भव, विकास और प्रवृत्तियों की चर्चा की है। पर रस-छन्द-अलंकार खण्ड को छोड़कर अन्य खण्डों के विवेचन में उदाहरणों का नितान्त अभाव है और विवेचना भी बहुत हल्के ढंग से की गई है।

इधर हिन्दी-साहित्य ने गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में काफी उन्नति की है तथा कई नवीन शैलियों, पद्धतियों और रूपों का समावेश हो गया है। पर लेखक ने इनकी कोई चर्चा नहीं की। पुस्तक के आरम्भ में, प्राक्कथन में ही, लेखक ने यह स्वीकार कर लिया है कि ग्रन्थ सन् १९४२ के जेल-जीवन-काल में लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079577

गया था। तदनन्तर वर्षों तक कार्याधिक्य के कारण पड़ा रहा और बिना संशोधन के ही प्रकाशित हो गया।

इस जल्दबाजी में नवीनतम साहित्य-रूपों की चर्चा का अभाव खटकने लगता है। अंकन की अशुद्धियाँ भी पर्याप्त हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जितना व्यापक क्षेत्र उन्होंने लिया है उसका वे निर्वाह नहीं कर पाए हैं।

—हेमलता जनस्वामी

साहित्य-विवेचन

लेखक—क्षेमचन्द्र 'सुमन' और योगेन्द्रकुमार मल्लिक, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

क्षेमचन्द्र 'सुमन' और योगेन्द्रकुमार मल्लिक ने सम्मिलित प्रयत्न से साहित्य का नवीनतम विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें लेखकद्वय ने हिन्दी की नवीनतम प्रवृत्तियों की—जैसे गद्य-गीत, स्केच, रिपोर्ताज, समालोचना, जीवनी, संस्मरण—सम्यक् समीक्षा की है। पुस्तक आदि से अन्त तक परिभाषाओं, विविध लेखकों के मत और मतभेदों तथा उदाहरणों से परिपूर्ण है। तुलनात्मक दृष्टि से पिछली पुस्तक की अपेक्षा इसमें भाषा अपेक्षाकृत सरल, रोचक और शैली प्रवाहयुक्त है। अंकन की अशुद्धियाँ काफी कम हैं। गेट-अप अच्छा है।

आज जब हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत हो गया है, तब अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के लिए ऐसी पुस्तकें बड़ी उपादेय हैं। पर साथ ही यदि लेखकों ने अपने ग्रन्थ का शीर्षक 'साहित्य' से प्रारम्भ न करके 'हिन्दी-साहित्य' से प्रारम्भ किया होता तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि साहित्य का अर्थ केवल 'हिन्दी-साहित्य' ही तो नहीं है।

'साहित्य-विवेचन' के लेखकों ने पाश्चात्य साहित्य और हिन्दी पर उसका प्रभाव प्रदर्शित किया है। पाश्चात्य साहित्य ने भारत के प्रायः सभी प्रान्तीय साहित्यों को प्रभावित किया है। अतः ऐसे ग्रन्थों में, जिनमें 'साहित्य' शब्द व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, भारत के विभिन्न प्रान्तीय साहित्यों का भी तुलनात्मक उल्लेख आवश्यक लगता है, क्योंकि सुमन जी और मल्लिक जी ने अपनी पुस्तक हिन्दी की नई पीढ़ी को समर्पित की है, जिसे अपनी समधीत समीक्षाओं से सुदृढ़ साहित्य का निर्माण करना है। हिन्दी की नई पीढ़ी का अध्ययन-क्षेत्र अब बढ़ गया है। समग्र भारत की भाषा हिन्दी है, अतः भारतीय सभ्यता और संस्कृति की छाप लिये और उसीके अंक में पलने वाला साहित्य इस नई पीढ़ी के अध्ययन का क्षेत्र होगा।

'साहित्य-विवेचन' में हिन्दी-साहित्य की नवीनतम धारा का निर्वाह नहीं है, और वह है रेडियो के लिए लिखित साहित्य और पद्धतियाँ। रेडियो नाटक और एकांकी, रेडियो उपन्यास, एकालाप और कहानी साहित्य के नये अंग होंगे। इनकी अपनी अलग टेकनीक है।

—हेमलता जनस्वामी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

१. गीतम : श्री वीरेन्द्र मिश्र, ज्ञानवीर बन्धु कार्यालय, लश्कर, ग्वालियर। २. बनवासी भारत : श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित, श्रीमती कृष्णा दीक्षित, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। ३. अमर बेल : श्री वृन्दावनलाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी। ४. धरती की करवट : 'फ़िराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। ५. जंजीरें टूटती हैं : 'फ़िराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। ६. राग-विराग : 'फ़िराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। ७. हिन्दू-विवाह में कन्या-दान का स्थान : श्री सम्पूर्णानन्द, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। ८. खेल-खिलौने : श्री राजेन्द्र यादव, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। ९. जिन्दगी मुस्कराई : श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। १०. भारतीय शिक्षा-सिद्धान्त : डॉ० सुबोध अदावाल, गर्ग ब्रदर्स, प्रयाग। ११. हिन्दी कहानियों में शिल्प-विधि का विकास : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग। १२. शब्दों का जीवन : श्री भोलानाथ तिवारी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १३. मेघदूत : श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १४. तेलुगु और उसका साहित्य : श्री हनुमच्छास्त्री 'अयाचित', सम्पादक—श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १५. मालवी और उसका साहित्य : श्री श्याम परमार, सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १६. लोहे की दीवार के दोनों ओर : श्री यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ। १७. रूसी क्रान्ति के अग्रदूत : श्री राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। १८. युग पुरुष राम : श्री अक्षयकुमार जैन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। १९. तुलसी और उनका काव्य : श्री सत्यनारायणसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। २०. विन्ध्य-भूमि की लोक-कथाएँ : श्रीचन्द्र जैन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। २१. सुन्दर कहानियाँ : श्री राजबहादुरसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। २२. बाल मेला : श्री शम्भूनाथ 'शेष', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

079572

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-माला

हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियाँ २)

हिन्दी उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, हिन्दी कहानी, हिन्दी नाटक, हिन्दी निबन्ध, हिन्दी आलोचना।

नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, ठाकुरप्रसादसिंह, बच्चनसिंह, विजयशंकर मल्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी। भूमिका—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ २)

रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रतीकवाद।

प्रभाकर माचवे, डॉ० जगदीश गुप्त, विजय चौहान, नामवरसिंह, राजनारायण बिसारिया। भूमिका—डॉ० रघुवंश।

हिन्दी के गौरव-ग्रन्थ २)

पृथ्वीराज रासो, सूर सागर, रामचरित मानस, बिहारी सतसई;, कामायनी, गोदान।

डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी, डॉ० सत्येन्द्र, रांगेय राघव, विश्वम्भर 'मानव', विजयेन्द्र स्नातक, गोपालकृष्ण कौल। भूमिका—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा।

हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ २)

आधुनिक आलोचना का उदय और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'शुक्लोत्तर समीक्षा, श्री गुलाबराय की समीक्षा-पद्धति : एक मूल्यांकन, बाजपेयीजी की समीक्षा-पद्धति, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा की मानवतावादी भूमि, वर्तमान हिन्दी-आलोचना : उपलब्धि और अभाव।

शिवनाथ, डॉ० जगदीश गुप्त, विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, शम्भूनाथ सिंह, नलिनविलोचन शर्मा। भूमिका—डॉ० देवराज।

पाश्चात्य आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ ३)

पाश्चात्य समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्तियाँ, हीगेल का कला-सिद्धान्त, मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति, इतिहास की मार्क्सोत्तर व्याख्याएँ और साहित्य-दर्शन, प्रतीकवाद की स्थापनाएँ, अतियथार्थवाद, बेलिन्स्की की मान्यताओं का विकास, आई०ए० रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धान्त, टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त, अंग्रेजी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी।

जयकान्त मिश्र, डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा, विजयदेव नारायण साही, हर्षनारायण, राजनारायण बिसारिया, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रामअवध द्विवेदी, केशव आनन्द, यदुपति सहाय। भूमिका—प्रो० एस० सी० देब।

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचना, साहित्य, संस्कृति

हिन्दी-साहित्य में विविध वाद : डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल ६)
भारतीय साधना और सूर-साहित्य : डॉ० मुन्शीराम शर्मा ८)
शरतचन्द्र, चिन्तन और कला : डॉ० इन्द्रनाथ मदान २॥)
भाषा, साहित्य और संस्कृति : डॉ० रामविलास शर्मा ४॥)
महादेवी : विचार और व्यक्तित्व : शिवचन्द्र नागर ३)
हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : टीका : आचार्य विश्वेश्वर १२)
अनुसन्धान का स्वरूप : डॉ० सावित्री सिनहा ३)
भारत की मौलिक एकता : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ४)

उपन्यास

बाहर-भीतर : डॉ० देवराज १।॥=)
बाबा बटेसरनाथ : नागार्जुन १।॥=)
उबाल : डॉ० रांगेय राघव १।॥≡)
देवकी का बेटा : ,,
यशोधरा जीत गई : ,, ३)
लोई का ताना : ,, ३)
शराबी : पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ३)
मानव की परख : देवीदयाल सेन ३)
काले बादल : जॉन किन ४)
आग और पानी : तेजबहादुर चौधरी २।)
राग और त्याग : कमल शुक्ल ५)
आधा इन्सान : ख्वाजा अहमद अब्बास २।)
हवेली की ईंटें : श्रीचन्द्र अग्निहोत्री ३॥)
रजनीगन्धा : दयाशंकर मिश्र ३)

कहानियाँ

बंगला की आधुनिक श्रेष्ठ कहानियाँ : मृदुलादेवी ६॥)
पंजाब की कहानियाँ : बलवन्तसिंह ३)
काश्मीर की कहानियाँ : कृष्णचन्द्र ३)
बिखरे मोती : सुभद्राकुमारी चौहान २॥)
चचा छक्कन : इम्तियाज अली ताज १॥)

कविता

नयी कविता : १ : सं० डॉ० जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी २)
वर्षान्त के बादल : 'अंचल' ३)
शेर-ओ-सुखन : भाग २ : अयोध्याप्रसाद गोयलीय ३)
शेर-ओ-सुखन : भाग ३ : ,, ३)
मुकुल : सुभद्राकुमारी चौहान २॥)
प्रभात फेरी : नरेन्द्र शर्मा २)
कामिनी : नरेन्द्र शर्मा १)
कवि भारती : सं० पन्त, नगेन्द्र, राव १५)

विविध

स्वप्नसिद्धि की खोज में : कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ५)
बेनीपुरी ग्रन्थावली : श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी १२॥)
शरत्-निबन्धावली : शरत्चन्द्र चटर्जी १॥)
बदलते दृश्य : राजवल्लभ ओझा ५)
भारतीय कसीदा : जगदीश मित्तल, कमला मित्तल १५)
हिन्दू-विवाह में कन्या-दान का स्थान : सम्पूर्णानन्द १।)
मन की बातें : गुलाबराय ३)
चीनी जनता के बीच : जगदीशचन्द्र जैन ४)
आधुनिक पत्रकार-कला : रा० र० खाडिलकर ३॥)
भारतीय पत्रकार-कला : रौलैण्ड ई० वूल्सले ६)
समाचारपत्रों का इतिहास : अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ६)
दीपदान : डॉ० रामकुमार वर्मा ३)
बृहद् पर्यायवाची कोष : भोलानाथ तिवारी ३)

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली—बम्बई

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

Compiled
1999-2000

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

65, 109, 114,
75, 63, 69, 103

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar